

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा वित्त International Trade and Finance

प्रश्न पत्र-VIII
Paper-VIII

एम.ए. अर्थशास्त्र (उत्तराद्वं)
M.A. Economics (Final)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक-124 001

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system
or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or
otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

Developed & Produced by EXCEL BOOKS PVT. LTD., A-45 Naraina, Phase 1, New Delhi-110028

विषय सूची

अध्याय 1:	अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विशुद्ध सिद्धान्त	5
अध्याय 2:	अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अवसर लागत सिद्धान्त	14
अध्याय 3:	अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त	26
अध्याय 4:	साधन कीमत समानीकरण सिद्धान्त	34
अध्याय 5:	निरपेक्ष लागत तथा तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का प्रयोगात्मक परीक्षण	40
अध्याय 6:	लिंडर का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा का सिद्धान्त	42
अध्याय 7:	क्रेविस का उपलब्धता सिद्धान्त	45
अध्याय 8:	अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उद्गम के कारण माप तथा विकासशील देशों पर इसका प्रभाव	48
अध्याय 9:	अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ	51
अध्याय 10:	गत्यात्मक कारकों का प्रभाव और व्यापार का उद्भव	59
अध्याय 11:	व्यापार की शर्तों की धारणा, उसके प्रयोग और विकासशील देशों की सीमाएं	70
अध्याय 12:	प्रशुल्क के सिद्धान्त	82
अध्याय 13:	अभ्यंश के सिद्धान्त	89
अध्याय 14:	गैर-प्रशुल्क बाधायें और इसके अर्थव्यवस्था पर प्रभाव	95
अध्याय 15:	अपूर्ण प्रतियोगी बाजार के अन्तर्गत व्यापार	103
अध्याय 16:	भुगतान सन्तुलन	106
अध्याय 17:	स्वर्णमान प्रणाली में समायोजन की प्रक्रिया	126
अध्याय 18:	व्यय घटानेवाली तथा व्यय स्थिरीकरण नीतियाँ	131
अध्याय 19:	आन्तरिक तथा बाह्य सन्तुलन प्राप्त करने सम्बन्धी नीतियाँ	134
अध्याय 20:	भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त की तल्लीनता तथा मौद्रिक पद्धतियाँ	137
अध्याय 21:	विदेशी व्यापार तथा राष्ट्रीय आय	142
अध्याय 22:	स्थिर व लचीली विनियम दरें	152
अध्याय 23:	सीमा संघ का सिद्धान्त	155
अध्याय 24:	स्वर्णमान प्रणाली का उदय और पतन	170
अध्याय 25:	ब्रेटन बुड प्रणाली का उदय और पतन	178
अध्याय 26:	अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष और भारत	184
अध्याय 27:	अन्तर्राष्ट्रीय तरलता-अर्थ, पर्याप्ता और निर्धारक	195
अध्याय 28:	नई अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली	203
अध्याय 29:	विश्व व्यापार संगठन	207
अध्याय 30:	भारत की अन्तर्राष्ट्रीय ऋण समस्या	222
अध्याय 31:	वर्तमान में भारत के व्यापार में दिशा और संरचना में परिवर्तन	229
अध्याय 32:	वर्तमान आयात व निर्यात नीतियाँ तथा भविष्य का प्रोग्राम	241

INTERNATIONAL TRADE AND FINANCE
M.A. Economics (Final)
Paper - VIII

M. Marks : 100
Time : 3 Hrs.

Note :

- i) Question paper will consist of two section A and B.
- ii) *Section A will consist of two Compulsory questions spread over the whole of syllabus. The first question will consist of 7 parts and the candidate will be required to attempt 5 parts. Answers will be very short type about 35 words carrying 4 marks to attempt 5 parts . Answers will be very short type about 35 words carrying 4 marks each. The second question will consist of 3 parts and the candidate will be required to attempt 2 parts. Answers will be short type of about 200 words carrying 10 marks each.*
- iii) *Section B of the paper will consist of 6 questions taking two from each unit, and the candidate will be required to attempt 3 questions selecting one form each unit. The answers will be full length essay type carrying 20 marks each.*

UNIT-I

The pure theory of international trade – Theories of absolute advantage, comparative advantage and opportunity costs, modern theory of international trade; Theorem of factor price equalization; Empirical testing of theory of absolute cost and comparative cost – Heckscher – Ohlin theory of trade. Kravis and Linder theory of trade, Role of dynamic factors, i.e., change in tastes, technology and factor endowments in explaining the emergence of trade. The Rybezynski theorem – concept and policy implications of immiserizing growth; Causes of emergence and measurement of intra-industry trade and its impact on developing economies. Measurement of gains from trade and their distribution; Concepts of terms of trade, their was and limitations for less developed countries; Trade as an engine of economic growth; Welfare implication—Empirical evidence and policy issues; The Theory of interventions (Tariffs, Quotas and non-tariff barriers); Economic effects of tariffs and quotas on national income, output, employment, term of trade, income distribution; Balance of payments on trading partners both in partial and general equilibrium analysis. The political economy of non-tariff barriers and their implications; Trade under imperfectly competitive market.

UNIT-II

Meaning an components of balance of payments; Equilibrium and disequilibrium in the balance of payments; The process of adjustment under system of gold standard, fixed exchange rates; Expenditure reducing and expenditure-switching policies and direct controls for adjustment; Policies for achieving internal and external equilibrium simultaneously under alternative exchange rate regimes; A critical review of the Absorption and monetary approaches to the theory of balance payment adjustment; Foreign trade multiplier with and without foreign repercussions and determinations of national income and output; Relative merits and demerits of fixed and flexible exchange rate in the context of growth and development in developing countries. Forms of economic cooperation; Static and Dynamic effects of a custom union and free trade areas.

UNIT-III

International Monetary System and Trade Policies in India

Multilateralism and Wto; Rise and fall of gold standard and Bretton – Woods system; Need, adequacy and determinants of international reserves; of IMF; International Monetary System with special reference to Post and developing countries; Reforms of the International Monetary System, and developing countries; Functions of GATT/WTO (TRIPS, TRIMs); Recent changes in the direction and composition of trade and their implication; Rationale and impact of trade reforms since 1991 on balance of payments, employment and growth, Problems of India's International debt; Working and regulations of MNCs in India; Instrument of export promotion and recent import and export policies and agenda for future.

अध्याय-1

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विशुद्ध सिद्धांत (Pure Theory of International Trade)

Merchantlits विचारकों के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र शक्तिशाली राष्ट्र होना चाहता है। उनके अनुसार राष्ट्र की शक्ति सोने, चौंदी और मुद्रा के संग्रह पर निर्भर करती थी। इसलिए एक राष्ट्र जितना अधिक स्वर्ण व चौंदी एकत्रित कर सकता था, वह उतना ही शक्तिशाली समझा गया। जिस राष्ट्र के पास स्वर्ण व चौंदी की खाने नहीं थी Merchantlist के अनुसार उन राष्ट्रों को विदेशी व्यापार के माध्यम से स्वर्ण व चौंदी एकत्रित करनी चाहिए। विश्व के पास स्वर्ण व चौंदी की मात्रा सीमित होने के कारण यदि कोई राष्ट्र अधिक स्वर्ण चौंदी का संग्रह करता है तो वह दूसरे राष्ट्र के स्वर्ण-चौंदी के भण्डार को कम करके ही ऐसा कर सकता था। किसी राष्ट्र के इस भण्डार में कमी आती है तो वह राष्ट्र कम शक्तिशाली होगा। इसलिए वस्तुओं के निर्यात में व द्विंदिकरके स्वर्ण चौंदी के संग्रह में व द्विंदिकरना वरदान समझा गया। वे विचारक कम से कम आयात के हक में थे क्योंकि आयात से सोना व चौंदी देश से बाहर जाता था इसलिए वे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में संरक्षण (Protection) की नीति का समर्थन करते थे अर्थात् वे अधिक आयात कर लगाने तथा निर्यातों को बढ़ावा देने के हक में थे।

परन्तु एडम स्मिथ (1776) के आगमन से उनका यह भ्रम कि मुद्रा ही धन होता है, दूट गया। एडम स्मिथ के अनुसार वस्तुएँ ही वास्तविक धन होती हैं न कि मुद्रा या स्वर्ण या चौंदी। एडम स्मिथ के अनुसार एक देश का धनाढ़य होना वस्तुओं के उत्पादन पर निर्भर करता है अर्थात् वस्तुओं का उत्पादन जितना अधिक होगा उतना ही एक राष्ट्र धनी होगा तथा जितना उत्पादन कम होगा उतना ही एक राष्ट्र कम धनाढ़य होगा। वस्तुओं के उत्पादन में व द्विंदिकर के लिए एडम स्मिथ ने आर्थिक मामलों में हस्ताक्षेप का विरोध किया तथा Laissez Fair का समर्थन किया। एडम स्मिथ ने संरक्षण की नीति का विरोध करते हुए कहा कि स्वतन्त्र व्यापार से सभी राष्ट्रों को लाभ पहुँच सकता है। Merchantilist की विचारधारा जबकि इसके विपरीत तर्क देती है कि विदेशी व्यापार में एक देश को लाभ दूसरे देश को हानि पहुँचाकर ही हो सकता है। इसलिए एडम स्मिथ ने Merchantilist के सिद्धांत की आलोचना करते हुए अपना Principle of absolute cost advantage प्रस्तुत किया। इसमें सुधार करते हुए रिकार्डों ने Theory of comparative cost advantage का प्रतिपादन किया जिनकी व्याख्या निम्न प्रकार हैं।

मान्यताएँ: व्यापार के परम्परावादी सिद्धांत (एडम स्मिथ रिकार्डों) निम्न पूर्व धारणाओं पर आधारित हैं:

1. श्रम उत्पादन का एकमात्र साधन है।
2. श्रम की सभी इकाईयाँ समरूप हैं।
3. श्रम एक राष्ट्र में पूर्णतया गतिशील होता है परन्तु राष्ट्रों के मध्य पूर्णतया गतिहीन होता है।

4. परिवहन लागतें नहीं होती। अर्थात् वस्तुएँ एक राष्ट्रों (स्थान) से दूसरे राष्ट्र व स्थान तक बिना किसी लागत के लायी व ले जायी जा सकती है।
5. वस्तु व साधन बाजार में पूर्ण स्वतन्त्र प्रतियोगिता होती है।
6. यह 2×2 मॉडल है अर्थात् दो देश व दो वस्तुओं की सहायता से सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है।
7. दोनों राष्ट्रों में उपभोक्ताओं की रुचि स्थिर रहती हैं।
8. तकनीकी प्रगति का अभाव।
9. वस्तुओं का मूल्य वस्तुओं के रूप में ही मापा जाता है।

Principle of absolute Cost Advantage

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन ऐडम स्मिथ ने किया। ऐडम स्मिथ ने अपना निरपेक्ष लागत का सिद्धान्त स्वतन्त्र व्यापार पर आधारित किया। स्वतन्त्र व्यापार के माध्यम से श्रम विभाजन के लाभ सभी राष्ट्रों को प्राप्त होते हैं तथा व्यापार का आकार बढ़ता है। स्वतन्त्र व्यापार के कारण ही भौगोलिक श्रम विभाजन और श्रम के विशिष्टीकरण (Specialization) के लाभ सभी व्यापारिक राष्ट्रों को प्राप्त हो सकते हैं। प्रत्येक राष्ट्र श्रम विभाजन के आधार पर किसी एक ऐसी वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त कर सकता है जिसमें वह दूसरे देश की तुलना में अधिक निरपेक्ष लाभ प्राप्त करता हो।

He says, "It is the maxim of every prudent master of a family never to attempt to make at home what it will cost him more to make than to buy."

अर्थात् प्रत्येक समझदार ग हस्थी का यह नियम है कि वह घर पर किसी वस्तु का उत्पादन करने का प्रयास नहीं करेगा जिसकी लागत उस वस्तु को खरीदने से अधिक पड़ती हो।

यदि एक विदेशी राष्ट्र किसी वस्तु को हमें सर्ती प्रदान कर सकता हो, अपने स्वयं के उत्पादन की तुलना में, तो उस वस्तु को उससे खरीदना लाभकारी होता है और हम किसी ऐसी वस्तु के उत्पादन में साधनों को लगा सकते हैं, जिस वस्तु को हम दूसरे राष्ट्र की अपेक्षा कम लागत पर उत्पादित कर सकते हैं।

एक राष्ट्र के पास प्राकृतिक साधन जो किसी एक वस्तु का उत्पादन अधिक कर सकते हैं, दूसरे की तुलना में, तो ऐसी वस्तु का अन्य राष्ट्रों में उत्पादन करने का प्रयास निरर्थक होगा। इसी सिद्धान्त को सब राष्ट्र अपनाकर भिन्न-2 वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त कर सकते हैं, किर वे वस्तुओं का आयात निर्यात करके लाभ कमा सकते हैं।

ऐडम स्मिथ ने लागत में निरपेक्ष अन्तर के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त का विकास किया। यदि एक राष्ट्र किसी एक वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष लागत लाभ तथा दूसरी वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष लागत हानि का सामना कर रहा होता है तो इससे व्यापार उत्पन्न होगा। प्रत्येक देश उस वस्तु का निर्यात करेगा, जिसके उत्पादन में उसको निरपेक्ष लागत लाभ प्राप्त है और उस वस्तु का आयात करेगा जिसमें उसको निरपेक्ष लागत हानि उठानी पड़ती है। स्वमावतः: एक देश जिस वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष लागत लाभ प्राप्त करता है, उस वस्तु की कीमत, उस देश में दूसरे देश की तुलना में कम होगी। इसलिए ऐसी वस्तु का निर्यात किया जाएगा। इसके विपरीत एक देश जिस वस्तु के उत्पादन ने निरपेक्ष लागत हानि उठाता है वह वस्तु उस देश में दूसरे देश की तुलना में महंगी होगी इसलिए उस वस्तु का आयात किया जाएगा। इस सिद्धान्त की व्याख्या के लिए मान लीजिए भारत व बंगलादेश देश हैं जो Cotton और जूट वस्तुओं का

उत्पादन कर रहे हैं। उत्पादन की इकाई की लागत श्रम इकाईयों में दोनों देशों में दोनों वस्तुओं के लिए मापी गई है जो निम्न तालिका में स्पष्ट की गई है।

Country		Unit cost of Production (Man hours)	
	Cotton	Jute	
India	5	10	
	10	5	

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत में श्रमिक Cotton के उत्पादन में अधिक कार्यकुशल है जबकि बंगलादेश में श्रमिक जूट के उत्पादन में अधिक कार्यकुशल है क्योंकि भारत में श्रम की एक इकाई 0.2 (1/5) cotton की इकाई या 0.1 (1/10) जूट की इकाई उत्पादित की जा सकती है जबकि बंगलादेश में श्रम की एक इकाई Cotton की 0.1 इकाई या जूट की 0.2 इकाई उत्पादित कर सकती है। इसके फलस्वरूप भारत बांगलादेश की अपेक्षा Cotton के उत्पादन में निरपेक्ष लागत लाभ प्राप्त करता है जबकि बंगलादेश भारत की तुलना में जूट के उत्पादन में निरपेक्ष लागत लाभ प्राप्त करता है। Cotton के उत्पादन में भारत की बांगलादेश पर Supirimity Cotton के उत्पादन में उसकी relative factor productivity जूट की अपेक्षा अधिक होने के कारण सिद्ध होती हैं।

$$\text{Relative factor Productivity of India in cotton} = \frac{.2 \text{ Unit of cotton in India}}{.1 \text{ unit of cotton in Bangladesh}}$$

$$\text{India's relative factor productivity in Jute} = \frac{.1 \text{ Unit of Jute in India}}{.2 \text{ Unit of Jute in Bangladesh}}$$

भारत में Cotton तथा Jute की factor productivity के अनुपातों की तुलना करने से ज्ञात होती है कि भारत में श्रमिक Cotton के उत्पादन में Jute के उत्पादन की अपेक्षा अधिक उत्पादक है। इसलिए भारत को Cotton के उत्पादन में विशिष्टीकरण करना चाहिए तथा इसका निर्यात करना चाहिए इसके विपरीत बंगलादेश को जूट के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करना चाहिए और इसका निर्यात करना चाहिए तथा Cotton का आयात करना चाहिए तथा भारत को Jute का आयात करना चाहिए। ऐसा करने से श्रम की 15 इकाईयों से 3 इकाई Cotton तथा 3 इकाई जूट का उत्पादन हो सकता है जबकि इस सिद्धान्त पर न चलने से श्रम की 15 इकाईयों से दोनों देश मिलकर केवल 2 इकाई Cotton तथा 2 इकाई जूट ही उत्पादित कर सकते थे। इसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करने से विशिष्टीकरण तथा श्रम विभाजन के जो अतिरिक्त उत्पादन कर सकने के कारण लाभ प्राप्त होते हैं अर्थात् (एक इकाई Cotton तथा एक इकाई Jute की मात्रा) इसको दोनों देश आपस में बांट सकते हैं। इस प्रकार भौगोलिक श्रम विभाजन के आधार पर विभिन्न देश उन विभिन्न वस्तुओं में विशिष्टीकरण प्राप्त करते हैं जो कि स्वतन्त्र व्यापार से सम्भव होता है इससे दिये हुए साधनों का प्रयोग करके अधिकतम उत्पादन प्रयोग किया जा सकता है।

विशिष्टीकरण के बाद व्यापार करने से दोनों देशों को लाभ होता है। भारत को व्यापार से लाभ होता रहेगा जब तक वह 1 इकाई Cotton के बदले जूट की आधी इकाई से अधिक मात्रा प्राप्त कर सकती है। (क्योंकि भारत में Cotton और Jute की घरेलू विनिमय दर 1 Coton = $\frac{1}{2}$ Jute है) दूसरी तरफ बंगलादेश को लाभ होगा यदि वह व्यापार में 1 Jute के बदले $\frac{1}{2}$ cotton से अधिक इकाईया Cotton को प्राप्त कर सकता हो तो (बंगलादेश में 1 Jute = $\frac{1}{2}$ Cotton घरेलू विनिमय दर है)

स्पष्ट है कि दोनों देशों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सम्भावनाएँ विद्यमान हैं जिससे दोनों देशों को लाभ होगा।

नियार्थित वस्तु का उत्पादन दूसरे देश की तुलना में

एडम स्मिथ का स्पष्ट कथन दोनों देशों में व्यापार के आधार की व्याख्या करता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एडम स्मिथ के अनुसार लागतों में निरपेक्ष अन्तर पर आधारित है परन्तु यह निरपेक्ष लागत के सिद्धान्त से पार नहीं जा सका। अर्थात् एडम स्मिथ के अनुसार एक नियार्थितक देश को श्रम की इकाई से दूसरे देश की तुलना में अधिक उत्पादन लेना चाहिए। अर्थात् नियार्थितक देश दूसरे देश की तुलना में नियार्थित वस्तु के उत्पादन में अवश्य श्रेष्ठ होना चाहिए। परन्तु उस परिस्थिति में क्या होगा जब एक देश दूसरे देश की तुलना में दोनों वस्तुओं के उत्पादन में श्रेष्ठ है - क्या इस परिस्थिति में व्यापार होगा? एडम स्मिथ का निरपेक्ष लागत का सिद्धान्त इस प्रश्न को हल करने में असमर्थ है। इस प्रश्न को हल करने के लिए रिकार्डों ने एडम स्मिथ के सिद्धान्त का विस्तार करते हुए अपने तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त पेश किया। इस दण्डिकोण से एडम स्मिथ का सिद्धान्त एक संकुचित सिद्धान्त माना गया।

Principle of Comparative Cost Advantage

डेविड रिकार्डों ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक, 'The Principle Political Economy and Taxation,' जिसका प्रकाशन 1817 में हुआ में Pure theory of International trade का प्रतिपादन किया था। रिकार्डों का सिद्धान्त तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसकी उत्पादन की श्रम लागत द्वारा निर्धारित होता है।

परन्तु मूल्य निर्धारण का श्रम सिद्धान्त जो एक देश में वस्तुओं का मूल्य निर्धारण करता है वह दो या दो से अधिक देशों में वस्तुओं का विनिमय करते समय उनके सापेक्षिक मूल्य का निर्धारण नहीं करता।

परन्तु मूल्य या श्रम सिद्धान्त जो घरेलू देश में लागू होता है अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में वस्तुओं के विनिमय मूल्य की व्याख्या क्यों नहीं कर सकता? यह विभिन्न देशों के मध्य श्रम की गतिहीनता के कारण है। यदि श्रम राष्ट्रों के मध्य पूर्णतया गतिशील होता तो वस्तुओं का विनिमय उसी अनुपात में होता है जिस अनुपात में उनके उत्पादन में श्रम की इकाईयाँ लगी हुई हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वस्तुओं की उत्पादन लागत अनुपात और विनिमय मांग अनुपात में भिन्नता बाजार की मांग व पूर्ति की शक्ति द्वारा समाप्त हो सकती हैं। यदि साधन पूर्णतया गतिशील हैं।

रिकार्डों के सामने प्रश्न था कि अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय में वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण कैसे होता है? इसकी व्याख्या करने के लिए रिकार्डों ने Comparative Advantage का विकास किया। इस सिद्धान्त के अनुसार एक राष्ट्र उस वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करेगा जिसके तुलनात्मक श्रम लागत कम होगी। इसके अनुसार एक देश उस वस्तु का नियार्थित करेगा जिसके उत्पादन में यह देश Comparative Cost Advantage रखता होगा या दूसरों से श्रेष्ठ होगा और उस वस्तु का आयात करेगा जिसमें इसको Cost Advantage कम से कम होगा या जिसमें यह देश Comparative Disadvantage का सामना करता है। इस प्रकार का विशिष्टीकरण दोनों देशों के लाभ को बढ़ाएगा तथा व्यापार करने से यह लाभ दोनों देशों में बाँटा जा सकता है।

रिकार्डों ने अपने Comparative Cost advantage सिद्धान्त की व्याख्या एक Arithmatic illustration से दी है उसने अपने उदाहरण में इंग्लैण्ड और पुर्तगाल दो देशों को लिया जो wine और cloth दोनों वस्तुओं का उत्पादन स्थिर लागत के सिद्धान्त पर कर रहे हैं। इस सिद्धान्त की निम्न सारणी से व्याख्या की जा सकती हैं।

Country	Unit Cost of Production (Man hours)	
	Cloth	Wine
Portugal	90	80
England	100	120

उपरोक्त उदाहरण में पुर्तगाल इंग्लैड की तुलना में निरपेक्ष लागत लाभ दोनों वस्तुओं में प्राप्त करता है क्योंकि पुर्तगाल में Cloth और Wine दोनों वस्तुओं की एक इकाई उत्पादन करने की श्रम लागत इंग्लैड की अपेक्षा कम है जैसाकि $90 < 100$ और $80 < 120$ है परन्तु पुर्तगाल इंग्लैड से केवल Wine के उत्पादन में तुलनात्मक लागत लाभ प्राप्त किये हुए है। जैसे कि उदाहरण के अनुसार

$\frac{80}{120} < \frac{90}{100}$ दूसरी तरफ इंग्लैण्ड दोनों वस्तुओं के उत्पादन में absolute cost disadvantage रखता है परन्तु इंग्लैड का cloth के उत्पादन में कम comparative cost disadvantage है जैसा कि

$\frac{100}{90} < \frac{120}{80}$ इन परिस्थितियों में यह उन देशों के लिए परस्पर लाभकरी होगा यदि पुर्तगाल wine के production में विशिष्टीकरण प्राप्त करता है। और अपने फालतू उत्पादन से cloth का इंग्लैड से आयात करता है। दूसरे इंग्लैड cloth के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करता है तथा cloth का निर्यात करके पुर्तगाल से wine का आयात करता है।

यदि दोनों देशों के मध्य तुलनात्मक लागत में अन्तर है तो व्यापार से लाभ सम्भव है। पुर्तगाल 90 श्रम की इकाईयों से कपड़े की एक इकाई का उत्पादन कर सकता है और यह देश cloth का आयात ऐसे देश से करता है जहाँ cloth की एक इकाई का उत्पादन 100 इकाईयों से किया जाता है परन्तु ऐसा करना पुर्तगाल के हित में है। इसी प्रकार इंग्लैड के हित में यह है कि वह स्वयं wine का उत्पादन करने की अपेक्षा इसका आयात करें। यदि दोनों देशों का cloth और wine का उत्पादन इस प्रकार किया जाता है कि पुर्तगाल wine में विशिष्टीकरण प्राप्त करता है और इंग्लैड cloth में विशिष्टीकरण प्राप्त करता है तो दोनों वस्तुओं का कुल उत्पादन अधिक होगा जैसा कि निम्न विवरण से स्पष्ट है।

मान लीजिए दोनों देशों में दोनों वस्तुओं का उत्पादन स्थिर लागत नियम के अनुसार होता है। यह भी कल्पना की जा सकती है कि पुर्तगाल में कुल 170 इकाई तथा इंग्लैड में 220 इकाईयां श्रम की हैं। व्यापार से पहले (under autarky) प्रत्येक देश में cloth की एक इकाई तथा wine की एक इकाई का उत्पादन किया जा रहा है तथा दोनों देशों का सामूहिक उत्पादन दो इकाई wine तथा दो इकाई cloth है। अब यदि पुर्तगाल wine के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करता है तो अब अपनी सारी 170 श्रम इकाईयों से wine का ही उत्पादन करेगा। इस प्रकार 2.12 wine की इकाईयों का उत्पादन कर सकता है तथा cloth की शून्य इकाई का उत्पादन करता है।

इसी प्रकार इंग्लैड cloth की 2.2 इकाईयों का उत्पादन करेगा और wine का शून्य उत्पादन कर सकेगा इसके परिणामस्वरूप दोनों देशों का सामूहिक उत्पादन 2.12 wine और 2.2 cloth की इकाई होगा जो कि व्यापार से पहले के 2 इकाई wine और 2 इकाई cloth के उत्पादन से अधिक है।

पुर्तगाल में घरेलू विनिमय दर एक 1 wine इकाई = 0.88 इकाई cloth है जबकि इंग्लैड में घरेलू विनिमय दर

1 unit of wine = 1.2 unit of cloth है।

यदि अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय दर wine की इकाई बराबर एक cloth की इकाई है तो पुर्तगाल wine की एक इकाई का निर्यात करके इंग्लैड से एक इकाई cloth का आयात करता है। तो इसके परिणाम पुर्तगाल को व्यापार से लाभ 0.12 cloth की इकाई होगा क्योंकि वह अपने घरेलू देश में wine की एक इकाई से 0.88 cloth की इकाई खरीद सकती थी। इसी प्रकार इंग्लैड को 0.17 wine की इकाई का लाभ होगा यदि वह cloth का निर्यात करता है तथा wine का आयात करता है तो।

यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पुर्तगाल की धरेलू विनिमय दर पर ($1 \text{ unit of wine} = 0.88 \text{ unit of cloth}$) है तथा व्यापार से उत्पन्न सारा लाभ इंग्लैड को होगा इसके विपरीत यदि व्यापार इंग्लैड की धरेलू विनिमय दर ($1 \text{ unit of wine} = 1.2 \text{ unit of cloth}$) पर होता है तो पुर्तगाल को व्यापार से सारा लाभ प्राप्त होगा। व्यवहार में ऐसा होना कठिन है कि अन्तर्राष्ट्रीय Term of Trade एक देश के घरेलू Term of Trade से मेल खाते हैं वास्तविक विनिमय दर इनके कही बीच में ही स्थापित होती है।

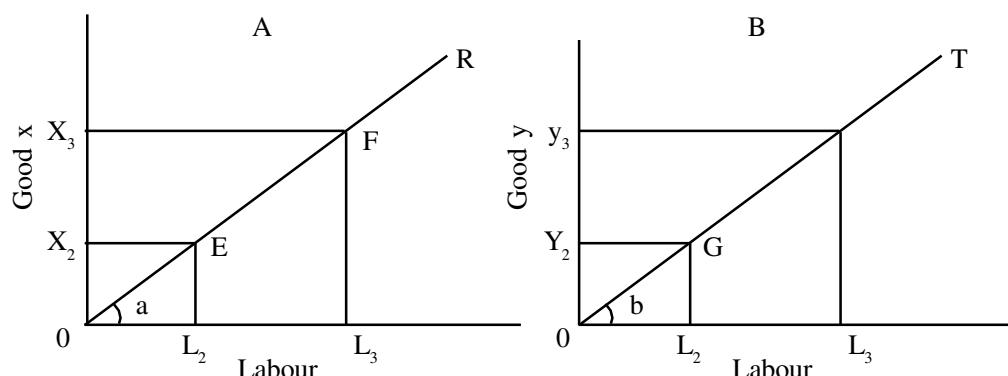
What will be the actual exchange ratio or term of trade at which trade will take place between the two countries? or on what proportion will the total gain from trade be divided between the two countries?

रिकार्डों ने ऐसा विश्लेषण विकसित नहीं किया जो व्यापार से उत्पन्न विभाजन का अध्ययन कर सकें। यह कार्य बाद Jhon Stut Mill ने 1848 में किया। Diagrammatic Representation:

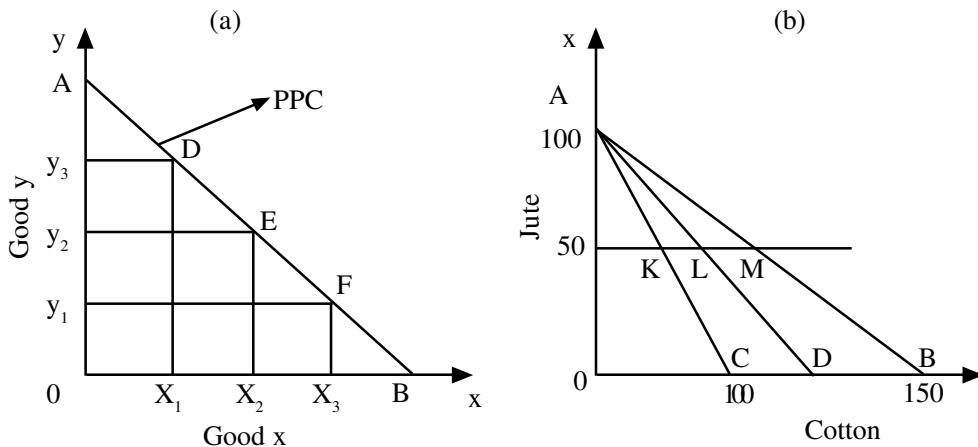
रिकार्डों के सिद्धान्त को निम्न चित्र की सहायता से प्रदर्शित किया जा सकता है।

रिकार्डों और J.S. MILL दोनों ने समान प्रतिफल के नियम की कल्पना की जिससे दोनों वस्तुओं का उत्पादन फलन सरल रेखीय दर्शाया गया है।

निम्न चित्र के भाग में (a) में X वस्तु का उत्पादन और भाग (b) में Y वस्तु का उत्पादन दर्शाया गया है व्यापार से पहले यह देश X और Y दोनों वस्तुओं का उत्पादन करता है। X-axis श्रम की कुल मात्रा का माप करता है जोकि OL_3 स्थिर मात्रा है। यदि श्रम की सारी मात्रा X वस्तु के उत्पादन में लगा दी जाती है तो यह देश उत्पादन की OX_3 की अधिकतम मात्रा का उत्पादन कर सकता है। यदि श्रमिक की सारी मात्रा Y वस्तु के उत्पादन में लगा दी जाती है तो यह देश वस्तु की OY_3 मात्रा का उत्पादन कर सकता है। यदि श्रम की केवल OL_2 मात्रा X वस्तु के उत्पादन में प्रयोग की जाती है तो यह देश X वस्तु का केवल OX_2 मात्रा ही उत्पादित कर सकता है। श्रम की बाकी बची मात्रा $OL_3 - OL_2$ Y वस्तु की केवल OY_2 मात्रा का ही उत्पादन कर सकता है जो OY_3 मात्रा से कम है जिसका उत्पादन किया जा सकता था यदि श्रम की सारी मात्रा OL_3 Y वस्तु के उत्पादन में लगा दी जाती। दोनों वस्तुओं का उत्पादन निम्न Production Functions जो सरल रेखीय (linearly homogeneous) है के द्वारा दर्शाया गया है।



दोनों वस्तुओं के Production Function का ढाल समान नहीं है। यह उन वस्तुओं के उत्पादन में साधन की उत्पादकता में विभिन्नता को दर्शाता है। निम्न चित्र में AB रेखा उत्पादन सम्भवना वक्र को दर्शाया गया है जो X और Y दो वस्तुओं के सम्भावित उत्पादित संयोगों को व्यक्त करता है जिनका OL_3 श्रम की मात्रा से उत्पादन किया जा सकता है। X वस्तु का अधिकतम उत्पादन B बिन्दु द्वारा और Y वस्तु का अधिकतम बिन्दु A द्वारा दर्शाया गया है। इस उत्पादन सम्भावना वक्र का ढाल OA/OB है। इस वक्र पर X और Y के विभिन्न संयोग उत्पादित किये जा सकते हैं इसी प्रकार एक अन्य देश निम्न चित्र B में दर्शाया गया है जिसकी उत्पादन सम्भावना वक्र AC है।



उपरोक्त चित्र से स्पष्ट है कि Jute के उत्पादन में दोनों देशों को जूट की एक इकाई उत्पादित करने के लिए बराबर श्रम की मात्रा चाहिए जबकि श्रम की समान मात्रा भारत में जिसकी उत्पादन सम्भावना रेखा AB है, 50% cotton का अधिक उत्पादन बांग्लादेश की तुलना में कर सकता है। मान लीजिए बांग्लादेश का PPC AC हैं इसलिए स्पष्ट है कि भारत को Cotton के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करना चाहिए तथा Cotton का निर्यात तथा Jute का आयात करना चाहिए। चित्र के (b) भाग में ABC क्षेत्र व्यापार से उत्पादन कुल लाभ की मात्रा को दर्शाता है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वास्तविक Term of Trade Line इस क्षेत्र को दो बराबर भागों में बाँट देती है तो दोनों देशों को व्यापार से बराबर लाभ होगा।

आलोचनाएँ Criticism

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को एक परम्परावादी सिद्धान्त कहा जाता है। यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक प्रसिद्ध तथा स्वीकार्य व्याख्या करता है।

प्रो० सैम्यूअलसन के कथानानुसार

"If theories like girls could win beauty contest, comparative advantage theory would certainly rate high in that. It is an elegantly logical structure."

"यदि लड़कियों की भाँति सिद्धान्त भी सौन्दर्य प्रतियोगिता जीत सकते तो निश्चित ही तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का प्रथम स्थान प्राप्त होगा क्योंकि इसका गठन अत्यन्त तर्कसंगत व सुन्दर है।"

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यह सिद्धान्त आलोचनाओं से स्वतन्त्र है इसको अनेक अर्थशास्त्रियों ने अनेक आलोचनाओं से आलोचित किया है।

रिकार्डों के सिद्धान्त की आलोचनाएँ (Criticisms of Ricardian Theory)

लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि यह सिद्धान्त सभी दृष्टिकोणों से पूर्ण है। आलोचकों ने रिकार्डों के मूल सिद्धान्त की कई आलोचनाएँ की हैं। इनमें से अधिकांश आलोचनाएँ इस सिद्धान्त की अवास्तविक मान्यताओं पर आक्षेप हैं। सिद्धान्त की कुछ आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं—

रिकार्डों की दो देश व दो वस्तुओं की मान्यता इस सिद्धान्त की गम्भीर कमी नहीं कही जा सकती क्योंकि इन मान्यताओं को त्यागकर भी इस सिद्धान्त को आसानी से सत्य साबित किया जा सकता है। ये मान्यताएँ तो रिकार्डों ने केवल अपने सिद्धान्त को सरलरूप में प्रस्तुत करने के लिए मानी थीं।

रिकार्डों के सिद्धान्त में मूल्य श्रम-सिद्धान्त की मान्यता निश्चित ही एक गम्भीर मान्यता है क्योंकि यह वास्तविकता का आवश्यकता से अधिक सरलीकरण कर देती है। मोटे तौर पर मूल्य का श्रम-सिद्धान्त निम्नलिखित मान्यताओं की उपस्थिति में ही सत्य होगा:—

(1) समस्त श्रम समरूप हो, (2) समस्त श्रमिक प्रत्येक धन्धे में कार्यरत हो सकते हों (3) मात्र श्रम ही उत्पादन का गतिशील साधन हो, तथा (4) श्रमिकों के बीच पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा हो।

वास्तविक जगत में इनमें से कुछ मान्यताएँ तो कभी भी प्राप्त नहीं होती हैं तथा कुछ सदैव प्राप्त नहीं होती हैं। अतः अपने सरलतम रूप में मूल्य का श्रम-सिद्धान्त खण्डित हो जाता है।

विशेष रूप से मूल्य का श्रम-सिद्धान्त व्याज के उदय के कारक “समय-तत्त्व” को सम्मिलित करने में असमर्थ है। इस बिन्दु को हम निम्न प्रकार से समझ सकते हैं। यदि व्याज की दर धनात्मक है तो किसी भी वस्तु की औसत लागत व कीमत केवल इसे तैयार करने में लगे श्रम की मात्रा से ही प्रभावित नहीं होती है अपितु इस घटक से भी प्रभावित होगी कि उत्पादन क्रिया में श्रम कितने “समय” तक कार्यरत रहा। उदाहरणार्थ, यदि एक श्रमिक X वस्तु की एक इकाई एक वर्ष में तैयार कर सकता है तथा Y वस्तु की एक इकाई दो वर्षों में, तो X वस्तु की एक इकाई का मूल्य Y वस्तु की आधी इकाई (जैसा कि सरलीकृत मूल्य के श्रम सिद्धान्त के अनुसार होना चाहिए) नहीं होगा बल्कि इससे कम होगा। इसका कारण यह है कि Y वस्तु के उत्पादक को मजदूरी के अतिरिक्त व्याज की लागत भी वाहन करनी होगी। मान लीजिए वर्ष के अन्त में W रूपयों के बराबर मजदूरी का भुगतान किया जाता है तो

$$px = w$$

$$py = [W(1+i) + w]$$

$$px/py = w/[w(1+i) + w] = 1/2 + i < 1/2$$

यहाँ व्याज की दर है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वस्तुओं के मूल्य केवल श्रम लागतों पर ही नहीं बल्कि व्याज की दर पर भी निर्भर करेंगे। मूल्य का श्रम-सिद्धान्त व्याज तत्त्व को सम्मिलित नहीं कर पाता है।

इसके अतिरिक्त यह भी सत्य है कि श्रम-साधन न तो “समरूप” ही होता है तथा न ही मात्र एक उत्पादन का साधन होता है। श्रमिकों के भिन्न “अप्रतियोगी समूह” होते हैं जो कि अन्य धन्धे में शीघ्र व सरलतापूर्वक स्थानान्तरित नहीं हो पाते हैं। उदाहरणार्थ, कृषि क्षेत्र व औद्योगिक क्षेत्र के श्रमिकों

के समूह एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा नहीं कर पाते हैं क्योंकि ये अप्रतियोगी समूह हैं। लेकिन इससे भी गम्भीर आपत्ति यह है कि श्रम ही एक मात्र उत्पत्ति का साधन नहीं होता है। वस्तुओं के उत्पादन में भूमि, श्रम तथा पूँजी के भिन्न संयोगों की आवश्यकता होती है। उदारणार्थ, कृषि पदार्थों के उत्पादन में भूमि साधन तथा मशीनों के उत्पादन में पूँजी साधन की महत्वपूर्ण भूमिकाएँ होती हैं अतः इन वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में क्रमशः भूमि तथा पूँजी साधनों की उपेक्षा करना निश्चय ही उचित विधि नहीं है।

अतः महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि यदि हम मूल्य निर्धारण के श्रम-सिद्धान्त को अवास्तविक मानकर अस्वीकार कर देते हैं तो क्या हमें तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त भी अस्वीकार करना पड़ेगा? सौभाग्यवंश ऐसा नहीं है अर्थात् तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त सत्य बने रहने के लिए अपनी मान्यताओं पर निर्भर नहीं है।

सन् 1936 में हेबरलर ने रिकार्डों के सिद्धान्त को इसके 'मूल्य के श्रम-सिद्धान्त' की अवास्तविक मान्यताओं से मुक्त कर इसका पुनर्कथन किया जिसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में "अवसर लागत सिद्धान्त" के नाम से जाना जाता है।

अध्याय-2

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अवसर लागत सिद्धान्त (Opportunity Cost Theory of International Trade)

प्रो० हैबरलर के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त सामान्य साम्य विश्लेषण (General Equilibrium theory of Value) का ही क भाग है। रिकार्डो का तुलनात्मक लागत सिद्धान्त मूल्य के श्रम सिद्धान्त पर आधारित है जो कि स्वयं ही दोषपूर्ण है। उत्पादन का मात्र साधन श्रम ही नहीं है। इस सम्बन्ध में हैबरलर एक देश में उपलब्ध साधन सम्पत्तियों (factor endowment) की भूमिका को महत्व देते हैं जिनमें एकरूपता (homogeneity) का अभाव पाया जाता है। अतः न तो श्रम ही तुलनात्मक लागतों की मात्रा का उचित पैमाना है और न ही किसी एक सामान्य इकाई (common unit) के रूप में लागतों को मापना उचित है। इसके अतिरिक्त विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में उत्पत्ति के साधन परिवर्तित अनुपातों (variable proportions) में लगाये जाते हैं तथा उत्पत्ति के साधनों में एक सीमा तक विशिष्टता या सीमितता का गुण पाया जाता है अर्थात् अनेक साधनों की पूर्ति कुछ वस्तुओं के उत्पादन में ही सीमित होती है। अतः दो वस्तुओं की तुलनात्मक लागतों और इस प्रकार विनिमय अनुपातों का निर्धारण मात्र उनकी श्रम लागतों के आधार पर करना त्रुटिपूर्ण है। प्रो० हैबरलर ने रिकार्डो के सिद्धान्त की इन त्रुटियों को दूर करने के लिये तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या ‘अवसर लागत’ (opportunity costs) के रूप में की है। अतः अवसर लागत सिद्धान्त रिकार्डो के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के ऊपर एक सुधार है।

अवसर लागत का अर्थ

एक वस्तु की अवसर लागत दूसरी वस्तु की वह मात्रा है जिसका इस वस्तु के उत्पादन के कारण त्याग (sacrifice) किया जाता है।

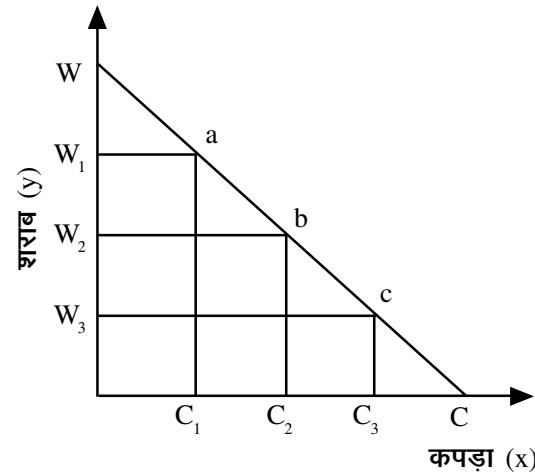
अन्य शब्दों में, एक वस्तु की अवसर लागत दूसरी वस्तु की वह मात्रा है जिसे उत्पत्ति के उन्हीं साधनों के प्रयोग से उत्पन्न किया जा सकता था किन्तु इस वस्तु के उत्पादन के साधनों के प्रयोग के कारण त्यागना पड़ा है। इसीलिये इन्हें त्यागे गये विकल्पों (alternative foregone) की संज्ञा दी जाती है। उदाहरण के लिए Y वस्तु की अवसर लागत X वस्तु की वह मात्रा है जिसे Y वस्तु के स्थान पर उत्पन्न किया जा सकता था, यदि साधन Y वस्तु में न लगकर X वस्तु के उत्पादन में ही लगाये जाते। इस प्रकार किसी वस्तु की अवसर लागत उस वस्तु की वास्तविक लागत (real cost) का ही एक रूप है जिसे हैबरलर ने तुलनात्मक लागत अन्तर को व्यक्त करने के लिये प्रयोग किया है जबकि रिकार्डो ने श्रम लागतों के आधार पर व्यक्त किया था।

अवसर लागत वक्र या उत्पादन सम्भावना वक्र- हैबरलर दो वस्तुओं के मध्य विनिमय अनुपात को अवसर लागत के रूप में व्यक्त करते हैं। अवसर लागत या उत्पादन सम्भावना वक्र के द्वारा प्रदर्शित

किया जाता है। यह अवसर लागत वक्र लागत की तीनों प्रव त्तियों-स्थिर लागतों, घटती हुई लागतों व बढ़ती हुई लागतों के अन्तर्गत प्रदर्शित किया जाता है जबकि रिकार्डों ने विनिमय अनुपातों को श्रम लागतों के आधार पर केवल स्थिर लागतों की दशा के अन्तर्गत ही व्यक्त किया था। (सबसे पहले विभिन्न लागत सिद्धान्त में विभिन्न अवसर लागत वक्र की व्याख्या कर रहे हैं)

(क) स्थिर लागत दशा के अन्तर्गत अवसर लागत वक्र- यदि उत्पादन में स्थिर लागतें प्रचलित हैं तो अवसर लागत वक्र एक सीधी रेखा के आकार में होगा। यह निम्न चित्र से स्पष्ट है-

चित्र में शराब (Y) की इकाइयों Y-अक्ष पर तथा कपड़ा (X) की इकाइयों X-अक्ष पर मापी गयी हैं। WC रेखा उत्पादन सम्भावना वक्र है जिसके विभिन्न बिन्दु a, b, c इत्यादि दोनों वस्तुओं की उन विभिन्न मात्राओं को बताते हैं जिन्हें एक उत्पादक दिये हुए उत्पत्ति के साधनों के प्रयोग से वैकल्पिक रूप से (alternatively) उत्पन्न कर सकता है। यदि समस्त साधन केवल कपड़े (Xवस्तु) के उत्पादन में ही लगा दिया जाय तो



कपड़े की कुल OC मात्रा + शराब की शून्य मात्रा का उत्पादन होगा। इसी प्रकार यदि साधनों को केवल शराब (Y वस्तु) के उत्पादन में ही लगाया जाय तो OW शराब + कपड़े की शून्य मात्रा का उत्पादन होगा। इस प्रकार OW शराब की अवसर लागत OC कपड़े की मात्रा है जिसका कि त्याग करना पड़ा है। इन्हीं उत्पत्ति के साधनों से दोनों वस्तुओं को अन्य वैकल्पिक संयोगों को भी उत्पन्न किया जा सकता है; जैसे OW_1 शराब + OC_1 कपड़ा, OW_2 शराब + OC_2 कपड़ा, OW_3 शराब + OC_3 कपड़ा इत्यादि। इस प्रकार WC अवसर लागत या उत्पादन सम्भावना वक्र है जो बताता है एक वस्तु कितनी मात्रा उत्पन्न करने के लिए, दूसरी वस्तु की कितनी मात्रा के हाथ धोना पड़ेगा। इस वक्र का ढाल उत्पादन में सीमान्त प्रतिस्थापन की दर (marginal rate of substitution) को बताता है, अर्थात् एक वस्तु की अतिरिक्त इकाई के उत्पादन के लिए दूसरी वस्तु को कितनी मात्रा त्यागी जायेगी। इस वक्र को a बिन्दु OC_1 कपड़े की मात्रा + OW_1 शराब की मात्रा बताता है। जब हम a बिन्दु से b बिन्दु पर पहुंचते हैं तो OC_2 कपड़े की मात्रा + OW_2 शराब का उत्पादन होता है। इस प्रकार $C_1 C_2$ अतिरिक्त कपड़ा उत्पादन के बदले $W_1 W_2$ शराब की मात्रा का त्याग करना पड़ता है। इसी प्रकार $C_2 C_3$ अतिरिक्त कपड़ा उत्पादन के लिए $W_2 W_3$ शराब उत्पादन का त्याग करना पड़ता है।

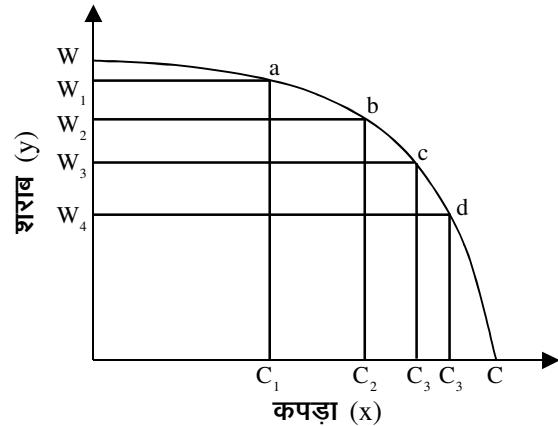
किन्तु $W_1 W_2 = W_2 W_3$ अर्थात् कपड़े की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई का उत्पादन करने के लिए शराब उत्पादन का समान मात्रा में त्याग करना पड़ता है। इस प्रकार अवसर लागत वक्र स्थिर लागत दशाओं को बताता है। व्यापार से पूर्व दोनों वस्तुओं का घरेलू विनिमय अनुपात (अवसर लागत के रूप में) $W_1 W_2$ शराब: कपड़ा है।

(ख) बढ़ती हुई लागत दशाओं के अन्तर्गत अवसर लागत वक्र- हैबरलर कहते हैं कि यदि दोनों वस्तुओं का उत्पादन बढ़ती हुई लागत दशाओं या लागत व द्विनियम के अन्तर्गत हो रहा है तो अवसर लागत वक्र मूल बिन्दु O की ओर नतोदर (concave to the origin O) होगा। वक्र का नतोदर ढाल बताता है कि ज्यों-ज्यों कपड़े के उत्पादन को शराब के उत्पादन से प्रतिस्थापित किया जाता है त्यों-त्यों कपड़े की अवसर लागत शराब के रूप में बढ़ती जाती है अर्थात् कपड़ा

उत्पादन की उत्तरोत्तर इकाइयाँ बढ़ाने पर शराब उत्पादन का बढ़ती हुई दर से त्याग करना पड़ता है अथवा समान मात्रा में शराब उत्पादन घटाने पर घटती हुई दर से कपड़ा उत्पादन बढ़ता है।

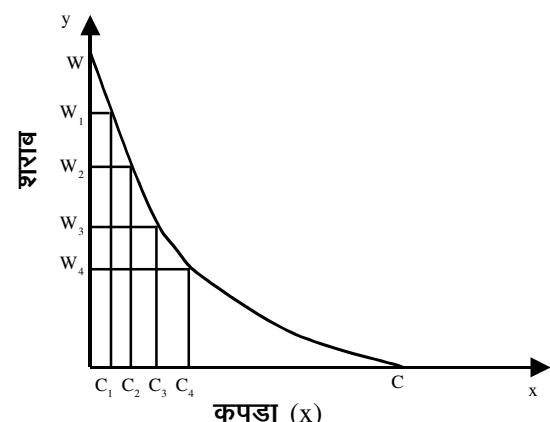
यही तथ्य कपड़े के स्थान पर शराब उत्पादन बढ़ाने के सम्बन्ध में चरितार्थ होता है अर्थात् शराब की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई का उत्पादन करने पर कपड़े के उत्पादन का बढ़ती हुई दर से त्याग करना पड़ता है। चित्र में WC अवसर लगात वक्र है जो कि मूल बिन्दु O की ओर नतोदर है यह कि उत्पादन में बढ़ती हुई सीमान्त प्रतिस्थापन की दर को बताता है। चित्र से स्पष्ट है कि समान मात्रा में

शराब का उत्पादन कम करने पर कपड़े का घटती हुई मात्रा में उत्पादन प्राप्त हो रहा है। शराब की इकाइयाँ $W_1 W_2 = W_2 W_3 = W_3 W_4$ हैं जबकि कपड़े की $C_1 C_2 > C_2 C_3 > C_3 C_4$ इत्यादि। इस प्रकार कपड़े का उत्पादन ज्यों-ज्यों बढ़ाया जाता है त्यों-त्यों शराब के रूप में कपड़े की अवसर लागत बढ़ती जाती हैं। इसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि समान मात्रा में शराब का उत्पादन बढ़ाने पर बढ़ती हुई मात्रा में कपड़े के उत्पादन का त्याग करना पड़ता है। अर्थात् कपड़े के रूप में शराब की अवसर लागत बढ़ती जाती है।



- (g) घटती हुई लागत दशाओं के अन्तर्गत अवसर लागत वक्र- यदि उत्पादन में घटती हुई लागत दशाएँ या लागत ह्रास नियम की स्थिति है तो अवसर लागत वक्र मूल बिन्दु की ओर उन्नतोदर (convex to the origin) होगा अर्थात् वक्र का ढाल ऋणात्मक होता है जो कि उत्पादन में घटती हुई सीमान्त प्रतिस्थापन की दर (diminishing marginal rate of substitution) को बताता है। वक्र का ऋणात्मक ढाल इस बात का प्रतीक है कि ज्यों-ज्यों एक वस्तु का उत्पादन बढ़ाया जाता है त्यों-त्यों दूसरी वस्तु की घटती हुई मात्रा में त्याग करना पड़ता है अर्थात् किसी एक वस्तु का उत्पादन बढ़ाने पर उसकी अवसर लागत घटती जाती है। यह निम्न चित्र से स्पष्ट है-

चित्र में WC अवसर लागत वक्र है। चित्र से स्पष्ट है कि कपड़े का उत्पादन बढ़ती हुई मात्रा में हो रहा है किन्तु उसके प्रतिस्थापन में शराब समान मात्रा में कम हो रही है अथवा शराब का समान मात्रा में उत्पादन बढ़ाने पर कपड़े के उत्पादन का बढ़ती हुई मात्रा में त्याग करना पड़ रहा है। शराब की इकाईयाँ $W_1 W_2 = W_2 W_3 = W_3 W_4$ जबकि कपड़े की इकाईयाँ $C_1 C_2 < C_2 C_3 < C_3 C_4$ इत्यादि। इस प्रकार कपड़े का उत्पादन ज्यों-ज्यों बढ़ाया जाता है त्यों-त्यों शराब के रूप में कपड़े की अवसर लागत घटती जाती है अथवा शराब का उत्पादन ज्यों-ज्यों बढ़ाया जाता है त्यों-त्यों कपड़े के रूप में शराब की उत्पादन लागत घटती जाती है।



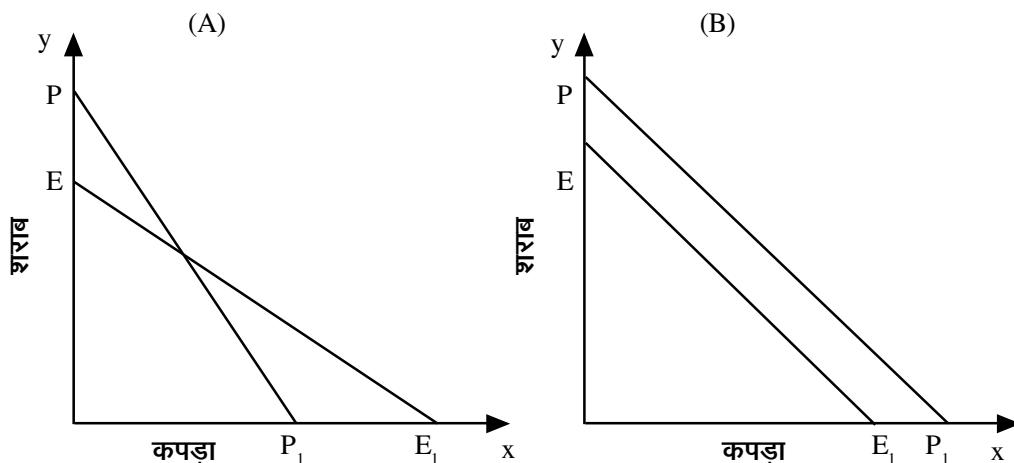
अवसर लागत के आधार पर विभिन्न लागत दशाओं के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

हैबरलर कहते हैं कि आधुनिक मौद्रिक अर्थव्यवस्था में भी वस्तुओं के विनिमय अनुपात वस्तुओं की प्रतिस्थापन लागतों (अवसर लागतों) से निर्धारित होते हैं। यद्यपि में प्रतिस्थापन सम्बन्ध प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष रूप से मुद्रा लागतों के माध्यम से स्थापित होते हैं। वस्तुओं के इन्हीं प्रतिस्थापन सम्बन्धों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात निर्धारित होते हैं।

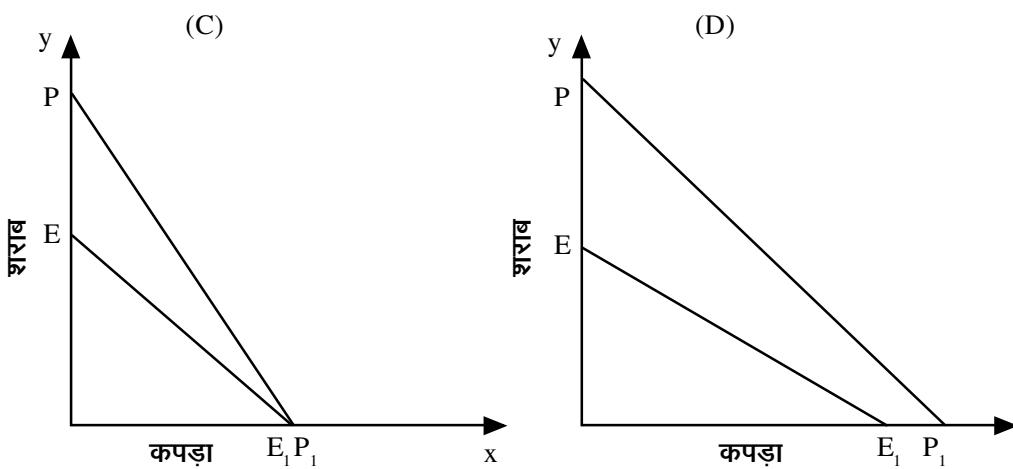
स्थिर लागत दशाओं के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार- यदि दो देशों में दोनों वस्तुओं का उत्पादन स्थिर लागत दशाओं के अन्तर्गत हो रहा है तो दोनों वस्तुओं का अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात दोनों वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतों या अवसर लागत अनुपातों के अनुसार निश्चित होता है। रिकार्डो ने केवल स्थिर लागत दशाओं के अन्तर्गत दोनों वस्तुओं के उत्पादन की मान्यता को लेकर वस्तुओं के श्रम लागत अनुपातों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात निर्धारण का सिद्धान्त प्रस्तुत किया था। हैबरलर श्रम लागत अनुपातों के स्थान पर अवसर लागत अनुपातों को आधार मानते हैं।

स्थिर लागत दशाओं के अन्तर्गत विनिमय अनुपात केवल अवसर लागतों के आधार पर ही निश्चित होता है। क्योंकि दोनों वस्तुओं की माँग की लोच या तीव्रता लागत अनुपात पर कोई प्रभाव नहीं डालती हैं और इसीलिए वस्तुओं के सापेक्षिक मूल्यों को प्रभावित नहीं करती।

व्यापार में लाभ उसी स्थिति में प्राप्त होगा जबकि अवसर लागत वक्रों के ढाल दोनों देशों में भिन्न हो क्योंकि तभी दोनों देशों में लागत अनुपातों में भिन्नता होगी जो कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सापेक्षिक लाभों को बताती हैं। विभिन्न ढाल युक्त अवसर लागत वक्र जो कि लागतों के विभिन्न अन्तरों को स्पष्ट करते हैं निम्न चार चित्रों में प्रदर्शित हैं-



चित्रों में EE' तथा PP' क्रमशः इंगलैंड व पुर्तगाल द्वारा कपड़ा व शराब उत्पादन के लागत अनुपातों को बताते हैं। चित्र A, C व D में अवसर लागत वक्रों के ढाल भिन्न-भिन्न हैं। अतः ये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ की स्थिति को बताते हैं। किन्तु चित्र B में इंगलैंड व पुर्तगाल दोनों देशों के कपड़ा व शराब से सम्बन्धित लागत वक्रों का ढाल समान है जो कि लागतों में समान अन्तर को बताते हैं जिसके कारण व्यापार नहीं होगा क्योंकि व्यापार करने से किसी भी देश को लाभ नहीं होगा।



चित्र (A) में शराब व कपड़े के निर्पेक्ष लागत अन्तरों को प्रदर्शित किया गया है जो कि एडम स्मिथ के व्यापार मॉडल का अवसर लागत वक्रों के द्वारा प्रदर्शन है। पुर्तगाल की अपेक्षा इंगलैण्ड को कपड़े उत्पादन में निर्पेक्ष लाभ हैं जबकि इंगलैण्ड की अपेक्षा पुर्तगाल को शराब उत्पादन में निर्पेक्ष लाभ है। अतः इंगलैण्ड व पुर्तगाल क्रमशः कपड़ा व शराब उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण अपनायेंगे।

चित्र (C) में शराब व कपड़े उत्पादन के तुलनात्मक लागत अन्तरों को प्रदर्शित किया गया है। चित्र से स्पष्ट है यद्यपि पुर्तगाल व इंगलैण्ड दोनों में कपड़े की उत्पादन लागत (अवसर लागत के रूप में) समान है किन्तु पुर्तगाल को शराब उत्पादन में तुलनात्मक लाभ है और इंगलैण्ड को कपड़े उत्पादन में तुलनात्मक लाभ है।

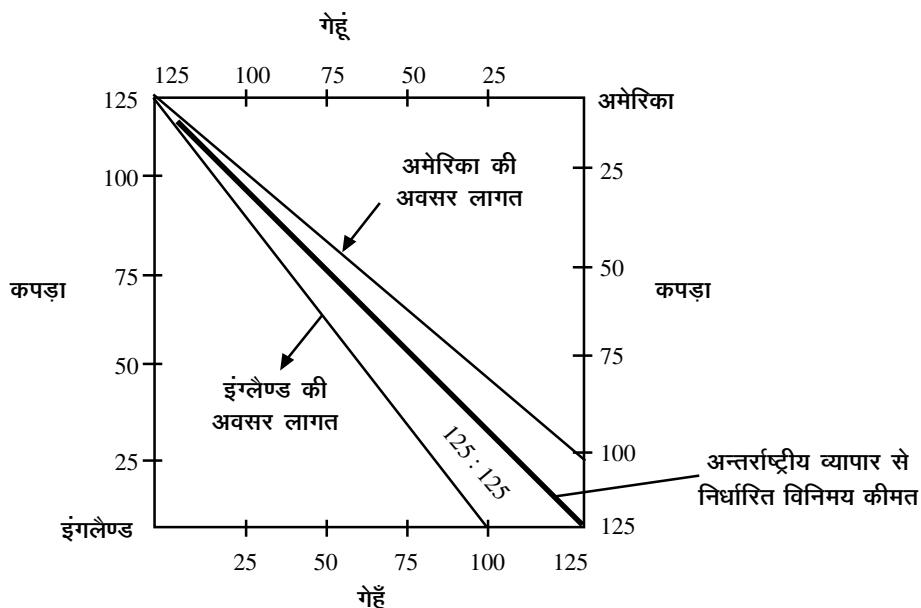
चित्र (D) में भी शराब व कपड़े उत्पादन के तुलनात्मक लागत अन्तरों को बताया गया है। जो कि रिकार्डो के व्यापार मॉडल के अनुसार हैं। स्पष्ट है पुर्तगाल शराब व कपड़ा दोनों ही इंगलैण्ड की तुलना में कम उत्पादन लागत पर उत्पन्न कर सकता है। किन्तु उसे शराब उत्पादन में अधिक तुलनात्मक लाभ है और इंगलैण्ड को कपड़े उत्पादन में कम तुलनात्मक हानि है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से दोनों को लाभ होगा।

रिकार्डो के व्यापार मॉडल का अवसर लागत विश्लेषण

स्थिर लागत दशाओं की मान्यता के अन्तर्गत दो देशों के बीच दो वस्तुओं के अवसर लागतों के रूप में तुलनात्मक लागत अन्तरों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय विनियम अनुपात या व्यापार के लाभों को देखें तो यह रिकार्डो के व्यापार मॉडल (तुलनात्मक लागत सिद्धान्त) का अवसर लागत विश्लेषण होगा।

उदाहरण के लिये इंगलैण्ड व अमेरिका दो देश हैं। इन दोनों में कपड़ा व गेहूँ उत्पादन होता है। अपने साधनों का प्रयोग करते हुए इंगलैण्ड या तो 25 मीटर कपड़ा उत्पन्न कर सकता है अथवा 100 बुशल गेहूँ उत्पन्न कर सकता है अथवा इसी अनुपात में दोनों ही वस्तुयें। इस प्रकार इंगलैण्ड का गेहूँ व कपड़े का अवसर लागत के रूप में आन्तरिक विनियम अनुपात 25 मीटर कपड़ा = 100 बुशल गेहूँ हुआ। इसी प्रकार अमेरिका अपने साधनों से 110 मीटर कपड़ा या 125 बुशल गेहूँ उत्पन्न कर सकता है। अतः अवसर लागत के रूप में अमेरिका का आन्तरिक विनियम अनुपात 110 मीटर कपड़ा = 125 बुशल गेहूँ हुआ। इस प्रकार अमेरिका का गेहूँ उत्पादन में अधिक तुलनात्मक लाभ प्राप्त हो रहे हैं और इंगलैण्ड को कपड़ा उत्पादन में कम तुलनात्मक हानि है। अतः अमेरिका गेहूँ उत्पादन में विशिष्टीकरण अपनायेगा तथा इंगलैण्ड कपड़ा उत्पादन में और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में दोनों को तुलनात्मक लाभ प्राप्त

होंगे। मान लीजिये दोनों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात 1 इकाई गेहूँ = 1 इकाई कपड़ा निश्चित होती है तो दोनों देशों को तुलनात्मक लाभ प्राप्त होंगे। यह बात निम्न चित्र से स्पष्ट है-



उपर्युक्त चित्र से स्पष्ट है कि गेहूँ व कपड़े का विनिमय अनुपात 25 : 25 या 1 : 1 निश्चित होने पर दोनों ही देशों को व्यापार से तुलनात्मक लाभ प्राप्त होते हैं।

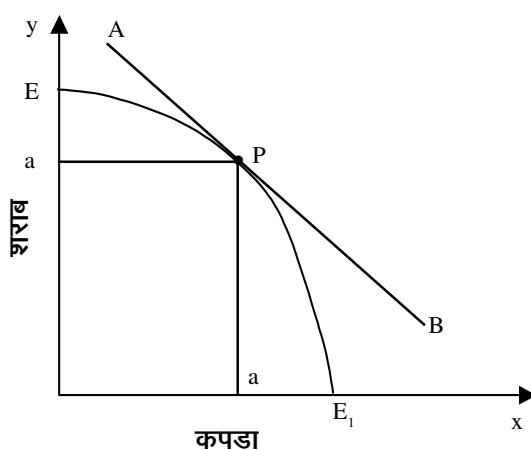
बढ़ती हुई लागत दशाओं में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

स्थिर लागतों की दशा वास्तविक स्थिति नहीं मानी जाती है। वस्तुतः विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन परिवर्तनशील लागतों के अन्तर्गत होता है। क्योंकि साधन पूर्ण प्रतिस्थानीय नहीं होते हैं इसलिए उन्हें विभिन्न अनुपातों में संयोजित किया जाता है।

जब परिवर्तित लागतों के नियम या बढ़ती हुई लागत दशाओं के अन्तर्गत दोनों वस्तुओं का उत्पादन दो देशों में होता है केवल लागत अन्तर ही व्यापार क्षेत्र का निर्धारण नहीं करते बल्कि माँग दशायें भी निर्धारण करती हैं क्योंकि बढ़ती हुई लागत दशाओं में अवसर लागत वक्र प्रारम्भ से लेकर अन्त तक परिवर्तित होता रहता है जो कि दोनों वस्तुओं की सापेक्षिक लागतों की परिवर्तनशीलता को बताता है और इसीलिए दोनों वस्तुओं के सापेक्षिक मूल्यों में परिवर्तन होते हैं। अतः वास्तविक मूल्य अनुपात निर्धारण हेतु माँग दशाओं को भी देखना होगा।

पूर्व व्यापार स्थिति में बढ़ती हुई अवसर लागत दशा में एक देश उस बिन्दु पर संतुलन की स्थिति में होता है जिस पर आन्तरिक मूल्य अनुपात बताने वाली कीमत रेखा तथा अवसर लागत वक्र एक दूसरे को स्पर्श करती हों अर्थात् दोनों के ढाल (Slope) बराबर हों। यह बात चित्र से स्पष्ट है।

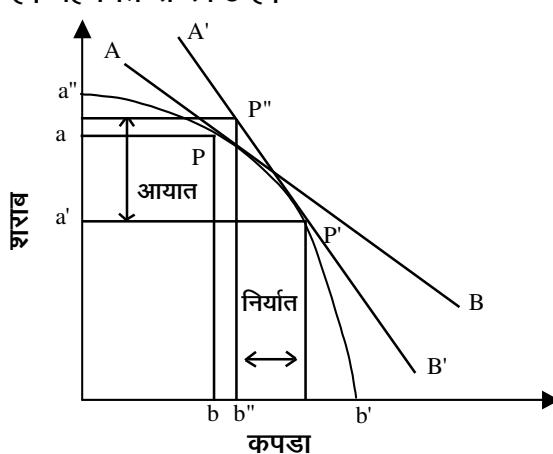
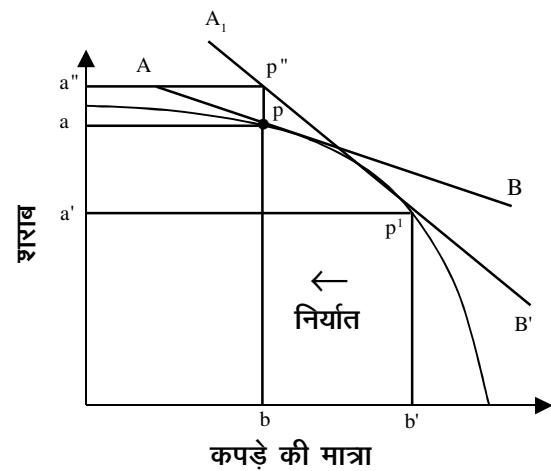
चित्र में EE' इंग्लैण्ड में कपड़ा व गेहूँ का अवसर लागत वक्र है A, B कीमत रेखा है जो इन दोनों वस्तुओं का इंग्लैण्ड में कीमत अनुपात बताती है। अवसर लागत वक्र व कीमत रेखा



परस्पर P बिन्दु पर स्पर्श करती है। अतः इस बिन्दु पर इंगलैंड अपने उत्पादन को अधिकतम कर सकता है इस उत्पादन संतुलन की स्थिति में इंगलैंड Oa गेहूँ + Ob कपड़ा उत्पादन करता है तथा इतना ही उपभोग करता है।

जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है तो वस्तुओं की माँग दशा में परिवर्तन हो जाता है। मान लीजिये इंगलैंड को कपड़ा उत्पादन में तुलनात्मक लाभ है और पुर्तगाल को शराब उत्पादन में। ऐसी स्थिति में इंगलैंड के कपड़े का निर्यात पुर्तगाल को होगा और इंगलैंड के कपड़े की माँग में व द्वितीय जायेगी। अतः इंगलैंड की कपड़े व शराब से सम्बन्धित कीमत रेखा भी परिवर्तित हो जायेगी क्योंकि इंगलैंड में गेहूँ की अपेक्षा कपड़े की कीमत ऊँची हो जायेगी अर्थात् शराब के रूप में कपड़े की कीमत बढ़ जायेगी। फलतः इंगलैंड की कीमत रेखा परिवर्तित होकर अवसर लागत वक्र के निम्न भाग को स्पर्श करेगी। अतः इंगलैंड शराब उत्पादन में कमी करके कपड़े के उत्पादन को बढ़ा देगा तथा अपनी आवश्यकता की शराब पुर्तगाल से आयात कर लेगा। इस प्रकार इंगलैंड अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप कपड़ा व शराब का अधिक मात्रा में उपभोग करने में समर्थ होगा। यह बात चित्र से स्पष्ट है।

व्यापार से पूर्व इंगलैंड में शराब व कपड़े की कीमत रेखा तथा उत्पादन संतुलना वक्र या अवसर लागत वक्र P बिन्दु पर स्पर्श करते हैं। अतः इंगलैंड Oa शराब + Ob कपड़ा उत्पन्न करता है। अब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है तो इंगलैंड कपड़े का निर्यात पुर्तगाल को करता है तथा वहाँ से शराब का आयात करता है। अतः इंगलैंड की कपड़े की माँग बढ़ जायेगी और कीमत अनुपात रेखा परिवर्तित होकर $A'B'$ हो जाती है जो कि अवसर लागत वक्र के नीचे के बिन्दु P' पर स्पर्श करती है। अतः नवीन संतुलन के अनुसार इंगलैंड Oa' शराब + Ob' कपड़ा उत्पादन करता है। इस प्रकार यदि वह कपड़े के उपभोग को व्यापार पूर्व अवस्था के बराबर (Ob) ही रखता है तो bb' बढ़ हुए कपड़ा उत्पादन का पुर्तगाल को निर्यात करके वहाँ से अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में शराब ($a'a''$) आयात कर लेता है। अतः परिवर्तित कीमत रेखा $A'B'$ के P'' बिन्दु पर उसका व्यापारोत्तर उपभोग संतुलन है जो कि व्यापार पूर्व उपभोग संतुलन के बिन्दु P से ऊँचा है अर्थात् ऊँचे संतुष्टि स्तर को बताता है। व्यापार के बाद नवीन कीमत रेखा $A'B'$ के ऐसे बिन्दु पर भी इंगलैंड का उपभोग संतुलन हो सकता है जो कि व्यापार पूर्व की अपेक्षा व्यापार के बाद इंगलैंड में दोनों ही वस्तुओं के उपभोग को अधिक बताता है। यह चित्र से स्पष्ट है।

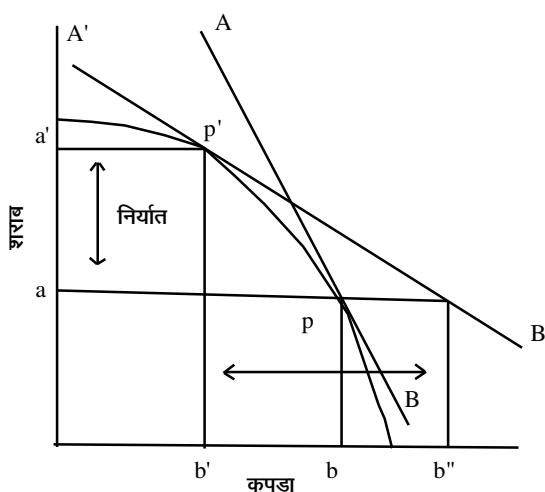


इंगलैंड का व्यापार से पूर्व व बाद में उपभोग उत्पादन अग्र इस प्रकार हैं-

व्यापार से पूर्व	कपड़ा	शराब
उत्पादन	Ob	Oa
उपभोग	Ob	Oa
व्यापार के बाद		
उत्पादन	Ob'	Oa'
उपभोग	Ob"	Ob"
निर्यात	B'b'	-
आयात	-	a'a''

इस प्रकार इंगलैंड व्यापार के बाद कपड़े के उपभोग में bb'' की व द्वितीय शराब के उपभोग में aa'' की व द्वितीय शराब करने में समर्थ है। यह भी उल्लेखनीय है कि इंगलैंड दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन कर रहा है यद्यपि वह कपड़ा उत्पादन में अधिक विशिष्टीकरण अपना लेता है। अतः हम कह सकते हैं कि बढ़ती हुई लागत दशाओं के अन्तर्गत विशिष्टीकरण पूर्व न होकर अपूर्ण ही रहता है।

इंगलैंड की भाँति पुर्तगाल को भी व्यापार पूर्व की अपेक्षा व्यापार के बाद उपभोग सम्बन्धी लाभ प्राप्त होते हैं। वह या तो उतनी ही मात्रा में शराब का उपभोग करते हुए अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में कपड़े का उपभोग करने में समर्थ होता है अथवा व्यापार के बाद दोनों ही वस्तुओं का अपेक्षाकृत अधिक उपभोग करने में समर्थ होता है और इस प्रकार व्यापार से पूर्व की अपेक्षा व्यापार के बाद की अवस्था में अपने सन्तुष्टि स्तर को बढ़ा लेता है। निम्न चित्र में पुर्तगाल की व्यापार के पूर्व और व्यापार के बाद उत्पादन परिवर्तन तथा उपभोग परिवर्तन (जबकि शराब के उपभोग को स्थिर रखते हुए कपड़ा उपभोग को बढ़ा लेता) प्रदर्शित है-

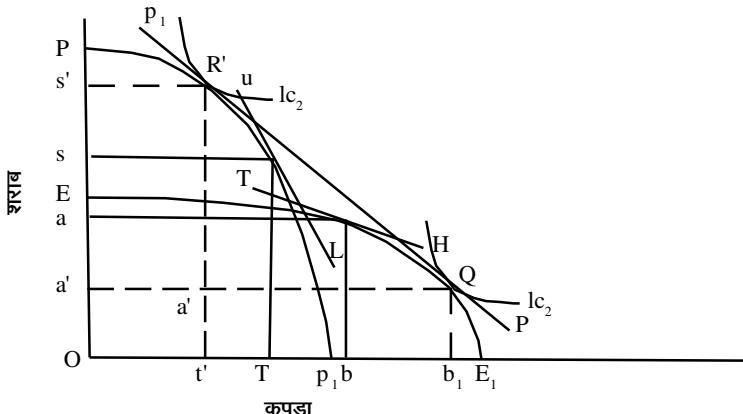


चित्र में PP पुर्तगाल उत्पादन सम्भावना वक्र है। AB व्यापार से पूर्व पुर्तगाल शराब व कपड़े की आन्तरिक कीमत अनुपात रेखा है। P सन्तुलन बिन्दु है। अतः व्यापार से पूर्व पुर्तगाल में Oa शराब + Ob कपड़ा उत्पादन हो रहा है तथा यही दोनों वस्तुओं की उपभोग मात्रा है। व्यापार के बाद शराब का इंगलैंड को निर्यात होता है। अतः शराब की माँग बढ़ जाती है अतः अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात रेखा A'B' हो जाती जो उत्पादन सम्भावना वक्र को P' पर स्पर्श करती है। अतः व्यापार के बाद नया सन्तुलन बिन्दु P' होता है। अब पुर्तगाल का उत्पादन व उपभोग ढाँचे में परिवर्तन हो जाता है जो निम्न विवरण से स्पष्ट है-

I	व्यापार से पूर्व	शराब	कपड़ा
	उत्पादन	Oa	Ob
	उपभोग	Oa	Ob
II	व्यापार के बाद		
	उत्पादन	Oa'	Ob'
	उपभोग	Oa	Ob"
	निर्यात	aa'	-
	आयात	-	b'b"

इस प्रकार पुर्तगाल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बाद अपने शराब उपभोग पूर्व स्तर पर बनाये रखते हुए कपड़ा उपभोग में शुद्ध bb'' की व द्विकर लेता है।

इंगलैण्ड व पुर्तगाल में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उत्पादन, उपभोग तथा आयात-निर्यात सम्बन्धी प्रभावों का अलग-अलग विश्लेषण करने के बाद अब इनका तुलनात्मक परीक्षण सरल हो जाता है। यह तुलना निम्न चित्र से स्पष्ट है-



चित्र में EE' तथा PP' क्रमशः इंगलैण्ड व पुर्तगाल के उत्पादन सम्भावना (अवसर लागत) वक्र हैं जो कि बढ़ती हुई लागत दशाओं के अन्तर्गत शराब व कपड़े उत्पादन की लागतों (अवसर लागतों) के निर्भक अन्तरों को बताते हैं। इंगलैण्ड का उत्पादन साम्य बिन्दु Q है जहाँ कि EE' तथा HL (आन्तरिक कीमत अनुपात रेखा) स्पर्श करते हैं। अतः इंगलैण्ड Oa शराब+ Ob कपड़ा उत्पादन करता है। इसी प्रकार पुर्तगाल का उत्पादन साम्य बिन्दु R है जहाँ PP' तथा उसकी आन्तरिक कीमत अनुपात रेखा uv स्पर्श करते हैं। अतः पुर्तगाल OS शराब+ OT कपड़ा उत्पादन करता है। इस प्रकार इंगलैण्ड में कपड़ा शराब की तुलना में सरता है जबकि पुर्तगाल में शराब कपड़े की तुलना में सरती है। यह व्यापार पूर्व स्थिति है।

जब दोनों देशों में व्यापार होता है तो इंगलैण्ड का कपड़ा पुर्तगाल को निर्यात होगा। परिणामस्वरूप इंगलैण्ड के कपड़े की घरेलू माँग व विदेशी माँग का योग कुल माँग को बढ़ा देगा और इंगलैण्ड के कपड़े की कीमत बढ़ जायेगी। अतः इंगलैण्ड अपने साधनों को कपड़ा उत्पादन में हस्तांतरित करेगा और यह हस्तांतरण उस समय तक होता रहेगा जब तक कि इंगलैण्ड का शराब व कपड़े का अवसर लागत अनुपात दोनों वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात के बराबर न हो जाय। यह सन्तुलन Q' बिन्दु पर होता है जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात रेखा $p'p'$ तथा EE' स्पर्श करते हैं। इसी प्रकार जब पुर्तगाल की शराब का इंगलैण्ड को निर्यात होता है तो पुर्तगाल की शराब की कुल माँग बढ़ जाती है और इसके कारण शराब की कीमत अपेक्षाकृत तरफ बढ़ जाती है। अतः पुर्तगाल कपड़े से साधनों को

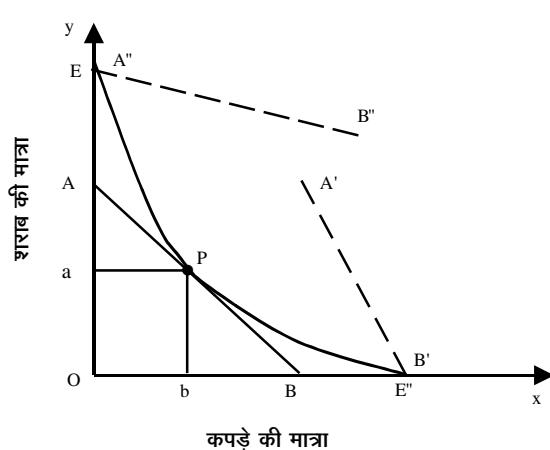
हटाकर शराब उत्पादन में उस सीमा तक स्थानान्तरित करता रहेगा जब तक कि पुर्तगाल का शराब व कपड़े का अवसर लागत अनुपात अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात के बराबर नहीं हो जाता। यह संतुलन R' बिन्दु पर हो रहा है जहाँ PP' तथा $p'p$ स्पर्श करते हैं। इस प्रकार दोनों देशों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बाद Q' व R' नये संतुलन बिन्दु हैं जबकि दोनों के आयात व निर्यात बराबर हैं और पारस्परिक माँग की लोच समान है। संतुलन के इन नवीन बिन्दुओं पर दोनों देशों को उपभोग स्तर या सन्तुष्टि स्तर अपेक्षक त ऊँचा है क्योंकि व्यापार के पूर्व संतुलन बिन्दु नीचे उदासीन वक्रों (Ic_1) को स्पर्श करते हैं जबकि व्यापार के बाद नवीन संतुलन बिन्दु Q' व R' ऊँचे उदासीन वक्रों (Ic_2) को स्पर्श करते हैं। यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का कल्याणवादी प्रभाव है। प्रो० हैबरलर क्षतिपूरक सिद्धान्त के आधार पर इन संतुलन बिन्दुओं को व्यापार पूर्व संतुलन बिन्दुओं से श्रेष्ठ मानते हैं।

चित्र में प्रदर्शित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उत्पादन व उपभोग सम्बन्धी प्रभाव अग्र प्रकार हैं-

	इंगलैण्ड		पुर्तगाल	
	शराब	कपड़ा	शराब	कपड़ा
I	व्यापार से पूर्व			
	उत्पादन Oa	Ob	Os	Ot
	उपभोग Oa	Ob	Os	Ot
II	व्यापार के बाद			
	उत्पादन Oa'	Ob'	Os'	Ot'
	उपभोग Os'	Ot'	Oa'	Ob'
	आयात a's'			t'b'
	निर्यात -	t'b' = GQ'	a's' = GR'	-

(ग) घटती हुई लागतों के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार- प्रो० हैबरलर कहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण जब किसी वस्तु की विदेशों में माँग बढ़ती है तो उत्पादन का पैमाना बढ़ाया जाता है और बड़े पैमाने के उत्पादन की आन्तरिक व बाह्य मिव्ययितायें (Internal & External Economics) प्राप्त होती हैं। परिणामस्वरूप उत्पत्ति व द्विनियम या लागत ह्वास नियम क्रियाशील हो जाता है जिसमें उत्पादन की सीमान्त व औसत लागत घटती चली जाती हैं।

यदि दोनों वस्तुओं के उत्पादन में लागत ह्वास नियम लागू है तो अवसर लागत वक्र जैसा कि पहले लिखा जा चुका है मूल बिन्दु से उन्नतोदर (Convex to the Origin) होता है। ऐसी स्थिति में जहाँ आन्तरिक कीमत अनुपात रेखा तथा दोनों वस्तुओं से सम्बन्धित अवसर लागत वक्र एक दूसरे को स्पर्श करते हैं वहाँ सम्बन्धित देश का उत्पादन संतुलन बिन्दु होता है तदनुसार ही देश दोनों वस्तुओं का विभिन्न मात्राओं में उत्पादन करता है। यह स्थिति चित्र से स्पष्ट है।



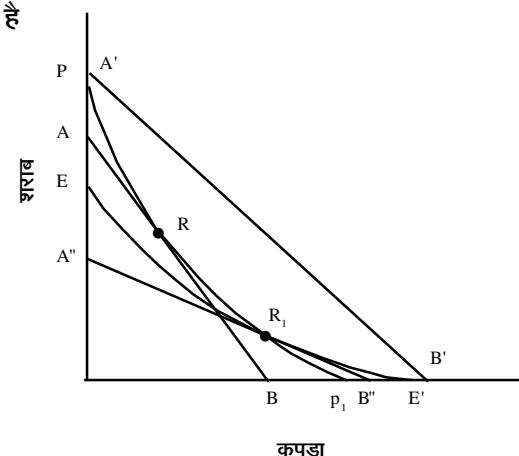
चित्र में स्पष्ट है कि EE' किसी एक देश, माना कि इंगलैण्ड का अवसर लागत वक्र है। इसका त्रिभुजात्मक, ढाल दोनों वस्तुओं के उत्पादन में घटती हुई लागत दशाओं को बताता है। आन्तरिक कीमत अनुपात रेखा AB है जो कि EE' के P बिन्दु पर स्पर्श करती है। यह इंगलैण्ड का उत्पादन संतुलन बिन्दु है। अतः इंगलैण्ड शराब की Oa मात्रा + कपड़े की Ob मात्रा का उत्पादन करता है। किन्तु यह स्थिर संतुलन बिन्दु नहीं है क्योंकि लागत ह्वास नियम लागू है। यदि कपड़े में लागत ह्वास नियम लागू है तो इसका तात्पर्य होगा कि कपड़े का उत्पादन बढ़ाने से उत्पादन की आन्तरिक मितव्ययितायें प्राप्त होंगी अतः कपड़े का उत्पादन Ob न होकर OE' होगा। इस प्रकार समस्त साधन के बदल कपड़े उत्पादन में लगा दिये जायेंगे और शराब का उत्पादन बिल्कुल नहीं होगा। अतः पूर्ण विशिष्टीकरण की स्थिति होगी। किन्तु यदि दोनों ही वस्तुओं के उत्पादन में बड़े पैमाने की मितव्ययितायें प्राप्त हो रही हैं तो संतुलन बिन्दु और दोनों वस्तुओं के उत्पादन का अनुपात अन्तर्राष्ट्रीय कीमत रेखा द्वारा निर्धारित होगा। यदि यह कीमत रेखा पूर्व P बिन्दु पर ही स्पर्श करती है तो Oa शराब + Ob कपड़ा उत्पादन होगा।

उत्पत्ति व द्विनियम या घटती हुई लागतों की स्थिति में यदि वस्तु की अन्तर्राष्ट्रीय माँग में परिवर्तन होता है जिसके फलस्वरूप में अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात भी परिवर्तित हो जाता है तो एक देश वस्तु विशेष में ही विशिष्टीकरण करने की स्थिति में हो जाता है। यदि कपड़े की अन्तर्राष्ट्रीय माँग बढ़ जाती है जिससे कपड़े की कीमत शराब की तुलना में बढ़ जाती है तो अन्तर्राष्ट्रीय कीमत रेखा अपेक्षाकृत ढाल ($A'B'$) हो जाती है और यह अवसर लागत वक्र EE' के E' बिन्दु पर स्पर्श करती है जो इस बात का प्रतीक है कि इंगलैण्ड कपड़ा उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण अपना लेगा अर्थात् समस्त साधन कपड़ा उत्पादन में लगायेगा और शराब का बिल्कुल उत्पादन नहीं करेगा। चित्र के अनुसार वह OE' कपड़ा उत्पादन करेगा। इसके विपरीत यदि माँग में परिवर्तन के कारण शराब की कीमत कपड़े की तुलना में ऊँची हो जाती है तो अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात परिवर्तित हो जायेगा और अन्तर्राष्ट्रीय कीमत रेखा जैसा कि चित्र में प्रदर्शित है अपेक्षाकृत चपटी ($A''B''$) हो जाती है और यह EE' के E बिन्दु पर स्पर्श करती है जो इस बात का प्रतीक है कि इंगलैण्ड शराब उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण अपनायेगा अर्थात् समस्त साधन शराब उत्पादन में लगायेगा और कपड़ा उत्पादन बिल्कुल नहीं करेगा। चित्र के अनुसार वह OE शराब उत्पादन करेगा।

यदि दोनों देशों (हमारे उदाहरण के अनुसार इंगलैण्ड व पुर्तगाल) में दोनों वस्तुओं का उत्पादन उत्पत्ति व द्विनियम या घटती हुई लागतों के अन्तर्गत हो रहा है तो प्रत्येक अपनी वस्तु के उत्पादन क्षेत्र में पूर्ण विशिष्टीकरण अपनाने में समर्थ होंगे।

चित्र से स्पष्ट है कि अवसर लागत अनुपात पर आधारित पुर्तगाल की शराब व कपड़े की आन्तरिक कीमत अनुपात रेखा AB तथा इंगलैण्ड में आन्तरिक कीमत अनुपात रेखा $A''B''$ के ढाल बताते हैं कि पुर्तगाल को शराब उत्पादन में तुलनात्मक लाभ है

तथा इंगलैण्ड को कपड़ा उत्पादन में तुलनात्मक लाभ है। इस प्रकार जब पुर्तगाल शराब का निर्यात करता है तथा इंगलैण्ड कपड़े का निर्यात करता है तो पुर्तगाल में शराब की कीमत अपेक्षाकृत ऊँची हो जाती है। अतः दोनों देशों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कीमत रेखा (या व्यापार शर्तें) $A'B'$ निर्धारित होती है जो पुर्तगाल के अवसर लागत वक्र PP' के बिन्दु पर स्पर्श (tangent) करती है क्योंकि उत्पादन में लागत ह्वास नियम लागू है। अतः व्यापार के बाद पुर्तगाल का उत्पादन संतुलन



बिन्दु P हो जाता है जबकि व्यापार पूर्व संतुलन बिन्दु R था। इस प्रकार पुर्तगाल P बिन्दु पर शराब के उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण कर लेता है अर्थात् शराब की OP मात्रा+कपड़े की 0 (शून्य) मात्रा का उत्पादन करता है। इसी प्रकार A'B' अन्तर्राष्ट्रीय कीमत रेखा इंगलैण्ड के EE' अवसर लागत वक्र को E' बिन्दु पर स्पर्श करती है। अतः व्यापार के बाद इंगलैण्ड का उत्पादन संतुलन बिन्दु E' हो जाता है जबकि व्यापार पूर्व संतुलन बिन्दु R' था। अतः इंगलैण्ड संतुलन बिन्दु E' पर कपड़ा उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण अपना लेता है अर्थात् कपड़ा की OE' मात्रा+शराब की 0 मात्रा का उत्पादन करता है। अतः इंगलैण्ड कपड़ा का निर्यात करके तथा पुर्तगाल शराब का निर्यात करके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ प्राप्त करते हैं।

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि लागतों के तुलनात्मक अन्तर जो कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को जन्म देते हैं केवल साधन सम्पत्तियों (factor endowments) की भिन्नता के कारण ही उत्पन्न नहीं होते बल्कि लागत हास नियम की क्रियाशीलता के कारण दो देशों में विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण के कारण भी उत्पन्न होते हैं। अतः किण्डलबर्जर का यह कथन सत्य है कि दो देशों में एक रूप साधन सम्पत्ति होते हुए भी उत्पत्ति व द्विनियम तथा एक वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण से उत्पन्न लागतों के तुलनात्मक अन्तरों के कारण भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्भव है।

अवसर लागत सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन (Critical Evaluation of the Opportunity Cost Theory)

प्रो० हैबरलर का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अवसर लागत मॉडल रिकार्डों के तुलनात्मक सिद्धान्त के ऊपर एक सुधार है। साथ ही यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक सिद्धान्त से भी नाता जोड़ लेता है। सिद्धान्त के मुख्य गुण निम्न हैं-

- (1) सिद्धान्त में वस्तुओं की श्रम लागत के स्थान पर अवसर लागत व्याख्या मूल्य के दोषपूर्ण श्रम सिद्धान्त का परित्याग कर देती है तथा विश्लेषण को अधिक यथार्थपूर्ण वैज्ञानिक बना देती है।
- (2) यह सिद्धान्त रिकार्डों के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त, जो कि केवल स्थिर लागतों की मान्यता पर आधारित है, की सत्यता को लागत व द्विनियम व लागत हास नियम में भी सिद्ध कर देता है।
- (3) यह सिद्धान्त ओहलिन द्वारा प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के 'सामान्य साम्य सिद्धान्त' को सरल रूप में प्रस्तुत करता है। प्रो० हैबरलर के अनुसार दो देशों के बीच व्यापार का कारण अवसर लागत वक्रों या उत्पादन सम्भावना वक्रों की भिन्नता है। प्रो० ओहलिन ने यही तथ्य 'साधन सम्पत्तियों की भिन्नता' (differences in factor endowment) के माध्यम से स्पष्ट किया है।
- (4) अन्त में, सिद्धान्त यह सिद्ध करता है कि तुलनात्मक लागत अन्तर केवल साधन सम्पत्तियों की भिन्नता के कारण ही नहीं होते बल्कि लागत हास नियम के कारण भी उत्पन्न होते हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह अर्थ लगाना भ्रमपूर्ण होगा कि हैबरलर का व्यापार मॉडल दोष मुक्त है। आधुनिक कल्याणवादी अर्थशास्त्री इस मॉडल की आलोचना करते हैं।

इस सम्बन्ध में पहली आलोचना तो उनके व्यापार पूर्व संतुलन बिन्दु व व्यापार पश्चात् संतुलन बिन्दु की श्रेष्ठता से सम्बन्धित है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है। प्रो० हैबरलर क्षतिपूरक सिद्धान्त के

आधार पर व्यापार पश्चात् के संतुलन को व्यापार पूर्व संतुलन से श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं। यहाँ पर व्यापार पश्चात् के उस संतुलन को लिया जा रहा है जहाँ एक देश में दोनों वस्तुओं के उपभोग की बढ़ी हुई मात्रा को प्रदर्शित करता है। चित्र में यह संतुलन बिन्दु P" है जो अन्तर्राष्ट्रीय कीमत रेखा A'B' पर स्थित है। किन्तु आधुनिक कल्याणवादी अर्थशास्त्रियों के अनुसार यह अधिकतम या अनुकूलतम कल्याण बिन्दु नहीं हैं क्योंकि इस पर अनुकूलतम कल्याण की प्रो० परेटो द्वारा बतायी गयी शर्तें पूरी नहीं हो रही हैं क्योंकि अनुकूलतम कल्याण उस स्थिति में होता है जबकि 'एक वस्तु के उपभोग की मात्रा में उस समय तक व द्विं सम्भव न हो जब तक कि दूसरी वस्तु के उपभोग की मात्रा में कमी न की जाए।' यदि A'B' कीमत रेखा पर P" बिन्दु से बाँयी ओर चला जाय तो व्यापार पूर्व की अपेक्षा कपड़े की मात्रा में कमी किये बिना शराब के उपभोग में व द्विं सम्भव है। ऐसा संतुलन बिन्दु चित्र में A'B' कीमत रेखा पर P" बिन्दु है क्योंकि इसके बाद शराब के उपभोग में तभी व द्विं होगी जबकि कपड़े का उपभोग व्यापार पूर्व की अवस्था से कम कर लिया जाय। प्रो० हैबरलर के सिद्धान्त के सम्बन्ध में दूसरी आलोचना यह की जाती है कि वह एक देश की व्यापार शर्तों को दिया हुआ मानकर अपना सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। सामान्य स्थिति में व्यापार शर्तें दी हुई नहीं होती बल्कि सदैव परिवर्तित होती रहती हैं।

अध्याय-3

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त (Modern Theory of International Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त (Modern Theory of International Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मुख्य कारण दो देशों के बीच वस्तुओं की सापेक्ष कीमतों में पायी जाने वाली भिन्नता है। इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तुओं की कीमतों में भिन्नता का कारण दो देशों में पायी जाने वाली साधनों की भिन्नता होती है। हैक्सर-ओहलिन सिद्धान्त यह भी बताता है कि साधन पूर्तियों की सापेक्ष उपलब्धता के मुख्य निर्धारक तत्व उत्पादन, विशिष्टीकरण तथा व्यापार का ढांचा आदि होते हैं। इस कारण कुछ देशों में पूँजी का अधिक्य होता है तो दूसरे देशों में श्रम का आधिक्य होता है। ऐसी दशा में पूँजी प्रचुर देश में पूँजीगत वस्तुयें सस्ती होंगी और इसके विपरीत श्रम-प्रचुर देश में श्रमगत वस्तुयें सस्ती होंगी। ओहलिन के अनुसार अतः पूँजी प्रचुर देश को पूँजीगत वस्तुओं का निर्यात करना चाहिए और श्रम प्रचुर देश को श्रमगत वस्तुओं का निर्यात करना चाहिये।

इस सिद्धान्त के अनुसार दो देशों के मध्य साधन सम्पन्नताओं के अन्तरों के परिणामस्वरूप साधनों की सापेक्ष मांग तथा पूर्ति में अन्तरों (साधन कीमतों) द्वारा सापेक्ष वस्तु कीमतों का अन्तर ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रमुख कारण है। सरल शब्दों में, उत्पत्ति के साधनों की कीमतों में सापेक्ष अन्तर होता है अर्थात् एक देश में कुछ साधन प्रचुर मात्रा में होते हैं और दूसरे देश में वही साधन कम मात्रा में होता है। इसलिए एक देश उन वस्तुओं का विशिष्टीकरण एवं निर्यात करेगा जिनके उत्पादन में सापेक्ष रूप में उन साधनों की अधिक आवश्यकता होती है, जबकि उन साधनों की उस देश में प्रचुर मात्रा है। इस प्रकार वे वस्तुएं उस देश के लिए सापेक्षिक रूप से सस्ती होंगी।

सिद्धान्त की मान्यतायें

(Assumptions of Theory)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का हैक्सर-ओहलिन सिद्धान्त निम्न मान्यताओं पर आधारित है-

- (1) यह सिद्धान्त द्वि मॉडल पर आधारित है, जिसमें दो देश, दो वस्तुओं एवं दो साधन सम्मिलित होते हैं।
- (2) वस्तु बाजार एवं साधन बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता पायी जाती है।
- (3) प्रत्येक देश में उत्पत्ति के साधन गतिशील हैं किन्तु दो देशों के मध्य साधन गतिशीलता की अनुपस्थिति होती है।
- (4) दो देशों में साधन प्रचुरता में भिन्नता है किन्तु गुणात्मक (Qualitatively) रूप से साधन समरूप होते हैं।

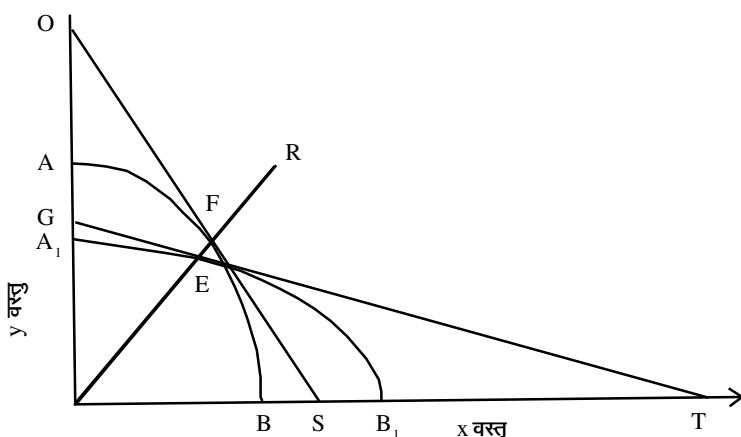
- (5) दोनों देशों में विभिन्न वस्तुओं की उत्पादन फलन (Production Function) भिन्न होती है किन्तु एक वस्तु का उत्पादन फलन दोनों देशों में समान होती है।
- (6) दोनों देशों में उत्पादन स्थिर लागत नियम (Law of Constant Cost) के अन्तर्गत होता है।
- (7) साधन गहनतार्थे बदली जा सकती हैं।
- (8) दोनों देशों के उपभोक्ताओं का अधिमान (Consumer's Preference) समान है।
- (9) दोनों देशों के मध्य मुक्त व्यापार की स्थिति होती है।
- (10) तकनीकी ज्ञान में कोई परिवर्तन नहीं होता है।
- (11) दो देशों के बीच यातायात लागत अनुपस्थित होती है।
- (12) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केवल वस्तुओं का ही सम्भव है।

सिद्धान्त का स्पष्टीकरण- हैक्सर-ओहलिन सिद्धान्त में साधन प्रचुरता का अर्थ दो रूप में लिया जाता है- (i) भौतिक मापदण्ड (Physical Criterion) तथा (ii) मूल्य मापदण्ड (Price Criterion)।

- (1) **भौतिक मापदण्ड (Physical Criterion)-** हैक्सर-ओहलिन सिद्धान्त के अनुसार एक देश सापेक्ष रूप से उस समय पूँजी प्रधान होता है, जबकि उस देश में दूसरे देश की तुलना में श्रम की अपेक्षा पूँजी का अनुपात अधिक होता है, भले ही इस देश में श्रम की तुलना में पूँजी कीमतों का अनुपात दूसरे देश की अपेक्षा कम या अधिक हो। इस मापदण्ड के आधार पर A देश B देश के सापेक्ष में पूँजी प्रधान होगा जबकि-

$$\frac{K_A}{L_A} > \frac{K_B}{L_B} \text{ होगा। यहां } K = \text{पूँजी}, L = \text{श्रम की मात्रा} \text{ को दर्शाते हैं।}$$

इस दस्तिकोण को निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है-



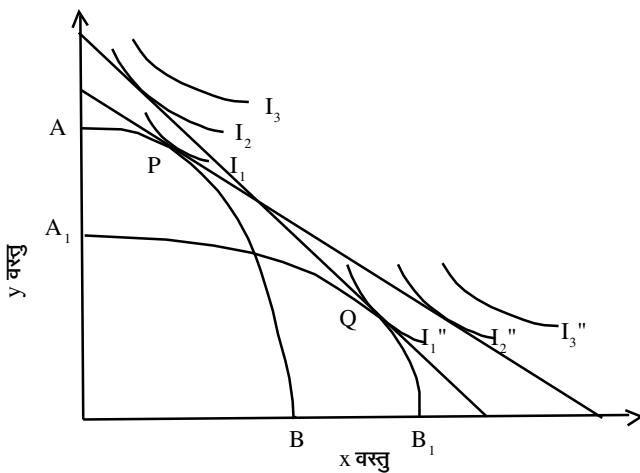
प्रस्तुत रेखाचित्र में AB तथा A_1B_1 क्रमशः A देश तथा B देश के उत्पादन सम्भावना वक्र हैं माना X वस्तु तुलनात्मक रूप से श्रम प्रधान तथा Y वस्तु तुलनात्मक रूप से पूँजी प्रधान हैं। इसके साथ यह भी मान लेते हैं कि A पूँजी प्रधान देश है तथा B श्रम प्रधान देश है। यदि दोनों देश समान अनुपात में ही उत्पादन करते हैं तो वे OR किरण के साथ उत्पादन करेंगे। A देश अपने उत्पादक वक्र पर F बिन्दु पर तथा B देश अपने उत्पादक वक्र पर E बिन्दु पर उत्पादक करेंगे। इस दशा में A देश तथा B देश के लिए कीमत रेखा क्रमशः OS तथा GT होगी। विवेचन से स्पष्ट है कि A देश Y-वस्तु का उत्पादन करेगा, क्योंकि यहां B देश के सापेक्ष में A देश में Y-वस्तु की मात्रा अधिक उत्पादित होती है। इसी प्रकार B देश X-वस्तु

का उत्पादन करेगा, क्योंकि B देश सापेक्ष रूप में Y-वस्तु की मात्रा का अधिक उत्पादन कर सकता है।

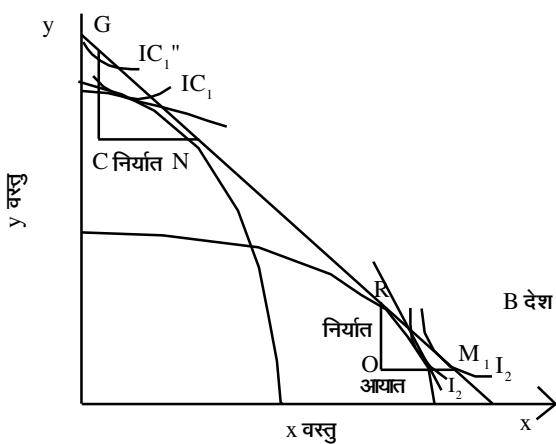
इसी प्रकार स्पष्ट है कि श्रम प्रधान देश श्रमगत वस्तु तथा पूँजी प्रधान देश पूँजीगत वस्तुओं का उत्पादन करके परस्पर निर्यात करें।

किन्तु इससे यह कदापि निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि A देश Y वस्तु तथा B देश X वस्तु का ही निर्यात करेगा। यह सम्भव है कि दोनों देशों की उपभोग प्रवृत्ति ऐसी हो कि यह प्रभावहीन हो जाये। मांग की दशायें व्यापार की दिशा में परिवर्तन कर सकती हैं।

निम्न रेखाचित्र में उत्पादन सम्भावना वक्र वैसे ही है। अन्तर यह है कि प्रस्तुत रेखाचित्र में मांग की दशायें दर्शायी गयी हैं। A देश की उपभोग प्रवृत्ति को I_1, I_1, I_2 , आदि तटस्थिता वक्रों से



दर्शाया गया है जबकि B देश की उपभोग प्रवृत्ति को I_1'', I_1', I_1''' आदि तटस्थिता वक्रों द्वारा दर्शाया गया है। रेखाचित्र में स्पष्ट है कि Y वस्तु A देश में तथा X-वस्तु B देश में मंहगी है। देश A में ON X-वस्तु का विनिमय केवल OGX-वस्तु से होता है। इसके विपरीत B देश में OM X-वस्तु का ($OM < ON$) विनिमय OR ($OR > OG$) Y-वस्तु से होता है। इस स्थिति में दोनों देशों के मध्य व्यापार सम्भव नहीं है।



मांग में प्रतिलोमता व्यापार की दिशा में उल्टी कर देती है। इस प्रकार की स्थिति को उपरोक्त रेखाचित्र में दर्शाया गया है। चित्र से स्पष्ट है कि मांग में प्रतिलोमता के कारण A देश जो पूँजी प्रधान है, वह पूँजी गहन Y-वस्तु के निर्यात की अपेक्षा आयात करेगा। इसी प्रकार B-देश जो श्रम प्रधान है, वह श्रम गहन X-वस्तु का निर्यात करके आयात करेगा।

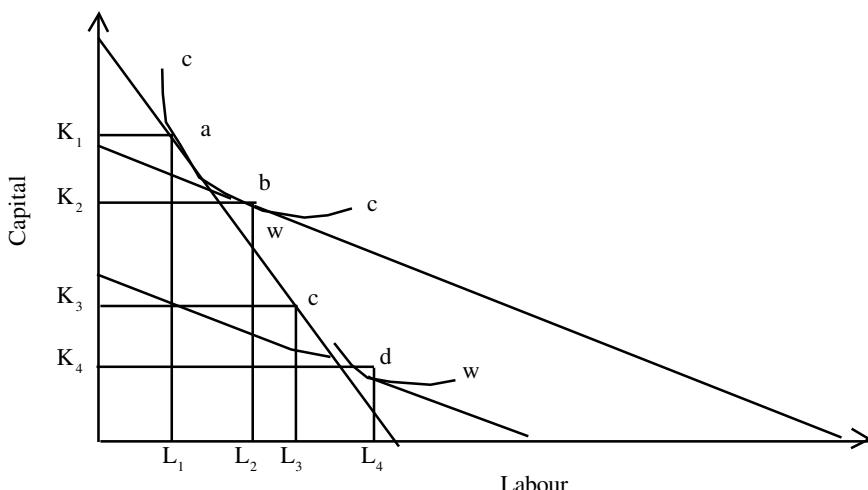
इस प्रकार हैक्सर-ओहलिन सिद्धान्त का भौतिक मापदण्ड तभी सच है जबकि दोनों देशों में उपभोक्ताओं की पसन्द समान है तथा मांग की लोच इकाई के बराबर हो।

- (2) **मूल्य मापदण्ड (Price Criterion)-** इस सिद्धान्त के अनुसार एक देश पूँजी प्रधान उस अवस्था में होगा जब उस देश में पूँजी सापेक्ष रूप में सस्ती होती है और श्रम सापेक्ष रूप में महंगा होता है, भले ही उस देश में श्रम की इकाइयां पूँजी की अपेक्षा अधिक या कम हों।

गणितीय रूप में A देश पूँजी प्रधान देश होगा जबकि $\frac{P_K}{P_L}_A > \frac{P_K}{P_L}_B$ होता है। यहां $(P_K/P_L)_A = A$

देश का पूँजी श्रम कीमत अनुपात तथा देश के पूँजी श्रम कीमत अनुपात को दर्शाते हैं।

माना A-देश पूँजी प्रधान है तथा B-देश श्रम प्रधान है। कपड़ा तथा गेहूँ दो वस्तुयें हैं जो क्रमशः पूँजीगहन एवं श्रम-गहन वस्तुयें हैं। प्रस्तुत रेखाचित्र में X-अक्ष पर श्रम की इकाइयां एवं Y-अक्ष पर पूँजी की इकाइयां मापी गई हैं। रेखाचित्र में CC तथा WW क्रमशः कपड़ा तथा गेहूँ के समोत्पादक वक्र हैं।



माना A-देश की साधन कीमत रेखा AB है जो CC समोत्पादक वक्र को a बिन्दु पर तथा WW समोत्पादक वक्र को C बिन्दु पर स्पर्श करती है। CC समोत्पादक वक्र का a सन्तुलन बिन्दु है जो यह दर्शाता है कि कपड़े की एक इकाई उत्पादन करने के लिए OK_1 पूँजी तथा OL_1 श्रम की इकाइयों की आवश्यकता होगी। यदि श्रम को पूँजी में बदलते कपड़े की एक इकाई उत्पादन करने के लिए OA पूँजी की आवश्यकता होगी तो ऐसी दशा में उसे OL_1 श्रम के लिए AK_1 पूँजी देनी होगी। यदि A देश कपड़े की अपेक्षा गेहूँ उत्पादित करना चाहेगा तो उसे c बिन्दु पर सन्तुलन प्राप्त होगा जो यह दर्शाता है कि A-देश यदि गेहूँ की एक इकाई उत्पादन करना चाहेगा तो उसे OK_3 पूँजी तथा OL_3 श्रम की आवश्यकता होगी। चूंकि A-देश पूँजी प्रधान है, ऐसी दशा में वह श्रम का मूल्य पूँजी में चुकाना चाहेगा। अतः OL_3 श्रम के बदले उसे AK_3 पूँजी चुकानी होगी। इस प्रकार विवेचन से स्पष्ट है कि A-देश यदि कपड़े की अपेक्षा गेहूँ का उत्पादन करना चाहेगा तो उसे महंगा पड़ेगा जबकि गेहूँ की अपेक्षा कपड़े का उत्पादन करना सस्ता पड़ेगा।

अब मान लीजिए B-देश कपड़े का उत्पादन करता है तो उसकी साधन कीमत रेखा A_1B_1 कपड़े के समोत्पादक वक्र CC को b बिन्दु पर स्पर्श करता है। B-देश के लिए यह सन्तुलन बिन्दु है जो यह दर्शाता है कि कपड़े की एक इकाई उत्पादन करने के लिए OK_2 पूँजी तथा OL_2

श्रम की आवश्यकता होगी। चूंकि B-देश श्रम प्रधान देश है, ऐसी स्थिति में उसे OK_3 पूँजी के बदले B_1L_2 श्रम का त्याग करना पड़ेगा। यदि B-देश कपड़े के बजाय गेहूँ उत्पादन करना चाहेगा तो उसकी नयी साधन कीमत रेखा A_2B_2 होगी जो A_1B_1 के समानान्तर होगी। इस दशा में B-देश WW समोत्पादक वक्र पर d बिन्दु पर सन्तुलन में होगा। यह बिन्दु यह दर्शाता है कि गेहूँ की एक इकाई उत्पादन करने के लिए OK_4 पूँजी तथा OL_4 श्रम की आवश्यकता होगी। चूंकि B-देश श्रम प्रधान देश है, अतः वह गेहूँ को उत्पादन करने के लिए पूँजी के बदले श्रम चुकाना चाहेगा। इस दशा में उसे OK_4 पूँजी के बदले L_4 , B_1 श्रम देना होगा। इस प्रकार विवेचन से स्पष्ट है कि B देश को गेहूँ की अपेक्षा कपड़े की एक इकाई उत्पादन करने में अधिक श्रम त्यागना पड़ता है, क्योंकि कपड़े की एक इकाई उत्पादित करने के लिए पूँजी के बदले B_1L_2 तथा गेहूँ के लिए B_1L_4 त्यागना पड़ता है। चूंकि $B_1L_2 > B_1L_4$ होता है। अतः B-देश के लिए कपड़े की अपेक्षा गेहूँ का उत्पादन करना सस्ता पड़ेगा।

विवेचन से स्पष्ट है कि जिस देश में पूँजी की प्रचुरता है वह पूँजी गहन वस्तु का उत्पादन करे तथा श्रम प्रचुरता वाला देश श्रम गहन वस्तु का उत्पादन करे क्योंकि दोनों देशों में प थक्-प थक् रूप में श्रम गहन एवं पूँजी गहन वस्तु की मात्रा उत्पादित कर सकते हैं।

सिद्धान्त की आलोचनायें

(Criticisms of Theory)

यद्यपि हक्सर-ओहलिन सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है किन्तु इस सिद्धान्त की कुछ कमियां हैं जिसके कारण इस सिद्धान्त का क्षेत्र संकुचित हो गया है-

- (1) **व्यापार का अत्याधिक सरल माडल (Over-Simplified Model of Trade)-** सिद्धान्त केवल दो वस्तुयें, दो साधन एवं दो देशों तक ही सीमित है जबकि व्यवहार में जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है वह कई देशों के मध्य अनेक वस्तुओं के बीच होता है और उन वस्तुओं के उत्पादन में अनेक साधन प्रयोग में लाये जाते हैं।
- (2) **स्थैतिक सिद्धान्त (Static Theory)-** वह सिद्धान्त अनेक स्थैतिक मान्यताओं जैसे उत्पादन के साधनों की स्थिर मात्रा, उपभोक्ता की दी हुई पसन्दगी और आय, दिया हुआ उत्पादन आदि पर आधारित है, जबकि व्यवहार में इनमें समय के साथ परिवर्तन होता रहता है। ऐसी दशा में एक प्रावैगिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करने की आवश्यकता है।
- (3) **सामान्य साम्य प्रणाली विकसित न होना (Not to Develop General Equilibrium System)-** इस सिद्धान्त के अनुसार व्यापार केवल उन देशों के मध्य सम्भव होता है जिनमें साधन प्रचुरता में भिन्नता है। किन्तु व्यवहार में देखा गया है कि विश्व में ज्यादातर व्यापार उन देश के मध्य हो रहा है जिनकी साधन सम्पन्नता लगभग एक जैसी है। वास्तविकता तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी अन्य व्यापारों की भांति वस्तुओं की तुलनात्मक लागतों के कारण होता है।
- (4) **पूर्ति की तुलना में मांग अधिक प्रभावपूर्ण (Demand is More Effective to Supply-सिद्धान्त)** के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसलिए होता है क्योंकि साधनों में सापेक्ष अन्तर होने के कारण कीमतों में भी सापेक्ष अन्तर होता है अर्थात् मूल्य निर्धारण में मांग के सापेक्ष पूर्ति अधिक प्रभावपूर्ण है। किन्तु आलोचकों का कहना है कि अल्पकालीन मूल्य निर्धारण में मांग पूर्ति की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होती है जिसके कारण सम्भव है कि पूँजी प्रधान देश श्रम गहन वस्तुओं का निर्यात करना शुरू कर दें जो सिद्धान्त की मान्यता के प्रतिकूल होगा।

- (5) **पैमाने के स्थिर प्रतिफल क्रियाशील नहीं (No Constant Returns to Scale)-** सिद्धान्त की पैमाने की स्थिर प्रतिफल नियम की मान्यता भी ठीक नहीं है क्योंकि जिस देश में साधन प्रचुरता है वह अधिक उत्पादन एवं निर्यात करके मितव्यता प्राप्त कर सकता है और ऐसी दशा में पैमाने से बढ़ता हुआ नियम क्रियाशील होना सम्भव है।
- (6) **परिवहन लागतें व्यापार को प्रभावित करती हैं (Transport Costs Influence Trade)-** इस सिद्धान्त की यह मान्यता भी ठीक नहीं है कि दो देशों की व्यापार परिवहन लागतें अनुपस्थिति होती हैं। व्यवहार में परिवहन लागतें व्यापार में महत्वपूर्ण होती हैं।
- (7) **अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित-** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सामान्य संतुलन सिद्धान्त अनेक अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है, जैसे-वस्तु बाजार और साधन बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की विद्यमानता, मांग-पूर्ति और साधनों की दशाओं की अपरिवर्तनीयता, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र के अबन्ध व्यापार की नीति का परिपालन आदि।
- (8) **साधनों की कीमतों से वस्तुओं की कीमतों का निर्धारण नहीं-होल्डिस के मतानुसार, ओहलिन की यह धारणा गलत है कि वस्तुओं की कीमतें उत्पत्ति के साधनों की कीमतों से निर्धारित होती हैं।** वास्तविक स्थिति इसके विपरीत होती है-वस्तुओं की कीमतें उपभोक्ताओं को प्राप्त तुष्टिगुण के आधार पर निश्चित होती हैं तथा उन वस्तुओं के निर्माण हेतु जिन साधनों का प्रयोग किया जाता है, उनकी कीमतें (प्रतिफल की दर) स्वयं उत्पादित वस्तुओं की कीमतों से निश्चित होती हैं। इसीलिए ऐसा देखने में आ सकता है कि किसी देश में श्रम के दुर्लभ होते हुए भी मजदूरी की दर नीची हो सकती है क्योंकि श्रमिक उन वस्तुओं के उत्पादन में संलग्न नहीं होते जो ऊंची कीमतों पर बिकती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि किसी साधन की दुर्लभता के कारण उसका महंगा होना अनिवार्य नहीं है क्योंकि दुर्लभता को सदैव उन वस्तुओं की उत्पादन-सम्भावना के सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए जिनके लिए उपभोक्ता लाभदायक कीमत देने को तैयार हों।
- (9) **उत्पत्ति के साधन समरूपी नहीं होते- विभिन्न देशों में उत्पत्ति के साधनों की समरूपता की मान्यता ओहलिन के सिद्धान्त की व्यावहारिकता को संदिग्ध बना देती है।** सैम्युअलसन (Samuelson) के मतानुसार, सामान्य संतुलन सिद्धान्त उस समय विफल हो जाता है जब दो देशों के बीच उत्पादन-फलन भिन्न होते हैं अथवा विभिन्न देशों में उत्पत्ति के साधनों में गुणात्मक अन्तर होता है।
- (10) **दो देशों के बीच समान तकनीक द्वारा उत्पादित वस्तु का व्यापार सम्भव है-ओहलिन ने उत्पादन-साधनों की पूर्ति में अन्तर को दो देशों के बीच वस्तुओं की लागत और कीमत में अन्तर के लिए उत्तरदायी बताते हुए अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण और व्यापार का तात्कालिक कारण बताया।** प्रो० मिन्हास के मतानुसार, दो देशों के बीच समान तकनीक (श्रम-प्रधान या पूंजी प्रधान) के अन्तर्गत उत्पादित वस्तुओं का व्यापार भी सम्भव होता है। अतएव निर्यात और आयात प्रतिस्थापन वस्तुओं की तुलनात्मक घटक सघनता (Comparative Factor Intensity) के विषय में निष्कर्ष देना तर्कसंगत नहीं जान पड़ता।

प्रतिष्ठित सिद्धान्त पर ओहलिन के सिद्धान्त की श्रेष्ठता

अनेक बातों में ओहलिन का सिद्धान्त प्रतिष्ठित (रिकार्डो) के सिद्धान्त की अपेक्षा एक सुधार है, क्योंकि वह लागतों और कीमतों पर बल देता है तथा साथ ही वास्तविक तथ्यों से अधिक निकट है। ओहलिन को ही इस बात का श्रेय है कि उसने साधन सम्पत्तियों और स्थान चयन सिद्धान्त (theory of location) को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त में मिला दिया। इसके अतिरिक्त ओहलिन ने सबके

(जिनमें नव-प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री भी सम्मिलित हैं) द्वारा मान्य मूल्य सिद्धान्त को ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लागू किया है। उसने यह मुख्य रूप से दिखा दिया है कि अन्तर्क्षेत्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मध्य कोई बुनियादी भेद नहीं है, केवल परिमाणात्मक भेद (quantitative difference) है और एक अकेले बाजार के मूल्य सिद्धान्त को ही विस्तृत करके अनेक बाजारों में प्रचलित मूल्य के स्पष्टीकरण हेतु प्रयोग किया जा सकता है।

इस पर भी यह खीकार करना होगा कि ओहलिन का सिद्धान्त प्रतिष्ठित सुगम श्रम लागत स्पष्टीकरण की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल है और यह जटिलता स्वाभाविक भी है, क्योंकि जिस मूल्य सिद्धान्त (सामान्य साम्य सिद्धान्त) पर यह आधारित है वह खयं भी जटिल है और जिन तथ्यों को वह स्पष्ट करता है वे भी जटिल हैं।

अध्याय-4

साधन कीमत समानीकरण सिद्धान्त (Factor Price Equalisation Theorem)

प्रो० सेमुअल्सन द्वारा प्रतिपादित 'साधन कीमत समानीकरण सिद्धान्त' हैक्सर-ओहलिन के साधन अनुपात सिद्धान्त से निकाला गया एक महत्वपूर्ण उपप्रमेय (Corollary) है। यह सिद्धान्त बताता है कि विभिन्न साधन अनुपात वाले देशों के मध्य, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप, केवल वस्तुओं की कीमतों में ही समानता की प्रव ति नहीं पायी जाती अपितु साधनों की कीमतों में भी समानता की प्रव ति पाई जाती है। प्रो० सेमुअल्सन ने इस सिद्धान्त को इन शब्दों में परिभाषित किया है- "यदि अन्य बातें समान रहें, साधनों के आवागमन की भाँति वस्तुओं का स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने के कारण निरपेक्ष प्रतिफल या साधनों की कीमतें प्रत्येक व्यापाररत देश में समान हो जाती है।"

सिद्धान्त की मान्यतायें (Assumptions of the Theory)

साधन कीमत समानीकरण सिद्धान्त की मुख्य मान्यतायें निम्न प्रकार हैं-

- (i) यह सिद्धान्त दो वस्तु, दो देश तथा दो साधनों के विश्लेषण पर आधारित है।
- (ii) वस्तु बाजार व साधन बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है।
- (iii) 'पैमाने के स्थिर प्रतिफल' लागू होते हैं।
- (iv) परिवहन लागतें नहीं हैं।
- (v) दोनों देशों में साधन सम्पत्तियों में सापेक्षिक भिन्नतायें केवल मात्रात्मक हैं, गुणात्मक नहीं।
- (vi) विशिष्टीकरण अंशिक होता है।
- (vii) स्वतन्त्र विदेशी व्यापार की स्थिति है।
- (viii) उपभोक्ताओं की पसन्दगी, रुचि व माँग दशायें समान हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केवल उस स्थिति में होगा जब उत्पादन के साधनों के सापेक्षिक मूल्य दोनों देशों में भिन्न हो। दोनों देशों के मध्य व्यापार उस समय तक होता रहेगा जब तक साधनों के सापेक्ष मूल्यों का यह अन्तर विद्यमान रहे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण सापेक्ष मूल्यों का यह अन्तर अन्ततः समाप्त हो जाता है। यही साधन मूल्य समानीकरण सिद्धान्त है।

एजवर्थ-बाउले बॉक्स रेखाचित्र द्वारा सिद्धान्त का स्पष्टीकरण

(Explanation of the Theory with the help of Edgeworth-Bowley Box Diagram)

इस विधि के अन्तर्गत व्यापार पूर्व की स्थिति में दोनों देशों में वस्तुओं व साधनों की कीमत स्थिति देखी जाती है। इसके पश्चात् व्यापार के बाद दोनों देशों में वस्तुओं व साधनों की कीमतों के परिवर्तन को देखा जाता है।

समात्पाद वक्र तथा उत्पादन विस्तार मार्ग (Isoquant Curve and Expansion Path)- एक

समोत्पाद वक्र के विभिन्न बिन्दु दो परिवर्तनशील साधनों के उन विभिन्न संयोगों को बताते हैं जिनसे एक वस्तु की समान या निश्चित मात्रा का उत्पादन होता है। एक उत्पादक उस बिन्दु पर सन्तुलनावस्था में होता है जहाँ समोत्पाद वक्र का ढाल साधन कीमत रेखा के ढाल के बराबर हो। जब उत्पादन का पैमाना बढ़ाया जाता है तो उत्पादक फर्म या देश नीचे उत्पादन सन्तुलन बिन्दु से ऊँचे उत्पादन सन्तुलन बिन्दु पर पहुँच जाता है और उत्पादन का विस्तार करने पर अनेक सन्तुलन बिन्दु प्राप्त होते हैं। इन विभिन्न सन्तुलन बिन्दुओं को मिलाने पर जो रेखा बनती है उसे विस्तार मार्ग कहते हैं। यदि उत्पादन के क्षेत्र में पैमाने का स्थिर प्रतिफल नियम लागू है तो यह उत्पादन विस्तार मार्ग एक सरल रेखा के रूप में होगा।

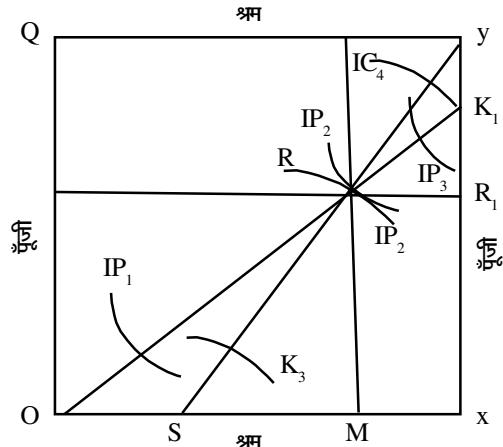
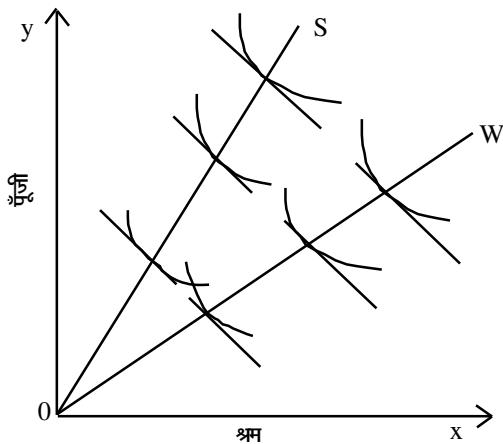
माना, किसी देश में गेहूँ (श्रम गहन वस्तु) व इस्पात (पूँजी गहन वस्तु) उत्पन्न की जाती है। दोनों ही वस्तुओं के उत्पादन विस्तार मार्ग की स्थिति भिन्न-भिन्न होगी, जैसा कि रेखाचित्र से स्पष्ट है। चित्रानुसार गेहूँ व इस्पात दोनों के ही उत्पादन विस्तार में नीचे उत्पादन सन्तुलन से ऊँचे सन्तुलन पर पहुँचने पर दोनों साधनों का अनुपात स्थिर रहता है। चित्र से भी स्पष्ट है कि इस्पात का विस्तार मार्ग श्रम की अपेक्षा पूँजी की अधिक मात्रायें बताता है तथा गेहूँ का विस्तार मार्ग पूँजी की अपेक्षा श्रम की अधिक मात्रायें बताता है।

रेखाचित्र A में एक देश का श्रम OX अक्ष पर तथा पूँजी YX अक्ष पर दिखाई गई है। OW और OS क्रमशः गेहूँ और इस्पात उत्पादन के विस्तार पथ हैं। श्रम गहन वस्तु हो के कारण गेहूँ का मूल बिन्दु O तथा पूँजी गहन वस्तु होने के कारण इस्पात का मूल बिन्दु Y है। साधनों के स्थिर अनुपातों की दशा में पूर्ण विशिष्टीकरण एक आदर्शतम् स्थिति नहीं हो सकती। उदाहरण के लिये, यदि देश गेहूँ उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण अपनाता है तो इसका उत्पादन विस्तार पक्ष OW होगा जिसका अर्थ है वह अपने कुल श्रम (OX)

का पूर्ण उपयोग कर लेता है किन्तु पूँजी की XW मात्रा का ही उपयोग करता है। शेष YW पूँजी बेकार पड़ी रहती है। इसी प्रकार यदि देश इस्पात उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण करता है तो उसका उत्पादन विस्तार पक्ष OS होगा, जिसका अर्थ है कि वह अपनी समस्त पूँजी (XY) का उपयोग कर लेता है किन्तु श्रम की XS मात्रा का ही उपयोग कर पाता है और शेष श्रम मात्रा (SO) बेकार पड़ी रहती है।

पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में साधनों का आबंटन उस स्थिति में अनुकूलतम होगा जहाँ दोनों समोत्पाद वक्र स्पर्श करते हैं। रेखाचित्र में R बिन्दु अनुकूलतम बिन्दु है जहाँ दोनों वस्तुओं के विस्तार-पथ परस्पर एक-दूसरे को काटते हैं तथा दोनों वस्तुओं के समोत्पाद वक्रों के ढाल बराबर हैं। इस प्रकार हमें ORY उत्पादन सम्भावना वक्र प्राप्त होता है। इस वक्र के R बिन्दु स्तर तक गेहूँ व इस्पात का

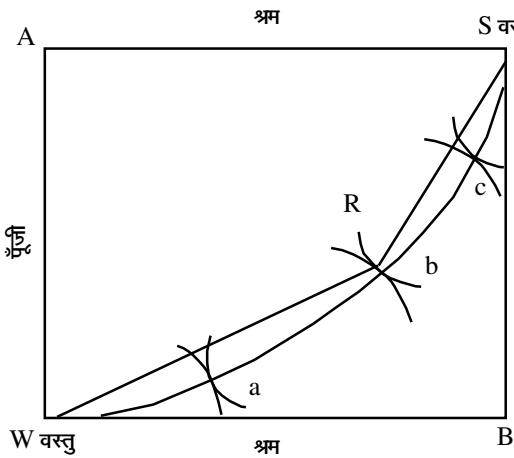
रेखाचित्र A



उत्पादन करने पर देश में उपलब्ध श्रम व पूँजी की सम्पूर्ण मात्रा का उपयोग हो जाता है अर्थात्
 श्रम की OM मात्रा गेहूँ उत्पादन में
 श्रम की MX मात्रा
 पूँजी की YN मात्रा इस्पात उत्पादन में
 पूँजी की NX मात्रा गेहूँ उत्पादन में
 R बिन्दु पर वस्तु का कुल उत्पादन
 अधिकतम है।

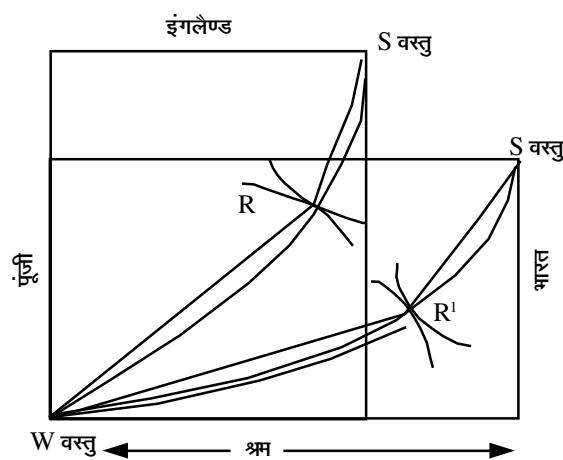
$$\text{श्रम की कुल मात्रा} = \text{OM} + \text{MX} = \text{OX}$$

$$\text{पूँजी की कुल मात्रा} = \text{YN} + \text{NX} = \text{YX}$$



उत्पादन कुशलता पथ या प्रसंविदा वक्र (Production efficiency Locus or Contract Curve) - यह दो वस्तुओं से सम्बन्धित समोत्पाद वक्रों को ढाल के स्पर्श बिन्दुओं को मिलाने वाला बिन्दु-पथ होता है। इस वक्र के विभिन्न बिन्दु दो वस्तुओं के विभिन्न उत्पादन स्तरों को व्यक्त करते हैं। रेखाचित्र में प्रसंविदा वक्र के विभिन्न बिन्दुओं पर दोनों वस्तुओं W व S के समोत्पाद वक्र स्पर्श करते हैं अतः दोनों साधनों की सीमान्त उत्पादकताओं का अनुपात दोनों वस्तुओं के उत्पादन में बराबर है।

उपर्युक्त चित्र में सभी बिन्दुओं पर दोनों वस्तुओं का उत्पादन अनुकूलतम है।

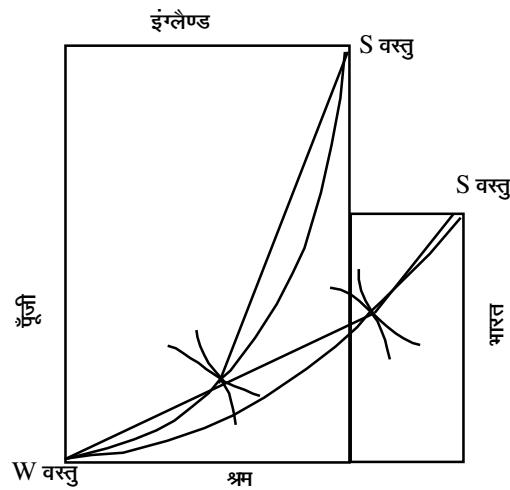


व्यापार पूर्व साधन कीमत (Factor Price before Trade) - माना, भारत श्रमप्रधान और इंगलैण्ड पूँजीप्रधान देश है। उत्पादन की जाने वाली दोनों वस्तुयें W व S भी क्रमशः श्रमप्रधान हैं व पूँजीप्रधान हैं। रेखाचित्र में दोनों देशों के प्रसंविदा वक्रों की स्थिति दिखायी गयी है। चित्रानुसार W वस्तु श्रम गहन है। अतः दोनों ही देशों में प्रसंविदा का उद्गम मूल बिन्दु O से होता है। S वस्तु पूँजी गहन है; अतः इसका उद्गम बिन्दु इंगलैण्ड के लिये Y तथा भारत के लिये Y' है। अब माना, इंगलैण्ड R बिन्दु पर उत्पादन करता है तथा भारत R' बिन्दु पर। इंगलैण्ड में W तथा S वस्तु की साधन गहनता रेखा क्रमशः OR तथा YR हैं। इसी प्रकार भारत में साधन गहनता रेखा क्रमशः OR' तथा Y'R' हैं। इंगलैण्ड की साधन गहनता रेखाओं का अधिक ढालूपन यह बताता है कि इंगलैण्ड भारत की अपेक्षा दोनों वस्तुओं के उत्पादन में अधिक पूँजीगहन प्रविधियों का प्रयोग करता है। चूंकि इंगलैण्ड में R बिन्दु पर उत्पादन करने पर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता भारत के R' बिन्दु पर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता से कम है, अतः इंगलैण्ड में पूँजी की कीमत कम होगी तथा श्रम की कीमत अधिक। इसके विपरीत भारत में पूँजी की कीमत अधिक होगी और श्रम की कम।

व्यापार के दौरान साधन कीमतें-साधन कीमत समानीकरण (Factor Prices during the Trade-

Factor Prices Equalisation- रेखाचित्र से स्पष्ट है कि इंगलैंड पूँजीगहन वस्तु 'S' का उत्पादन तथा निर्यात करेगा और श्रमगहन वस्तु 'W' का आयात करेगा। इसके विपरीत, भारत श्रमगहन वस्तु 'W' का उत्पादन व निर्यात करेगा और पूँजीगहन वस्तु 'S' का आयात करेगा। दोनों देशों के मध्य व्यापार के आरम्भ हो जाने पर वस्तुओं के बाजार का विस्तार होगा।

अतः इंगलैंड S वस्तु का उत्पादन बढ़ायेगा और भारत W वस्तु का उत्पादन बढ़ायेगा। परिणामस्वरूप इंगलैंड में W वस्तु उद्योग से साधन हटाकर S वस्तु उद्योग में लगाये जायेंगे। इंगलैंड के W वस्तु उद्योग में पूँजी की अपेक्षाकृत कमी और श्रम की अधिकता हो जायेगी और W वस्तु की उत्पादन कम होने से श्रम की माँग भी कम हो जायेगी। अतः इंगलैंड में श्रम की कीमत (मजदूरी) गिरने लगेगी। चूँकि S वस्तु पूँजी गहन वस्तु है अतः उसका उत्पादन बढ़ाने पर पूँजी की माँग अधिक होगी और माँग के अनुपात में पूँजी की पूर्ति न बढ़ पाने के कारण इंगलैंड में पूँजी की कीमत बढ़ने लगेगी।



इसके विपरीत, भारत में श्रम की कीमत बढ़ेगी तथा पूँजी की कम होगी। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहेगी जब तक देशों में दोनों वस्तुओं की कीमतें समान नहीं हो जाती। इस प्रकार साधनों की कीमतों में भी समान होने की प्रवृत्ति पायी जाती है। चित्र में QY तथा Q'Y' रेखाएँ समानान्तर रेखाएँ हैं, अतः दोनों देशों में S वस्तु उद्योगों में साधन गहनता समान है, दोनों देशों में श्रम व पूँजी की सीमान्त उत्पादकता समान है और इसलिये दोनों साधनों की कीमतें समान हैं। यही साधन कीमत समानीकरण सिद्धान्त है।

आलोचनाएँ :-

1. उत्पादन फलन समरूप

(Homogeneous Production Function)

सिद्धान्त इस परिकल्पना पर आधारित है कि व्यापार में संलग्न राष्ट्रों में उत्पादन फलन समरूप है। किन्तु हमें ज्ञात है कि उत्पादन फलनों की असमरूपता की स्थिति में साधन गतिशीलता कल्याण को अधिकतम करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। उत्पादक साधनों की एक निश्चित मात्रा जितना एक देश में उत्पन्न करती है आवश्यक रूप से उतना ही किसी अन्य देश में उत्पन्न नहीं कर सकती। टॉजिंग ने इस तथ्य का अनुमान किया और climate शब्द का प्रयोग किया। Climate शब्द केवल भौतिक वातावरण को ही नहीं बल्कि सामाजिक और बौद्धिक वातावरण को भी सम्मिलित करता है। मीड इस संदर्भ में सुझाव देते हैं कि “वहीं पुस्तकें और वही मस्तिष्क जो विचार शिकागो में उत्पन्न कर सकते हैं यहीं विचार लंदन में नहीं उत्पन्न कर सकते।” वास्तव में एक देश का वातावरण एक साधन (श्रम) के रोजगार के द्विकोण से तथा दूसरे देश का वातावरण किसी दूसरे साधन (पूँजी) के रोजगार के द्विकोण से श्रेष्ठ हो सकता है चाहे एक देश का वातावरण निरपेक्ष रूप से सभी साधनों या सभी वस्तुओं के लिए श्रेष्ठ हो या कुछ साधन या कुछ वस्तुओं के लिए श्रेष्ठ है। जब तक कम अनुकूल वातावरण वाले देश से साधन अधिक अनुकूल वातावरण वाले देश को गमन नहीं कर

जाते उत्पादन अधिकतम नहीं होगा। देशों के मध्य वातावरण में भिन्नताएं इस बात के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं कि उत्पादन के कुछ निश्चित साधनों को एक देश की अपेक्षा दूसरे देश में कार्यरत होना चाहिए।

2. उत्पादन पैमाने में समता नियम की कल्पना

(Constant Return to Scale)

साधन मूल्य समतुल्यता सिद्धान्त की महत्वपूर्ण मान्यता उत्पादन में समता नियम की कल्पना है। किन्तु समता नियम की अनुपस्थिति में साधनों एवं वस्तुओं की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता अधिक लाभदायक सिद्ध हो सकती है। कल्पना कीजिए कि व्यापार से पूर्व भारत और ब्रिटेन दोनों वस्तुओं, गेहूँ और कपड़े, का उत्पादन करते हैं भारत कपड़े के उत्पादन गहनता से प्रयुक्त होने वाले साधन (श्रम) में ब्रिटेन की अपेक्षा अधिक सम्पन्न हैं। जबकि गेहूँ के उत्पादन में गहनता से प्रयुक्त होने वाले (पूँजी) में भारत की तुलनात्मक सम्पन्नता ब्रिटेन से कम है। व्यापार के बाद गेहूँ और कपड़े की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता साधनों के तुलनात्मक पुरस्कार को प्रभावित करती है। इस प्रकार भारत में ब्याज की दर में हास तथा मजदूरी में व द्विः होगी जबकि ब्रिटेन में इसका विपरीत होगा। समायोजन की क्रिया तब तब चलती रहेगी जब तक कि साधनों का पुरस्कार दोनों देशों में समान नहीं हो जाता। इस स्थिति में दोनों देशों में साधनों की सीमान्त उत्पादकता समान होगी। किन्तु मान लीजिए कि भारत को बड़े पैमाने पर कपड़े के उत्पादन के कारण पैमाने की अधिकतम बचत मिल चुकी है और ब्रिटेन को मिलनी अभी प्रारम्भ हुई है। ऐसी स्थिति में भारत में कपड़े के उद्योग में साधनों की औसत उत्पादकता ब्रिटेन की तुलना में अधिक हो सकती है किन्तु श्रम की सीमान्त उत्पादकता ब्रिटेन में भारत की अपेक्षा अधिक हो सकती है।

इसके अतिरिक्त यदि किसी भी उद्योग में उत्पादन व द्विः नियम क्रियाशील होता है तो दोनों देशों में साधनों की सीमान्त उत्पादकता का समान होना एक आकस्मिक घटना होगी। इस आकस्मिक घटना की अनुपस्थिति में साधनों को कम उत्पादकता वाले स्थान से अधिक उत्पादकता वाले स्थान की ओर गतिशील होना लाभदायक होगा। केवल इसी स्थिति में साधनों में प्रतिफल में समानता स्थापित हो सकती है।

3. परिवहन लागतें

(Transport Costs)

हमारी यह मान्यता है कि भारत में ब्रिटेन को कपड़ा भेजने तथा ब्रिटेन से भारत में कपड़ा मंगाने में परिवहन लागत शून्य है। इस प्रकार कपड़े और गेहूँ का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य एक ही है। किन्तु यह मान्यता अवास्तविक है। समान्यतः वस्तु को एक से दूसरे देश में भेजने में कुछ-न-कुछ परिवहन लागत अवश्य देनी पड़ती है। इस प्रकार कपड़े का मूल्य ब्रिटेन में तथा गेहूँ का मूल्य भारत में तुलनात्मक रूप से अधिक होगा। फलतः परिवहन लागतों की उपस्थिति में गेहूँ उद्योग भारत तथा कपड़ा उद्योग ब्रिटेन में परिवहन लागत विहीन व्यापार की स्थिति की तुलना में अधिक बड़ा होगा। इस स्थिति में भारत में श्रम की सीमान्त उत्पादकता और उसकी मजदूरी ब्रिटेन की तुलना में कम होगी। इस प्रकार खतंत्र व्यापार साधनों के प्रतिफल में समानता स्थापित करने में असमर्थ है। अतः कुछ श्रम का भारत से ब्रिटेन में गतिशील होना लाभदायक होगा। किन्तु श्रम का स्थानान्तरण निःशुल्क नहीं होगा। फलतः वस्तु की परिवहन लागत तथा उत्पादक साधन की परिवहन लागत की तुलना कर लेनी आवश्यक है।

4. पूर्ण विशिष्टीकरण

(Complete Specialisation)

साधन मूल्य समतुल्यता सिद्धांत के लिए आवश्यक है कि दोनों देश दोनों वस्तुओं का उत्पादन करें। यदि एक देश एक वस्तु के उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण प्राप्त करता है तो यह सिद्धांत असफल हो जाता है। कल्पना कीजिए कि भारत में शराब उद्योग ऊँची लागत वाला बहुत छोटा उद्योग है जिसके लिए भारत में साधन की दुर्लभता है किन्तु कपड़ा उद्योग नीची लागत वाला बड़ा उद्योग है जिसके लिए साधनों की प्रचुरता है। जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बंगला देश के साथ प्रारम्भ होता है जहाँ शराब के उत्पादन के लिए साधनों की प्रचुरता और कपड़ा उद्योग के लिए साधनों की दुर्लभता हैं तो दोनों देशों में साधनों की सीमांत उत्पादकता में समानता रथापित होने से पूर्व ही भारत में समस्त साधन छोटे उद्योग (शराब) से बड़े उद्योग (कपड़ा) में रथानान्तरित हो सकते हैं।

5. उत्पाद और साधनों की संख्याएं

(Number of Inputs and Outputs)

अब तक हमने यह कल्पना की थी कि व्यापार में दो वस्तुएं और उत्पादन क्रिया में दो साधन (पूँजी और श्रम) संलग्न हैं। इस मान्यता के आधार पर दिखलाया गया है कि स्वतंत्र व्यापार की स्थिति में दोनों देशों में साधनों की सीमांत उत्पादकता समान होगी। किन्तु क्या दो से अधिक साधनों की उपस्थिति में भी ऐसा ही होगा? इसके लिए हमें भारत और ब्रिटेन के मध्य व्यापार पर विचार करना चाहिए जबकि भारत श्रम-गहन वस्तु कपड़ा तथा ब्रिटेन पूँजी गहन वस्तु गेहूँ के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करता है। अब हम दो साधनों-पूँजी और श्रम- के अतिरिक्त तीसरे साधन भूमि, जिसका प्रयोग कपड़े और गेहूँ दोनों के उत्पादन में होता है, को भी सम्मिलित कर लें। मान लीजिए ब्रिटेन की अपेक्षा भारत भूमि की उपलब्धि में अधिक सम्पन्न है अतः भारत गेहूँ और कपड़े दोनों के उत्पादन में भूमि का तुलनात्मक रूप से अधिक प्रयोग करता है। भारत में भूमि का सरस्तापन पूँजी की दुर्लभता को प्रभावहीन बना सकता है। इस प्रकार स्वतंत्र व्यापार की अवस्था में इन तीनों साधनों की सीमांत उत्पादकता में समानता रथापित होने से पूर्व ही दोनों देशों में गेहूँ और कपड़े के मूल्य में समानता रथापित हो सकती है। उत्पादन के तीनों साधनों की सीमांत उत्पादकता में समानता तभी रथापित हो सकती है जबकि तीसरी वस्तु, भूमि-प्रधान, को भी सम्मिलित किया जाए।

6. साधन प्रतिस्थापन

(Factor Substitution)

जब दोनों वस्तुओं के उत्पादन फलन में प्रतिस्थापन की लोचें असमान होती हैं और किसी एक वस्तु के उत्पादन में प्रतिस्थापन की सीमा बहुत अधिक होती है तो 'साधन प्रतिलोमता' (Factor Reversal) की सम्भावना होती है। साधन प्रतिलोमता की स्थिति में साधन मूल्य समतुल्यता सिद्धांत चरितार्थ नहीं होता। साधन प्रतिलोमता की स्थिति में पूँजी सम्पन्न देश तो पूँजी प्रधान तकनीक का प्रयोग करके पूँजी गहन वस्तु का निर्यात करता है किन्तु श्रम सम्पन्न देश भी उसी का निर्यात श्रम प्रधान तकनीक द्वारा उत्पादित करके करता है। इसका निरूपण निम्न चित्र के माध्यम से किया गया है:

अध्याय-5

निरपेक्ष लागत तथा तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का प्रयोगात्मक परीक्षण (Empirical Testing of Theory of Absolute Cost and Comparative Cost)

वैसे तो निरपेक्ष तथा तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की सत्यता की जांच करने के लिए बहुत से अध्ययन हुए हैं परन्तु इनमें से तीन अध्ययन: G.D.A. MacDongal, Robert Stern तथा Bela Blassa प्रमुख माने जाते हैं। इन तीनों का अध्ययन USA तथा UK के आंकड़ों पर निर्भर करते हैं। MacDongal के अध्ययन में 1937 से सम्बन्धित आंकड़ों का प्रयोग किया गया है। जबकि Stern तथा Blassa ने अपने अध्ययनों में 1950 व 59 तथा 1950 के आंकड़ों का प्रयोग किया है।

हम जानते हैं कि निरपेक्ष तथा तुलनात्मक लागत सिद्धान्त दोनों मूल्य के श्रम सिद्धान्त (Labour theory of value) पर आधारित हैं। इसलिए उपरोक्त तीनों सिद्धान्तों का उद्देश्य मूल्य के श्रम सिद्धान्त की सत्यता (Validity) की जांच करना था। श्रम सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में श्रम लागत भिन्न-2 होने के कारण उनकी सापेक्षिक कीमतें भी भिन्न होती हैं। व्यापार से पहले वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतें उनमें लगी श्रम लागत के आधार पर ही निर्धारित होती हैं। यदि किसी देश में A वस्तु की श्रम लागत अन्य देश में A वस्तु की श्रम लागत से अपेक्षाकृत कम है तो वह देश A वस्तु का निर्यात करेगा।

इस सिद्धान्त को जांच करने की प्रमुख समस्या यह है कि विभिन्न देशों में व्यापार होने से पहले वस्तुओं की कीमतों की सही-2 जानकारी प्राप्त नहीं होती है। इसका कारण यह है कि देशों के मध्य व्यापार सैकड़ों व हजारों वर्षों से चल रहा है। व्यापार वस्तुओं की कीमतों में समानता लाने की प्रवति को जन्म देता है। अतः व्यापार से पूर्व वस्तुओं की कीमतों का प्रारम्भिक स्तर क्या था यह सही जानकारी किसी को नहीं है। इसलिए इस सिद्धान्त का परीक्षण व जांच सम्भव नहीं है।

दूसरी समस्या यह है कि वस्तुओं के आवागमन पर तटकर तथा परिवहन लागतें खर्च होती हैं जो वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतों को परिवर्तित कर देती हैं। 1937 में MacDongal ने पाया कि U.K. तथा U.S.A. में वस्तुओं के आवागमन पर तटकर इतने अधिक थे जो उत्पादन लागत के आधार पर तुलनात्मक लागत को समाप्त कर देते थे।

तीसरी समस्या यह थी कि विभिन्न देशों की निर्यातों सम्बन्धी आंकड़े ठीक ठीक उपलब्ध नहीं होते थे। इस कारण सिद्धान्त का सही परीक्षण नहीं हो सका। ये दोनों देश किसी तीसरे देश को निर्यात समान कीमतों पर करते पाये गये, जिस कारण इन दोनों के निर्यातों की तुलनात्मक लागत में अन्तर का सही व्यौरा उपलब्ध नहीं हो सकता था।

यह सिद्धान्त व्यक्त करता है कि जिस देश में श्रम उत्पादकता किसी वस्तु के उत्पादन में दूसरे देश के श्रम की उसी वस्तु में उत्पादकता से अधिक है तो अधिक उत्पादकता वाला देश उस वस्तु का निर्यात करेगा। 1937 के आंकड़ों के आधार पर यह सिद्धान्त सही पाया गया। परन्तु पूर्ण विशिष्टीकरण (Perfect specialisation) का अभाव पाया गया। इसके कारण निम्न हैं:

1. वस्तु विभेद (Product differentiation) विभिन्न देशों द्वारा उत्पादित वस्तुएँ समरूप नहीं पाई गई बल्कि उनमें कुछ न कुछ अन्तर पाया गया।
2. विभिन्न देशों में पूर्ण प्रतियोगिता के स्थान पर अपूर्ण प्रतियोगिता पाई गई। एकाधिकार तथा एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के कारण भी वस्तुओं की कीमतें प्रभावित होती पाई गई। इससे इनकी तुलनात्मक उत्पादन लागत की जानकारी नहीं हो सकी।
3. परिवहन लागतें भी आयात तथा निर्यात वस्तुओं की कीमतों को प्रभावित करती हैं। इतना ही नहीं इनमें अन्तर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को जन्म भी देता है। जैसे पंजाब को पाकिस्तान से वस्तुएं आयात करना केरल से खरीदने की तुलना में सस्ता पड़ सकता है।

U.S. में श्रम की उत्पादकता U.K. से दोगुणी होने के कारण US का श्रम गहन वस्तुओं के निर्यात पर एकाधिकार होना चाहिए था। परन्तु US में मजदूरी दोगुणी होने के कारण यह एकाधिकार समाप्त हो जाता है। अतः दोनों देशों में श्रम की मौद्रिक लागत समान हो जाती है। US तथा UK अन्य देशों को वस्तुओं के व्यापार को प्रभावित करने वाले अन्य कारणों में अन्तर का होना पाया गया। जैसे तट कर आदि में छूट का अन्तर। MacDongal, Stern तथा Blassa सभी उत्पादकता में अन्तर को ही व्यापार का आधार मानते थे। Stern तथा Blassa ने MacDongal के विचारों से सहमति प्रकट की।

Jagdish Bhagwati इन अध्ययनों से सहमत नहीं हो सके। Bhagwati के अनुसार US की निर्यात-आयात वस्तुओं की कीमतों का अनुपात इनकी उत्पादकता के अनुपात में सहसम्बन्ध महत्वपूर्ण नहीं पाया गया।

अध्याय-6

लिंडर का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा का सिद्धान्त (Linder's Theory of the Volume of International Trade)

लिंडर ने एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है जो व्यापार कर रहे दो विभिन्न देशों के बीच विनिर्माणों (manufacture) में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा को राष्ट्रीय आय के समानुपात के रूप में व्याख्या करता है। लिंडर यह तर्क देता है कि जब तक एक देश की प्रति व्यक्ति आय बढ़ती है तो इसका प्रतिनिधि-मांग ढाँचा कुछ विनिर्माणों के घरेलू उत्पादन में प्रसार करता है। यह प्रसार इन विनिर्माणों की लागतों में ऐसी कटौतियां लाता है कि वे इस देश के नए तुलनात्मक लाभ निर्यात बन जाते हैं। इस प्रकार, एक देश अपनी प्रतिनिधि-मांग वस्तु का निर्यात करना प्रारम्भ करता है।

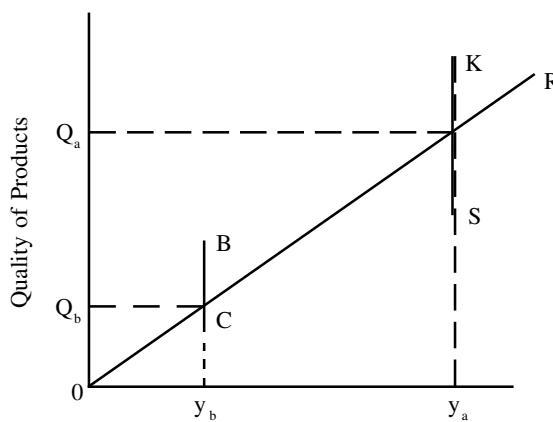
प्रारम्भ में लिंडर विनिर्माणों और प्राथमिक वस्तुओं में भेद करता है। प्राथमिक वस्तुओं की व्याख्या सापेक्ष प्राक तिक संसाधन सम्पन्नताओं के रूप में की जा सकती है, परंतु विनिर्माणों की इस तरह से व्याख्या नहीं की जा सकती। विनिर्माणों के लिए तकनीकी श्रेष्ठता, प्रबन्धात्मक कुशलताएं तथा पैमाने की मितव्यायिता आदि जैसे अनेक जटिल कारक पाए जाते हैं जिनको स्पष्ट और पूर्वानुमानित ढाँचे में नहीं रखा जा सकता। इसलिए वह विनिर्माणों में व्यापार की सही संरचना की व्याख्या नहीं करता है, बल्कि वह व्यापार कर रहे दो साझेदार देशों के बीच राष्ट्रीय आय के समानुपात के रूप में विनिर्माणों में व्यापार की मात्रा से सम्बन्धित सिद्धान्त को प्रतिपादित करता है।

सिद्धान्त की व्याख्या- लिंडर के सिद्धान्त के विश्लेषणात्मक ढाँचे की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है। निर्यात के रूप में विनिर्माणों में व्यापार के लिए पूर्व-शर्त 'घरेलू मांग' का विद्यमान होना है। यह अनेक कारणों से हो सकती है- (अ) विदेशी व्यापार केवल घरेलू व्यापार का विस्तार है; (ब) वर्तमान उद्योगों पर नवप्रवर्तन कर रहे केन्द्र हैं; तथा घरेलू बाजार ऐसा नहीं है, इसलिए उत्पादक केवल विदेशी बाजार पर ही निर्भर रहना नहीं चाहते हैं। इससे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि घरेलू मांग ढाँचा सम्भावित निर्यात वस्तुओं के विस्तार को निर्धारित करता है। एक देश केवल वहीं वस्तुएं निर्यात करेगा जिसके लिए इसकी बड़ी और सक्रिय घरेलू मांग है। जब केवल घरेलू बाजार के लिए उत्पादन अधिक होता है तो फर्मे पैमाने की किफायतें उपलब्ध कर सकती हैं और लागतें कम कर विदेशी बाजार में प्रवेश कर सकती हैं।

लिंडर के अनुसार, एक देश अपनी अधिक वस्तुओं को उन देशों को निर्यात करेगा जिनके आय स्तर और मांग ढाँचे निर्यातक देशों के समान हैं। लिंडर इसे "अधिमान समानता" कहता है। यह अधिमान समानता अतिव्याप्ति मांगों की ओर ले जाती है। लिंडर यह तर्क देता है कि एक दिए हुए देश में अन्य बातें समान रहने पर, उच्च आय वर्गों में उपभोक्ता उच्च गुणवत्ता की वस्तुओं की मांग करते हैं और जो निम्न आय वर्गों में होते हैं जहां औसतन निम्न-आय देश निम्न गुणवत्ता वस्तुओं की मांग करने की प्रवृत्ति रखते हैं और उच्च-आय देश उच्च गुणवत्ता वस्तुओं की। इसका यह अर्थ नहीं कि

उच्च-आय देश निम्न गुणवत्ता वस्तुओं की मांग नहीं करते हैं और निम्न-आय देश उच्च गुणवत्ता वस्तुओं की मांग नहीं करते। वास्तव में, आय वितरण किसी भी समाज में समान नहीं है। इसी कारण विभिन्न देशों में अधिमान समानता होती है और मांग ढांचे अतिव्याप्त होते हैं। इसी कारण से इन देशों के बीच व्यापार संबंध पाए जाते हैं, और प्रत्येक देश अपनी घरेलू मांग को पूरा करने के पश्चात् विभिन्न प्रकार की विनिर्मित वस्तुओं को उत्पादित और निर्यात करता है।

लिंडर के अधिमान समानता अथवा अतिव्याप्ति मांग सिद्धान्त को निम्न चित्र द्वारा समझाया गया है।



हम दो देश अमेरिका (A), ब्रिटेन (B) लेते हैं। प्रति व्यक्ति आय क्षेत्रिज अक्ष पर और गुणवत्ता अनुलम्ब लक्ष पर ली गई है। किरण OR इस संबंध को दर्शाती है। उच्च प्रति व्यक्ति आय OTa वाला देश A उच्च गुणवत्ता वाली वस्तुएं OQa मांगता है; जब कि निम्न प्रति व्यक्ति OQb वाला देश B, निम्न गुणवत्ता वाली वस्तुएं OQb मांगता है। यदि प्रत्येक देश में सभी व्यक्तियों के बीच आय का समान वितरण हो तो दोनों देशों के बीच कोई व्यापार नहीं होगा क्योंकि प्रत्येक देश के निवासियों द्वारा मांगी गई केवल एक स्टैन्डर्ड गुणवत्ता वाली वस्तु को उत्पादित करेगा।

वास्तव में यहाँ पर आय वितरण असमान है। इसलिए प्रत्येक देश में गुणवत्ता वाली दोनों वस्तुएं मांगी जाती हैं। मान लीजिए कि देश A में आय-वितरण से KS रेंज में दोनों वस्तुओं के लिए मांग की जाती है, जबकि देश B में BC रेंज है। दोनों देशों में अतिव्याप्त मांग की रेंज BC=KS है। क्योंकि मांगों की अतिव्याप्ति है, इसलिए दोनों देशों के बीच व्यापार संभव है। उच्च प्रति व्यक्ति आय वाला देश A, उच्च गुणवत्ता वाली वस्तु OQa को निम्न प्रति व्यक्ति आय वाले देश B को उसके उच्च आय वर्गों में उपभोक्ताओं की मांग पूरी करने के लिए निर्यात करेगा। दूसरी ओर निम्न प्रति व्यक्ति आय देश B, निम्न गुणवत्ता वाली वस्तु OQb उच्च प्रति व्यक्ति आय वाले देश A को उसके निम्न आय वर्गों में उपभोक्ताओं की मांग पूरी करने के लिए निर्यात करेगा। एक व्यापार करने वाले देश के संभावित निर्यात रेंज की वस्तु संरचना में जितनी अधिक अतिव्याप्ति होगी, उतनी ही अधिक व्यापार की मात्रा होगी। जितनी अधिक व्यापार की संभावित मात्रा होगी, उतना ही व्यापार करने वाले देश में आय स्तर ऊँचा होगा और जितनी अधिक व्यापार की संभावित मात्रा होगी, उतनी ही अधिक व्यापार की वास्तविक मात्रा होगी।

आलोचना (Criticism)

लिंडर का सिद्धान्त हैक्शर-ओलिन सिद्धान्त पर सुधार है। हैक्शर-ओलिन सिद्धान्त इस परिकल्पना पर आधारित है कि साधन सम्पन्नताओं में भेदों से दो देशों के बीच व्यापार पाया जाता है। लिंडर का सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि व्यापार तब होता है जब साधन सम्पन्नताएं समान होती हैं। लिंडर का सिद्धान्त आधुनिक किरम का है जो विकसित देशों के बीच विनिर्माणों में व्यापार की बड़ी मात्रा के कारणों की व्याख्या करता है। परन्तु इसकी कुछ कमियां भी हैं। जो इस प्रकार हैं:

1. यह सिद्धान्त “‘गुणवत्ता’’ शब्द के अर्थ को स्पष्ट नहीं करता और गुणवत्ता को कैसे मापा जाता है, इसकी व्याख्या नहीं करता।

2. यह सिद्धान्त इस बात की भी व्याख्या नहीं करता कि गुणवत्ता केवल प्रति व्यक्ति आय के साथ ही क्यों परिवर्तित होती है और व्यापार को प्रभावित करती है।
3. लिंडर का सिद्धान्त यह व्याख्या नहीं करता कि किस कारण एक देश अपनी वस्तु जो वह निर्यात करता है, उसके लिए वह घरेलू बाजार का विकास करेगा।
4. लिंडर उन शर्तों की भी व्याख्या नहीं करता जिनके अन्तर्गत व्यापार कर रहे देश व्यापार की मात्रा को प्रभावित करने की सम्भावना रख सकते हैं।
5. लिंडर का सिद्धान्त व्यापार की मात्रा पर प्रदर्शनकारी प्रभाव के प्रभाव का भी अध्ययन नहीं करता है।
6. प्रतिनिधि मांग की अवधारणा कमज़ोर है क्योंकि यह लिंडर द्वारा सही ढंग से परिभाषित नहीं की गई है।
7. लिंडर के सिद्धान्त में आनुभविक प्रमाण की कमी पाई जाती है। उसकी आनुभविक प्रमाण की संक्षिप्त चेष्टा भी सन्तोषजनक नहीं है। अतः उसका सिद्धान्त केवल सुझाव मात्र है।

अध्याय-7

क्रेविस का उपलब्धता सिद्धान्त

(Kravis Theory of Availability)

क्रेविस ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि व्यापार की वस्तु संरचना मुख्य तौर से उपलब्धता द्वारा निर्धारित होती है। व्यापार केवल उन्हीं वस्तुओं में होता है जो “देश के अन्दर प्राप्त नहीं होती है।” इस वाक्य से उसका तात्पर्य है कि (अ) एक देश उन वस्तुओं का आयात करेगा जो निरपेक्ष तौर से उसमें पाई नहीं जाती है, जैसे हीरे; तथा (ब) उन वस्तुओं का निर्यात करेगा जो उस देश में घरेलू मांग से अधिक मात्रा में पाई जाती है।

क्रेविस उपलब्धता को प्रभावित करने वाले वे हैं- प्राक तिक संसाधन, तकनीकी परिवर्तन, वस्तु विभेदीकरण तथा सरकारी नीति चार कारकों की व्याख्या करता है। दुर्लभ प्राक तिक संसाधनों का पाया जाना किसी देश के व्यापार ढांचे को निर्धारित करता है। दूसरा कारक, एक देश द्वारा तकनीकी ज्ञान का पाया जाना है जिससे वह एक विशेष वस्तु का उत्पादन करता है जिसे वह निर्यात करता है। तीसरा कारक, वस्तु विभेदीकरण है जो नवप्रवर्तन करने वाले देश के उत्पादन को अस्थायी एकाधिकार प्रदान करता है जिससे कि वह अपनी वस्तु को तब तक निर्यात करता है जब तक कि आयात करने वाला देश उसका अनुकरण नहीं कर लेता है। सरकारी नीति ऋणात्मक तौर से व्यापार को प्रभावित करती है। प्रशुल्क नीतियां, परिवहन लागतें, उत्पादक संघ आदि व्यापार से वे वस्तुएं समाप्त करने की प्रवत्ति रखते हैं जो किसी देश को थोड़ी सी ऊंची लागत पर घरेलू उत्पादन द्वारा प्राप्त होती है। अतः किसी वस्तु की उपलब्धता प्राक तिक साधनों, तकनीकी ज्ञान, वस्तु विभेदीकरण या संरक्षात्मक नीतियों की कमी के कारण होती है।

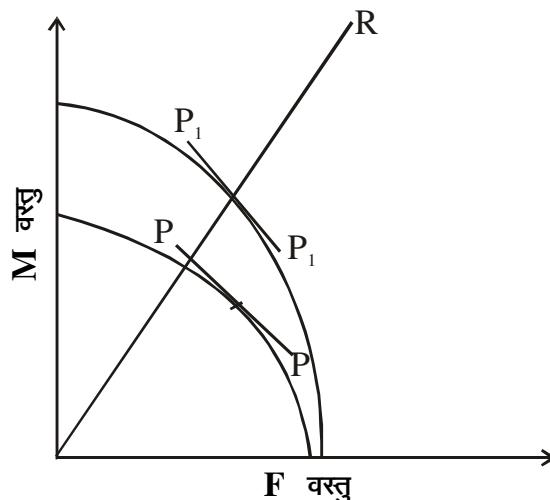
उपलब्धता सिद्धान्त को एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। मान लीजिए कि चार देश अमेरिका (A), ब्रिटेन (B), कनाडा (C) तथा डेनमार्क (D) हैं। दो वस्तुएं, खाद्य पदार्थ (F) और विनियमित पदार्थ (M) हैं। दोनों वस्तुओं के उत्पादन के लिए श्रम और पूँजी चाहिए। परन्तु F के उत्पादन में भूमि भी चाहिए और M के उत्पादन में तकनीकी ज्ञान। यह भी मान लिया जाता है कि देश A, B और C के पास भूमि है जबकि देश B, C और D के पास तकनीकी ज्ञान। अतः देश A केवल वस्तु F उत्पादित कर सकता है और देश D केवल वस्तु M, परन्तु अन्य दोनों देश B और C दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन कर सकते हैं।

मान लीजिए कि दोनों वस्तुओं F और M की रूपान्तरण की सीमान्त दर दोनों देशों B और C में स्थिर है और यह देश B में 5F के लिए 1M हैं तथा देश C में 3F के लिए 1M है। F और M के बीच एक संतुलित कीमत अनुपात विश्व मांग स्थितियों और उत्पादन सम्भावनाओं द्वारा निर्धारित होगा। उपलब्धता पर आधारित, देश A सदैव वस्तु F का निर्यात करेगा और देश D वस्तु M का निर्यात करेगा।

निष्कर्ष में, देश A वस्तु F का निर्यात देश D को करेगा, तथा देश D वस्तु M का निर्यात, उपलब्धता सिद्धान्त के आधार पर, देश A को करेगा क्योंकि प्रत्येक देश आयातित वस्तु का घरेलू तौर पर

उत्पादन नहीं कर सकता। फिर भी, देश B और C के बीच व्याख्या व्यापार तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार की जा सकती है क्योंकि दोनों देश दोनों वस्तुएं उत्पादित कर सकते हैं।

प्रो० फिंडले ने उपलब्धता सिद्धान्त का सम्बन्ध साधन अनुपात सिद्धान्त के साथ किया है। मान लीजिए कि दो देश A और B, दो वस्तुएं F और M उत्पादित करते हैं। दोनों की श्रम और पूँजी सम्पन्नताएं समान हैं तथा दोनों वस्तुओं को उत्पादित करने के लिए समान तकनीकी ज्ञान है, परन्तु देश A के पास B की अपेक्षा अधिक भूमि है। भूमि की आवश्यकता केवल वस्तु F उत्पादित करने के लिए है और तकनीकी ज्ञान केवल वस्तु M उत्पादित करने के लिए है। ये मान्यताएं होने पर, दोनों देश वस्तु M की समान मात्रा उत्पादित कर सकेंगे यदि सभी साधन इसी उद्देश्य के लिए प्रयोग किए जाते हैं। परन्तु देश B की अपेक्षा देश A वस्तु F की अधिक मात्रा उत्पादित कर सकता है क्योंकि उसके पास अधिक भूमि है, यदि सभी साधन इस वस्तु के उत्पादन में प्रयोग किए जाते हैं। निम्न चित्र में देश B का उत्पादन सम्भावना वक्र BA है और बाहर की ओर खींचा गया वक्र BA₁ देश A का है। वस्तु M को समानान्तर अक्ष पर और वस्तु F को क्षैतिज अक्ष पर लिया गया है। PP और P₁P₁ रेखाओं के



ढलान व्यापार शर्तों को तथा OR रेखा मांग समानुपातों को व्यक्त करते हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि देश वस्तु F का निर्यात करेगा। A देश में भूमि, पूँजी और श्रम का ऊँचा अनुपात यह बताता है कि यह देश वस्तु F का निर्यात करता है और B देश नहीं करता है।

फिर भी, यह तर्क दिया जा सकता है कि साधन अनुपात सिद्धान्त से उपलब्धता सिद्धान्त श्रेष्ठ है। मान लीजिए कि वस्तु F की अपेक्षा वस्तु M का पूँजी श्रम अनुपात सदैव ऊँचा है तथा देश A का देश B की अपेक्षा पूँजी-श्रम अनुपात ऊँचा है। परन्तु दोनों देशों में समान तकनीकी ज्ञान उपलब्ध है जबकि वस्तु M के उत्पादन के लिए लोहा चाहिए जो केवल देश B में प्राप्त होता है। तब देश A वस्तु F का निर्यात करेगा और देश B वस्तु M का। इसका अभिप्राय है कि पूँजी-प्रचुर देश A श्रम-गहन वस्तु F का निर्यात करेगा और B देश M वस्तु का निर्यात करेगा। साधन अनुपात तर्क के आधार पर उपरोक्त उत्तर गलत है। परन्तु यदि उपलब्धता सिद्धान्त अपनाया जाता है तो देश A में भूमि की उपलब्धता तथा देश B में लोहे की उपलब्धता होने पर यह सही होता है। यदि यह तर्क दिया जाता है कि देश A में भूमि की प्रचुरता है और देश B में लोहे की, इस कारण देश A भूमि-प्रचुर वस्तु F का निर्यात करता है तथा देश B लौह-प्रचुर वस्तु M तो साधन अनुपात सिद्धान्त भी सही उत्तर देता है। फिंडले के अनुसार, विशिष्ट प्रकार के प्राक तिक साधनों की सूची बहुत लम्बी होने के कारण, साधन अनुपात सिद्धान्त के इस प्रकार सामान्यीकरण से यह एक निकृष्ट उपकरण बन जाता है। उपलब्धता सिद्धान्त

विशेष उपभोक्ता अधिमानों जैसे स्कॉच विस्की तथा स्विच घड़ियों की व्याख्या करने के लिए भी प्रयोग किया जाता है। ऐसी स्थिति में, विदेशी उपभोक्ताओं को भूतकाल की श्रेष्ठ गुणवत्ता, विज्ञापन या किसी अन्य कारण के आधार पर ऐसी वस्तुओं के स्रोत के साथ अविवेकी लगाव होता है। इसलिए वे किसी अन्य देश से एक समरूप वस्तु की अपेक्षा उस विशेष देश से ही ऐसी वस्तु के आयात पर अधिक कीमत देने को तैयार होते हैं। अतः एक देश जो इस प्रकार की वस्तु का उत्पादन करता है, वह अपने प्रतियोगी देश की अपेक्षा अधिक अनुकूल व्यापार की शर्तों का लाभ उठाएगा।

आलोचना (Criticism)

उपलब्धता सिद्धान्त को तुलनात्मक लागत और साधन अनुपातों के सिद्धान्त के विकल्प के रूप में स्वीकृत नहीं किया गया है। आनुभाविक प्रमाण के अभाव व्यापार की अपर्याप्त व्याख्या के कारण इसकी निम्न आलोचनाएं की गई हैं।

- (1) **परीक्षण-योग्य परिकल्पनाओं को बताने में असफल** (Fails to State Testable hypotheses)- जगदीश भगवत्ती यह संकेत करता है कि उपलब्धता सिद्धान्त स्पष्टतया परीक्षण-योग्य परिकल्पनाओं को बताने में असफल होता है। फिर भी, वह इस सिद्धान्त से पांच परिकल्पनाएं निकालता है- (1) एक देश के आयातों के लिए घरेलू पूर्ति बेलोच होगी। (2) एक देश के आयातों के लिए पूर्ति की विदेशी लोच पूर्ति की घरेलू लोच से अधिक होगी। (3) एक देश के निर्यात उद्योग तकनीकी उन्नति की दरों को राष्ट्रीय औसत से अधिक दिखाएंगे। (4) एक देश के निर्यात उद्योग व्यापार कर रहे दूसरे देश के उन्हीं उद्योगों की अपेक्षा तकनीकी उन्नति की ऊँची दरों को दिखाएंगे। (5) एक देश के निर्यात प्रयोग में गहन होंगे या उनमें कच्चे माल शामिल होंगे जो कि सापेक्षितया देश में प्रचुर है। परन्तु इस प्रकार की ऐसी परिकल्पनाएं अभी तक न तो स्पष्टतया प्रतिपादित की गई हैं और न ही आनुभाविक प्रमाण द्वारा विधिवत् परीक्षण की गई हैं।
- (2) **विशेष अवस्थाओं में लागू** (Applicable in Special Cases)- उपलब्धता सिद्धान्त व्यापार ढांचे की व्याख्या के रूप में विशेष अवस्थाओं में लागू होता है। फिंडले के अनुसार, व्यापार ढांचे के मुख्य निर्धारक के रूप में प्राप्यता सिद्धान्त केवल बहुत विशेष अवस्थाओं में सत्य होता है जहां जितने देश हों उतनी ही वस्तुएं हों जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु को एक आगत (input) की आवश्यकता होती है जिसकी अन्य किसी को आवश्यकता नहीं होती, तथा प्रत्येक देश के पास इस प्रकार का केवल एक ही आगत पाया जाता है। ऐसी वस्तुओं में व्यापार की व्याख्या करने के लिए, जिनको आसानी से प्राप्त आगतें चाहिए, परस्परागत सिद्धान्त आवश्यक तौर से श्रेष्ठ है।
- (3) **व्यापार ढांचे की पर्याप्त व्याख्या नहीं** (Not an Adequate Explanation of Trade Pattern)- उपलब्धता सिद्धान्त एक देश के व्यापार ढांचे की पर्याप्त व्याख्या नहीं है। यह सम्भव है कि एक देश एक वस्तु का थोड़ी मात्रा में निर्यात कर रहा हो चाहे विदेशी उपभोक्ताओं को उसके साथ कोई लगाव न हो। या, यह सम्भव है कि देश किसी अन्य वस्तु का उत्पादन करना प्रारम्भ कर दे, जहां उसके साधनों का अधिक लाभदायकता से प्रयोग किया जा सके, चाहे विदेशी उपभोक्ताओं का इसके लिए कोई अधिमान न हो।

अध्याय-8

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उद्गम के कारण माप तथा विकासशील देशों पर इसका प्रभाव

(Causes of Emergence, Measurement and its impact of Intra-Industry trade on Developing Economics)

अर्थ

(Meaning)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से अभिप्राय उस परिस्थिति से है जब विभिन्न देश साथ-साथ उन्हीं वस्तुओं का आयात व निर्यात करते हैं। जैसे USA कारों का UK को निर्यात भी करता है तथा उससे आयात भी करता है। इसी प्रकार EC गेहूँ का USA से आयात भी करता है तथा अन्य देशों को निर्यात भी करता है। भारत कोयले का निर्यात व आयात साथ-साथ ही कर रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में रुचि 1960 के दशक में उस समय उत्पन्न हुई जब यूरोपीय देशों का European Economic Community नामक संगठन बनने के उपरान्त इन सदस्य देशों के व्यापार प्रवाह पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन किया गया। यह अध्ययन वरदूरन (Verdoorn) द्वारा किया गया। उन्होंने पाया कि देशों के मध्य व्यापार तथा विशिष्टीकरण समान वस्तु समूहों (Similar product categories) के बीच बढ़ता पाया गया न कि विभिन्न वस्तु समूहों (Different product categories) के मध्य बलासा (Blassa) द्वारा 1963-70 के मध्य किये गये अध्ययन में भी व्यापार समान वस्तुओं में बढ़ता हुआ विनिमय पाया गया। Grubel and Lloyd के अनुमान के अनुसार 1959 से 1967 तक EEC सदस्यों के व्यापार में हुई व द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में ही हुई थी।

कारण

(Causes)

अन्तर्राष्ट्रीय के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है जैसे Neo Chemblin Model, Neo-Hotaling Model आदि। इनके आधार पर Intra-Industry Trade (IIT) के प्रमुख तीन कारण हो सकते हैं जो निम्न प्रकार हैं:

1. **Country Specific:-** इस सिद्धान्त के अनुसार किसी उद्योग में IIT intensity व्यापार में भाग लेने वाले देशों की विशेषताओं पर निर्भर करता है।
2. **Industry Specific:-** IIT intensity व्यापार में भाग लेने वाले उद्योगों की वस्तुओं की मांग व पूर्ति की विशेषताओं पर निर्भर करता है।

3. **Policy Based:-** IIT intensity सरकार की नीतियों तथा संस्थाओं द्वारा प्रभावित होता है।

इनकी विस्तृत व्याख्या निम्न प्रकार की जा सकती है:

1. **Country Specific:-** इस सिद्धान्त के अनुसार IIT का औसत स्तर निम्न कारणों से प्रभावित होता है:

- Developed Market Economics (DMEs) में Less Developed Economics (LDEs) में ऊँचा तथा आय की संरचना इसके अनुकूल होती है।
- बड़ी अर्थव्यवस्थाओं में छोटी अर्थव्यवस्थाओं की तुलना में पैमाने की बचतों तथा वस्तु विभिन्नता की अधिकता पाई जाती है इसलिए IIT का उदगम होता है।
- व्यापारिक देश की रुचियों में मेल का होना तथा उनका एक दूसरे में Overlap करना भी IIT को बढ़ावा देता है।
- व्यापार करने वाले देशों की भूगोलिक स्थिति का एक दूसरे के निकट होना भी IIT को बढ़ावा देता है क्योंकि परिवहन लागत कम हो सकती है। अतः यदि देशों का विकास का स्तर ऊँचा, बाजार का ऊँचा स्तर तथा उनमें निकटता व्यापार को बढ़ावा देता है।

2. **Industry-Specific Hypotheses:-**

ये पांच प्रकार की हैं:

- Greater product Differentiation.
- Commodities where there is scope for scale economics,
- Market structure tends towards competitive conditions.
- Where there is potential for product cycle Trade or Technological Differentiation.
- Higher involvement of Multi-national or Transnational firms.

3. **Policy-Based Hypotheses:**

इन सिद्धान्तों के अनुसार

- यदि तटकर तथा अन्य व्यापारिक रूकावटें अधिक होंगी तो IIT कम होगा।
- बाजार आधारित अर्थव्यवस्थाओं में IIT अधिक होगा।
- आर्थिक संगठनों से IIT बढ़ता है जैसे EEC में यह बढ़ता पाया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का माप व अनुमान (Measure or Estimate of Intra-Industry Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अनुमान औसत व्यापार स्तर के आधार पर लगाया गया है। आयात-निर्यात की गई वस्तुओं को 9 उद्योगों में विभाजित किया गया है। 1980 में इन उद्योगों की वस्तुओं का प्रमुख देशों द्वारा उनके कुल बाह्य व्यापार का प्रतिशत भाग सारणी-1 में दर्शाया गया है। इसके बाद विपरीत बाजार अर्थव्यवस्थाओं [Democratic Market Economics, (DMEs)], नये औद्योगिक देश (Newly Industrialised Countries, NICs) तथा कम विकसित देशों (Less Developed Countries, LDCs) के मध्य परस्पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सारणी-2 के माध्यक से दर्शाया गया है।

सारणी-1**Intra-Industry Trade in Selected Countries in percentage for 1980**

Industries	USA	Japan	W.Germany	Italy	Netherlands	U.K.
1. Food and live animals	31	15	48	32	61	38
2. Beverage & tobacco	36	06	53	54	68	43
3. Crude Materials etc.	39	08	38	22	49	34
4. Mineral Fuels etc.	23	10	45	24	51	59
5. Animal and Vegetable Oils etc.	22	63	59	52	52	48
6. Chemicals	59	64	66	74	72	69
7. Manufactured Goods	63	31	52	66	70	68
8. Machinery & Transport equip.	53	49	69	51	67	80
9. Miscellaneous	40	36	48	43	66	59

Source: Greenway and Milner (1989)

सारणी-1 के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कुछेक उद्योगों में अन्तर्राष्ट्रीय अत्यधिक पाया गया है। जैसे Chemicals, Manufactured Goods and Machinery & Transport equipments में सभी देशों में अन्तर्राष्ट्रीय अधिकतम पाया गया है। Crude material, Food and Live animals में सभी देशों में कम पाया गया है। एक उद्योग (Machinery & equipments) में सबसे अधिक अन्तर्राष्ट्रीय UK में पाया गया है जो 80 प्रतिशत है। इसके विपरीत सबसे कम अन्तर्राष्ट्रीय Beverages and tobacco में पाया गया है जो जापान में केवल 6 प्रतिशत था। यदि सभी उद्योगों में अन्तर्राष्ट्रीय देशों के आधार पर देखा जाये तो सबसे कम जापान तथा सबसे अधिक Netherlands में किया जा रहा है। इसके बाद विकास के आधार पर विभिन्न प्रकार के देशों के मध्य हो रहे व्यापार का अध्ययन निम्न सारणी-2 द्वारा किया गया है।

सारणी-2 : Average levels of Intra-Industry Trade for Country types (1978)

(Percentage)

Type of Country	Total Trade	Trade with DMEs only	Trade with all LDCs	Trade with NIEs only
1. Developed Market Economies (DMEs)	59	64	21	-
2. Newly Industrialised Economies (NIEs)	42	48	38	31
3. Less Developed Countries (LDCs)	15	10	22	-

Source : Adapted from Haurylyshyn (1983) by Greenway and Milner (1989)

सारणी-2 में Developed Market Economics, Newly Industrialised Economics and Less Developed Economics के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के औसत रूप को उनके कुल व्यापार का प्रतिशत के रूप में दर्शाया जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सबसे अधिक सभी DMEs के मध्य है। इसके बाद NICs में तथा सबसे कम महत्वपूर्ण LDCs में है।

अध्याय-9

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ (Gains from International Trade)

सामान्य तौर पर दो व्यापारी तभी व्यापार करते हैं जब उन्हें लाभ होता है एडम स्मिथ का मानना था कि किन्हीं भी दो स्थानों के बीच विदेशी व्यापार होने पर इन्हें दो प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं। प्रथम, व्यापार उनके उत्पादन के लिए विदेशों में मांग उत्पन्न करता है जिनकी देश में पर्याप्त मांग नहीं होती तथा दूसरे व्यापार के कारण ऐसी वस्तुओं का उपभोग करना सम्भव हो जाता है जिनका देश में उत्पादन या तो सम्भव नहीं होता अथवा पर्याप्त मात्रा में उत्पादन नहीं होता।

रिकार्डों के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ कम लागत पर विदेशी वस्तुयें प्राप्त करने से होता है इससे वस्तुओं की मात्रा बढ़ जाती है जिससे लोगों की खुशहाली का स्तर भी बढ़ जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभों को मुख्य रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है-

- (i) रौद्रिक लाभ तथा
- (ii) प्रवैगिक लाभ।

रौद्रिक लाभ- अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण श्रम विभाजन एवं विशेषीकरण को बढ़ावा मिलता है जिसके कारण प्रत्येक देश को लाभ प्राप्त होता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रारम्भ होने के बाद उत्पादक अपनी वस्तुओं के मूल्यों में सापेक्षिक परिवर्तन एवं साधनों का कुशलतापूर्वक आंबटन कर सकते हैं, जिसके कारण राष्ट्रीय उत्पादन में व द्विः हो जाती है, फलस्वरूप उपभोक्ताओं को अधिक संतोष प्राप्त होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होने वाले रौद्रिक लाभों को मापा जा सकता है। प्रो० जैकब वाइनर के अनुसार इन लाभों को तीन विधियों की सहायता से मापा जा सकता है-

- (i) वास्तविक आय में व द्विः का मापन तुलनात्मक लागत सिद्धान्त द्वारा।
- (ii) देश की राष्ट्रीय आय में व द्विः, तथा
- (iii) व्यापार शर्तों में सुधार के द्वारा।

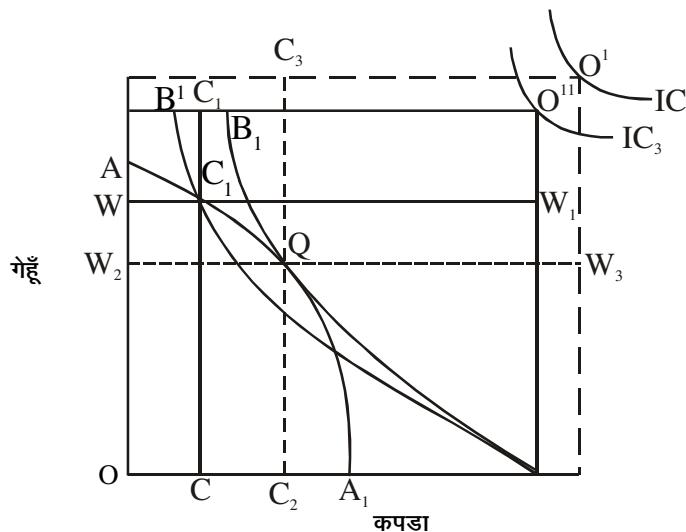
- (1) **तुलनात्मक लागत विधि-** इस विधि के अन्तर्गत कुल वास्तविक लागत घटाना ही लाभ का आधार माना गया है। रिकार्डों के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्तर्गत प्रत्येक देश उन वस्तुओं का निर्यात करता है, जिनकी घरेलू लागत कम होती है तथा उन वस्तुओं का आयात करता है, जिनकी घरेलू लागत अधिक होती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उत्पत्ति के साधनों के प्रयोग में मितव्ययता, सामान्य उपभोग की वस्तुओं तथा आनन्द-प्राप्ति के साधनों में व द्विः सम्भव होती है। मात्थस के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्तर्गत निर्यात-वस्तुओं के बदले प्राप्त आयात-वस्तुएँ समाज की आवश्यकताओं के अधिक अनुरूप होती हैं। इससे हमारी वस्तुओं के विनियम-मूल्य, आनन्द-प्राप्ति के साधनों और सम्पत्ति में व द्विः होती है। तुलनात्मक लागत विधि

की आलोचना करते हुए वाइनर ने लिखा है कि 'वस्तुओं के समूह' की गणना हेतु वास्तविक राष्ट्रीय आय के सूचकांक का प्रयोग आवश्यक है, जिसमें पर्याप्त जटिलताएँ उत्पन्न हो सकती हैं। दूसरे, 'आनन्द के योग' (Sum of Enjoyment) की प्रत्यक्ष गणना भी सम्भव नहीं है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभों को कल्याणवादी अर्थशास्त्र की सहायता से भी मापा जा सकता है। सर्वप्रथम हम विश्व कल्याण पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रभाव देखेंगे, तत्पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का व्यक्तिगत देशों पर प्रभाव देखेंगे।

विश्व कल्याण (World Welfare)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण विश्व में उत्पादन के साधनों का अधिक कुशलता से आबंटन होने लग जाता है जिसके कारण उत्पादन व द्विः हो जाती है और विश्व कल्याण में व द्विः हो जाती है। इसे रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। माना विश्व में केवल दो देश A तथा B हैं जो केवल दो वस्तुयें- गेहूँ एवं कपड़ा उत्पादित करते हैं।



प्रस्तुत रेखाचित्र में X-अक्ष पर कपड़े की मात्रा तथा Y-अक्ष पर गेहूँ मात्रायें मापी गई हैं। देश A तथा B का उत्पादन सम्भावना वक्र क्रमशः AA तथा BB' है। देश A, G बिन्दु पर उपभोग तथा उत्पादन करता है। इस दशा में देश A गेहूँ की OW मात्रा तथा कपड़े की OC मात्रा का उत्पादन तथा उपभोग करता है। इसी प्रकार A देश के समान ही B देश का उत्पादन सम्भावना वक्र खींचा गया है जो AA' उत्पादन सम्भावना वक्र पर ठीक उल्टा कर दिया है। यह वक्र AA, उत्पादन सम्भावना वक्र को G बिन्दु पर काटता है। इस दशा में B देश गेहूँ की O'W, मात्रा तथा कपड़े का कुल उत्पादन क्रमशः OX' (WG+GW₁) तथा OY (CG+CG) होता है। दोनों देश एक साथ कल्याण प्राप्त करते हैं जिसे विश्व समुदाय के तटस्थिता वक्र IC₃ जो बिन्दु 'O' का स्पर्श करता है, दर्शाया गया है।

G बिन्दु पर दोनों देशों के साधनों का आबंटन अनुकूलतम नहीं है। अनुकूलतम साधन के आबंटन के लिये दोनों देशों के उत्पादन सम्भावना वक्र एक-दूसरे को स्पर्श करेंगे। यह स्थिति प्रस्तुत रेखाचित्र में Q बिन्दु पर दर्शायी गई है। इस दशा में B देश का उत्पादन सम्भावना वक्र सिखकर B₁'B' हो जायेगा। इस स्थिति में दोनों देशों का गेहूँ तथा कपड़े का कुल उत्पादन क्रमशः OX' तथा O''X' प्राप्त होगा। स्पष्टतः दोनों देशों के उत्पादन में व द्विः हो जाती है। इस स्थिति में विश्व का समुदाय तटस्थिता वक्र IC, हो जायेगा जो O' को स्पर्श करता है। यह वक्र

प्रारम्भिक तटस्थता वक्र से ऊपर होता है जो अधिक विश्वकल्याण को दर्शाता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से आर्थिक कल्याण में व द्विः होती है।

व्यक्तिगत देशों का कल्याण (Welfare of Individual Countries)

अब तक जो विवेचना की गई है, इसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से विश्वकल्याण में जो व द्विः होती है, उसकी विवेचना की गई है। सभ्व है कि व्यापार से एक देश को अत्यधिक लाभ होता हो, जबकि दूसरे देश को इससे कोई लाभ प्राप्त न होता हो। किन्तु सामान्यतया ऐसा नहीं होता है। कोई देश छोटा हो या बड़ा व्यापार शर्तों के अधिक अनुकूल होने तथा कुछ विशिष्टीकरण के कारण लाभ अवश्य प्राप्त करता है। इसका माप आयात या निर्यात किसी वस्तु के रूप में आवश्यक होता है।

प्रस्तुत रेखाचित्र में व्यापार से पूर्व घरेलू विनिमय अनुपात रेखा M, N , है तथा व्यापार के पश्चात् वस्तुओं की तुलनात्मक मूल्य रेखा है।

निर्यात मूल्य में व द्विः के फलस्वरूप उत्पादक
ओर उपभोक्ता के जीवन सार में होने वाले
परिवर्तन की व्याख्या

N_1

$N_2 \quad N_3 \quad N_4 \quad N_1$
 x वस्तु

यदि हम आयात वस्तु को मापक के रूप में लें तो ज्ञात होता है कि उस वस्तु के रूप में आय में व द्विः होती है तथा साथ में निर्यातित वस्तुओं के मूल्य में भी व द्विः होती है। आय में व द्विः तो उत्पादकताओं को प्राप्त होती है तथा निर्यात वस्तुओं में मूल्य व द्विः से उपभोक्ताओं की आय में ह्रास होता है और इस प्रकार दोनों का योग करने पर विशुद्ध लाभ प्राप्त होता है। यदि हम आयात वस्तु का X के रूप में मापें तो उत्पादक की आय OM_1 से बढ़कर OM_4 हो जाती है किन्तु, उपभोक्ताओं को पूर्व तटस्थता वक्र पर बनाये रखने के लिये उन्हें $M_2 M_2$ के अतिरिक्त आय की आवश्यकता होगी। इस प्रकार विशुद्ध लाभ केवल $M_2 M_4 (OM_4 - OM_2)$ होगा। इसी प्रकार यदि X -वस्तु को निर्यात वस्तु के रूप में मान लें तो व्यापार के कारण उत्पादन मूल्य में गिरावट आती है और उपभोक्ता की आय में व द्विः हो जाती है। इस दशा में उपभोक्ता को पूर्व तटस्थता वक्र पर बने रहने के लिये $N_2 N_1$ की बचत होती है किन्तु उत्पादक को $N_4 N_1$ के बराबर हानि होती है और समुदाय को $N_2 N_3 = M_2 M_4$ के बराबर विशुद्ध लाभ प्राप्त होगा।

- (2) **व्यापार की शर्तें-** 'पारस्परिक मौँग सिद्धान्त' के माध्यम से लाभ के स्वरूप का निर्धारण जॉन स्टुअर्ट मिल की सबसे बड़ी उपलब्धि थी। मिल ने बताया कि तुलनात्मक लागतों के साथ ही व्यापार की शर्तें (जिन्हें पारस्परिक मौँग निर्धारित करती हैं) उस आधार को प्रस्तुत करती हैं, जिसके अनुसार विभिन्न देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों का वितरण होता है। जेवन्स (Jevons) ने मिल के विचारों से असहमति व्यक्त करते हुए बताया कि 'लाभ की कुल मात्रा' कुल उपयोगिता पर निर्भर होती है, जबकि व्यापार की शर्तों का सम्बन्ध उपयोगिता के अन्तिम

अंश से होता है। अतः लाभ की गणना इस आधार पर की जानी चाहिए कि निर्यात-वस्तुओं में परित्याग की गई उपयोगिता की तुलना से आयातित वस्तुओं से कुल कितनी अधिक उपयोगिता प्राप्त हुई है। मार्शल के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ (या अतिरेक) में व द्वितीय होगी, यदि आयात की प्रत्याशित उपयोगिता तथा निर्यात की प्रत्याशित अनुपयोगिता बढ़ जाती है।

- (3) **वास्तविक आय में व द्वितीय व्यापार** के अनुसार, किसी देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ उस समय होता है, जब उसकी वास्तविक आय बढ़ जाती है। व्यापार से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर वस्तुओं की कीमतों में समानता स्थापित हो जाती है। अतः जिन देशों से मौद्रिक आय का स्तर ऊँचा होता है, वहाँ के उपभोक्ताओं को व्यापार की वस्तुओं से कम मौद्रिक आय वाले देश के उपभोक्ताओं की तुलना में अधिक लाभ होता है। आय के सन्दर्भ में लाभ की गणना इस आधार पर भी की जा सकती है कि व्यापार न होने की स्थिति में किसी देश को सापेक्षिक रूप से वास्तविक आय में कमी ताकि लागत-व द्वितीय के रूप में कितनी हानि होगी।

व्यापार से गत्यात्मक लाभ (Dynamic Gains from Trade)

व्यापार के उक्त वर्णित लाभ स्थैतिक हैं जब उपभोक्ताओं को वस्तुयें देश में उत्पन्न करने की अपेक्षा विदेश से कम लागत पर प्राप्त होती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से गत्यात्मक लाभ भी होते हैं। व्यापार आरम्भ होने से निर्वाह के विवारिक के विवरण से बदलने लगती है। विदेशी आयातों के भुगतान के लिये निर्यात करने की अनिवार्यता के विवरण और कुशलता प्राप्त करने की प्रेरणा उत्पन्न करती है। विदेशी से नई तकनीक प्राप्त होती है। सड़कों और रेलों का विकास होता है। यह लाभ नापे नहीं जा सकते, किन्तु यह विकास के इंजिन (Engine of Growth) का कार्य करते हैं।

संक्षेप में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से निम्न लाभ प्राप्त होते हैं-

- (i) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन से विश्व के संसाधनों का सर्वोत्तम वितरण होता है जिससे उनका कुशलता से प्रयोग किया जा सकता है।
- (ii) विश्व के कुल उत्पादन में बढ़ोत्तरी होती है।
- (iii) व्यापार के कारण प्रत्येक देश में विभिन्न वस्तुओं की प्राप्ति से उपभोग में व द्वितीय हो जाती है।
- (iv) व्यापार से प्रत्येक देश में विनिमय की जा सकने वाली वस्तुओं के उत्पादन और मूल्य में व द्वितीय हो जाती है।
- (v) व्यापार के कारण प्रत्येक देश के कल्याण में व द्वितीय हो जाती है, फलतः सम्पूर्ण विश्व के कल्याण में व द्वितीय हो जाती है।

व्यापार से लाभों को निर्धारित करने वाले कारक (Factors Determining the Gains from Trade)

अनेक कारक हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभ को निर्धारित करते हैं:-

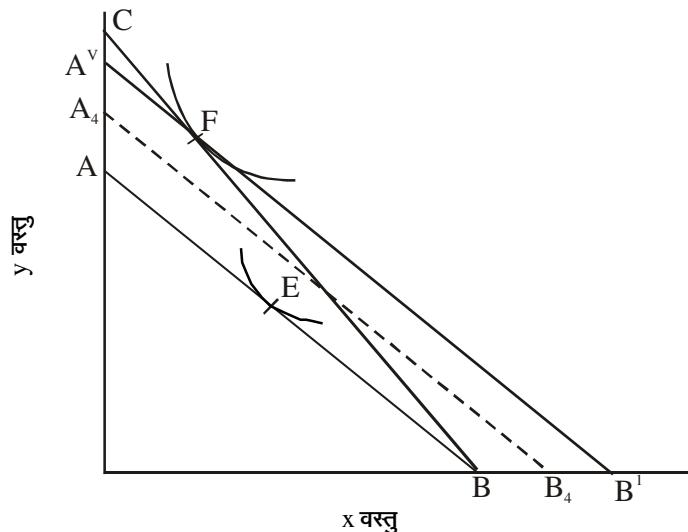
- (1) **लागत अनुपातों में अन्तर** (Differences in Cost Ratios)- अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ दो व्यापार करने वाले देशों के तुलनात्मक लागत अनुपातों के अन्तर पर निर्भर करता है। “यदि और जब कभी व्यापारी यह देखते हैं कि विदेशों में कीमतों का उनके घरेलू अनुपात से बहुत भिन्न अनुपात विद्यमान है, तो देश को विदेशों के साथ व्यापार करने से लाभ होता है। वे उस चीज को खरीदते हैं जो उन्हें सस्ती प्रतीत होती है और उस चीज को बेच देते हैं जो उन्हें महंगी

प्रतीत होती है। जब उन्हें कम लाभ और अधिक प्रतीत होते हैं तो उन लाभों के बीच अन्तर जितना अधिक होगा और प्रभावित वस्तु जितनी अधिक महत्वपूर्ण होगी, व्यापार से लाभ भी उतना ही अधिक होगा। यदि देश A को गेहूँ के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ अधिक है और देश B को रुई के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ अधिक है, तो व्यापार से दोनों देशों को लाभ होगा। लाभ का आकार इस बात पर निर्भर करेगा कि दोनों देशों में प्रत्येक वस्तु के उत्पादन की लागत क्या है। यदि श्रम की कुशलता बढ़ने पर देश A में गेहूँ के उत्पादन की लागत गिर जाती है, तो व्यापार से देश B को अधिक लाभ होगा और यदि देश में रुई के उत्पादन की लागत गिरती है, तो व्यापार से A देश को अधिक लाभ होगा। इस प्रकार, तुलनात्मक लागत अनुपातों में जितने अधिक अन्तर होंगे, व्यापार से उतना ही अधिक लाभ होगा।

- (2) **पारस्परिक मांग (Reciprocal Demand)-** व्यापार की शर्तें पारस्परिक मांग पर, अर्थात् किसी देश की अपने उत्पादन के बदले दूसरे देश के उत्पादन के लिए मांग की सापेक्ष शक्ति और लोच पर निर्भर करती हैं। ऊपर दिए गए उदाहरण में यदि वस्तु Y के लिए A की मांग अधिक गहन (बेलोच) है, तो व्यापार की शर्तें $1X=1Y$ के निकट होंगी। व्यापार की शर्तें B के अनुकूल और देश A के प्रतिकूल हो जाएंगी। B को अधिक और A को कम लाभ होगा। दूसरी ओर, यदि वस्तु Y के लिए देश A की मांग कम गहन (अधिक लोचदार) होगी, व्यापार की शर्तें A के अनुकूल और B के प्रतिकूल हो जाएंगी। व्यापार के परिणामस्वरूप A को अधिक और B को कम लाभ होगा। इस प्रकार व्यापार से उस देश को तब अधिकतम लाभ होता है जिसकी विदेशी वस्तुओं की मांग बहुत लोचदार होती है जबकि उसकी वस्तुओं की दूसरे देश की मांग बहुत बेलोच होती है।
- (3) **आय का स्तर (Level of Income)-** किसी देश की मुद्रा-आय का स्तर भी एक ऐसा कारक है जो व्यापार के लाभ और हिस्से को निर्धारित करता है। जिस देश की वस्तुओं की मांग अन्य देशों में स्थिर होगी उसका मौद्रिक आय का स्तर ऊँचा होगा। यदि उसके निर्यात अधिक होंगे, तो उसके निर्यात उद्योगों का विस्तार होगा। परिणामस्वरूप, इन उद्योगों में मुद्रा मजदूरी का स्तर बढ़ेगा। परन्तु देश में आयातित विदेशी वस्तुओं की कीमतें कम होंगी, जबकि लोगों की मौद्रिक आय का स्तर ऊँचा होगा। इसलिए देश के लोगों को लाभ होगा क्योंकि वे सर्वती आयातित वस्तुओं, का उपभोग करेंगे। इसके विपरीत जिस देश की विदेशी वस्तुओं के लिए मांग अधिक होगी, उसकी मौद्रिक आय कम होगी। क्योंकि विदेशी वस्तुओं के लिए उसकी मांग अधिक होगी, इसलिए विदेशी वस्तुओं की कीमतें अधिक होंगी। परिणाम यह होगा कि उस देश के लोगों को हानि क्योंकि वे महंगी आयातित वस्तुओं का उपभोग करेंगे।
- (4) **व्यापार की शर्तें (Terms of Trade)-** व्यापार से लाभों को निर्धारित करने वाला सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारक है, व्यापार की शर्तें। व्यापार की शर्तों से तात्पर्य वह दर है जिस पर एक देश की वस्तुओं का एक दूसरे देश की वस्तुओं से विनियम होता है। यह दर व्यापार की उन वस्तु विनियम शर्तों को बताती है जिन्हें मिलने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों को निर्धारित करने और लाभों के वितरण के लिए प्रयोग किया था, जैसा कि ऊपर चित्र में स्पष्ट किया गया है। आधुनिक विश्लेषण में भी व्यापार की शर्तें व्यापार के लाभों को निर्धारित करती हैं। व्यापार के अभाव की स्थिति में देश को व्यापार की दी हुई शर्तों का सामना करना पड़ता है। (जिसे चित्र में घरेलू कीमत रेखा P_1 द्वारा दिखाया गया है।) परन्तु अब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है, तो व्यापार की शर्तें बदल जाती हैं और व्यापार की घरेलू शर्तों से भिन्न हो जाती है। व्यापार की अन्तर्राष्ट्रीय शर्तें ही (जिन्हें चित्र में P_1 और P_2 रेखाओं से प्रदर्शित किया गया है) व्यापार से होने वाले लाभों को निर्धारित करती हैं।

व्यापार से लाभों को मापना (Measuring the Gains from Trade)

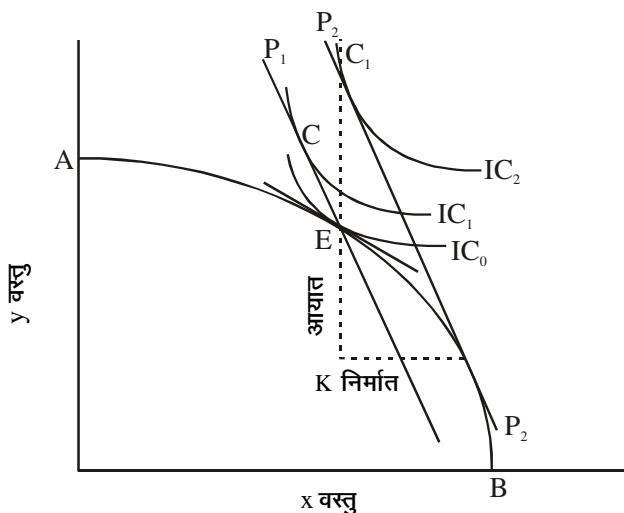
(क) प्रतिष्ठित सिद्धान्त (Classical Theory)- रिकार्डो के प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार कोई देश उन वस्तुओं का निर्यात करेगा जिनमें उसकी तुलनात्मक लागतें कम होंगी और उन वस्तुओं का आयात करेगा जिनमें उसकी उत्पादन लागतें ऊँची होंगी।'' इस प्रकार देश अपने संसाधनों के प्रयोग में किफायत करता है जिससे संसाधनों की दी हुई मात्रा के बदल वह उसकी अपेक्षा अधिक आय प्राप्त करता है जो उसे तब प्राप्त होती है जब वह हर वस्तु का उत्पादन स्वयं करता है।'' प्रोफेसर रोनल्ड फिंडले ने अपनी पुस्तक Trade and Specialisation (1970) में रिकार्डो के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ के सिद्धान्त को चित्र की सहायता से स्पष्ट किया है। व्यापार से पहले की स्थिति में, AB उस देश का उत्पादन सम्भावना वक्र है जो श्रम लागत की मात्रा के दिये हुए होने पर दो वस्तुओं X तथा Y का उत्पादन करता है। AB वक्र पर देश बिन्दु E पर सन्तुलन में है। व्यापार में शामिल होने के बाद CB रेखा की ढलान इस देश का अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात प्रदर्शित करती है। मान लीजिए कि यह देश CB रेखा के बिन्दु F पर सन्तुलन में है। यदि F पर संयोग द्वारा व्यक्त X तथा Y की मात्राओं का देश में ही उत्पादन करना है, तो श्रम लागत की मात्रा को इतना बढ़ाना पड़ेगा जो घरेलू उत्पादन सम्भावना वक्र को AB से सरकरकर A'B' पार पहुंचा दे। इस प्रकार व्यापार से होने वाले लाभ को BB'/OB मापेगा।



(ख) आधुनिक सिद्धान्त (Modern Approach)- आधुनिक व्यापार सिद्धान्त में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभों को स्पष्ट रूप से विनिमय से लाभ तथा विशिष्टीकरण से लाभ में विभक्त किया गया है। मांग और पूर्ति के आधार पर इस विश्लेषण को बन्द अर्थव्यवस्था के सामान्य संतुलन के रूप में स्पष्ट किया जाता है। यह एक तो रूपान्तरण वक्र को समुदाय उदासीनता वक्र के स्पर्श द्वारा और दूसरे उपभोग एवं उत्पादन वस्तुओं की स्थानापन्नता की सीमान्त दरों की घरेलू व्यापार शर्तों अथवा वस्तु कीमत अनुपात के साथ समानता द्वारा होता है। ''जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार शुरू किया जाता है तो विनिमय से भी लाभ होता है और विशिष्टीकरण

से भी लाभ होता है। जब सन्तुलन स्थापित हो जाता है और ये लाभ अधिकतम हो जाते हैं, तो उत्पादन में रूपान्तरण की नई सीमान्त दर और उपभोग में स्थानापन्त्रिता की नई सीमान्त दर अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात अथवा व्यापार की शर्तों के बराबर होती है।” इस प्रकार व्यापार से पहले के स्तर की अपेक्षा अधिक उत्पादन तथा उपभोग करके उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनों ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ प्राप्त करते हैं।

चित्र में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभों की व्याख्या की गई है। AB रूपान्तरण वक्र है जो अर्थव्यवस्था के पूर्ति पक्ष को प्रदर्शित करता है और IC_0 समुदाय उदासीनता वक्र है जो अर्थव्यवस्था के मांग पक्ष को व्यक्त करता है। बन्द अर्थव्यवस्था (व्यापार न करने वाली अर्थव्यवस्था) के सन्तुलन को बिन्दु E प्रदर्शित करता है जहां AB तथा IC_0 वक्र एक दूसरे को स्पर्श करते हैं और दोनों ही व्यापार की घरेलू शर्तों अथवा वस्तु कीमत अनुपात रेखा P के बराबर है।



जब अन्तर्राष्ट्रीय (अथवा स्वतन्त्र) व्यापार शुरू होगा, तो अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात (व्यापार की शर्तों) घरेलू कीमत अनुपात (व्यापार की घरेलू शर्तों) से भिन्न होगी। इसे P_1 से दिखाया गया है जो घरेलू कीमत अनुपात P से अधिक तिरछा (Steeper) है। इसका मतलब है कि विश्व के बाजार में वस्तु Y के मुकाबले वस्तु X की कीमत बढ़ गई है। अन्तर्राष्ट्रीय कीमत रेखा P_1 पर, उपभोक्ता IC_0 वक्र के बिन्दु E से अपेक्षाकृत अधिक ऊँचे समुदाय उदासीनता वक्र IC_1 के बिन्दु C पर चले जाते हैं। बिन्दु E से C पर विनियम से लाभ अथवा उपभोग लाभ को मापती है जो कि उत्पादन में किसी प्रकार का परिवर्तन हुए बिना ही होता है।

क्योंकि विश्व के बाजार में X की कीमत बढ़ गई है, इसलिए उत्पादक इसका उत्पादन बढ़ाते हैं और Y का उत्पादन घटाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि रूपान्तरण वक्र पर बिन्दु E से N तक गति होती है जहां अन्तर्राष्ट्रीय कीमत रेखा P_2 वक्र AB को स्पर्श करती है। दूसरे शब्दों में, उत्पादन में रूपान्तरण की सीमान्त दर N बिन्दु पर अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात के बराबर हो जाती है। विश्व-व्यापार शर्तों का नया अनुपात P_2 वही है जो कि P_1 है, क्योंकि यह P_1 के समानान्तर है। बिन्दु N पर देश वस्तु Y के KC' आयातों के बदले वस्तु X का NK निर्यात करता है।

X के उत्पादन में विशिष्टीकरण बढ़ने का परिणाम यह होता है कि उपभोग CI_1 वक्र के बिन्दु C से सरक कर CI_2 वक्र के बिन्दु C' पर पहुंच जाता है, जहां पर उपभोक्ता X तथा Y दोनों की अपेक्षाकृत

अधिक मात्राओं का उपभोग करते हैं। C से C' तक यह गति उत्पादन से विशिष्टीकरण से लाभ अथवा उत्पादन लाभ को मापती है। बिन्दु C' पर स्थानापन्नता की सीमान्त दर और अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात बराबर है। इसलिए N तथा C' बिन्दुओं पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ अधिकतम हो जाते हैं, क्योंकि उत्पादन में रूपान्तरण की सीमान्त दर और उपभोग में स्थानापन्नता की सीमान्त दर दोनों ही अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात P₂ के बराबर है। स्वतन्त्र व्यापार से जो कुल लाभ होता है वह उपभोग तथा उत्पादन लाभों के योग के बराबर है जिसे दिखाने के लिए कल्याण में सुधार Cl₀ से Cl₂ दिखाया गया है।

इन सिद्धान्तों में प्रमुख अन्तर यह है कि प्रतिष्ठित सिद्धान्त जहां केवल पूर्ति पक्ष पर जोर देता है, आधुनिक सिद्धान्त मांग व पूर्ति दोनों ही पक्षों पर जोर देता है। एक अन्य अन्तर यह है कि प्रतिष्ठित सिद्धान्त लाभों की माप स्थिर लागतों के अन्तर्गत करता है जबकि आधुनिक सिद्धान्त तीनों ही लागत दशाओं के अन्तर्गत लाभों की माप करता है।

अध्याय-10

गत्यात्मक कारकों का प्रभाव और व्यापार का उद्भव (Role of Dynamic Factor and Emergence of Trade)

इस Topic को हमने चार भागों में बांटा है जिनका हम नीचे एक-एक करके विश्लेषण कर रहे हैं:-

1. Factor Endowment and Emergence of Trade. - **Rybsznski Theorem**
2. Technology Change and Emergence of Trade.
3. Change in Taste and Emergence of Trade.
4. Some Other Dynamic Factors and Emergence of Trade.

Factor Endowment and Emergence of Trade

- *Rybsznski Theorem*

रिजबेंस्की प्रमेय (Rybsznski Theorem)

किसी भी देश का विदेशी व्यापार अन्य कारकों के अलावा अर्थव्यवस्था में होने वाली तकनीकी उन्नति और साधनों की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों पर भी निर्भर करता है। तकनीकी उन्नति के कारण उत्पादकता और उत्पादन स्तर में व द्विः होती है जिसके फलस्वरूप विश्व के कल्याण में व द्विः होती है। परन्तु तकनीकी उन्नति क्या सदैव ही देश विशेष के कल्याण को बढ़ाती है? साधन की मात्रा में परिवर्तन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रक्रिया के तथा देश के विकास को किस सीमा तक प्रभावित करते हैं? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर देने के लिए हम यह मान लेते हैं कि उत्पादन के दो साधन श्रम व पूँजी हैं, दो देश A व B हैं जो x और y वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। यदि हम यह मान लें कि दोनों में तकनीकी का स्तर स्थिर है तब एक देश में किसी एक साधन माना श्रम की मात्रा अथवा पूँजी के स्टाक में व द्विः होने पर दोनों देशों के व्यापारिक सम्बंधों में क्या परिवर्तन होंगे, यह जानने के लिए हमें रिजबेंस्की प्रमेय (Rybsznski theorem) को जानना होगा।

मान्यताएं

(Assumptions of Rybsznski theorem)

यह प्रमेय निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है:

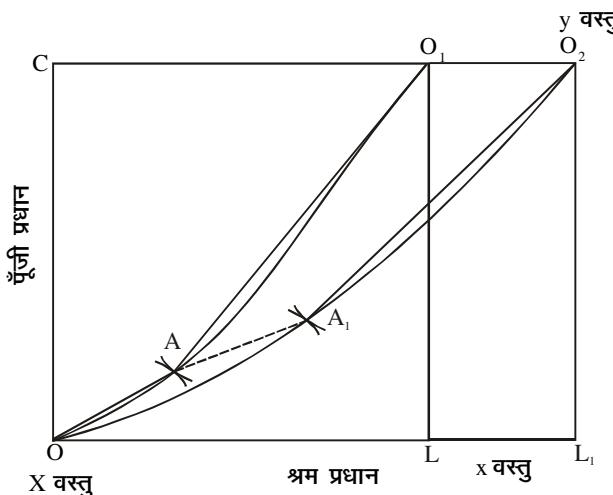
1. दो देश हैं जो एक दूसरे के साथ व्यापार करते हैं। परन्तु विश्लेषण ज्यामितीय रूप से एक देश तक ही सीमित है।
2. यह देश केवल दो वस्तुओं X तथा Y का उत्पादन करता है।

3. इन वस्तुओं का उत्पादन दो साधनों, श्रम तथा पूँजी से किया जाता है।
4. ये दो साधन पूर्ण रूप से विभाज्य, पूर्ण रूप से गतिशील और कुछ सीमा तक परस्पर स्थानापन्नीय हैं।
5. दोनों वस्तुओं के उत्पादन फलन रेखीय और समरूप हैं।
6. प्रत्येक वस्तु की साधन गहनता भिन्न-भिन्न है। वस्तु X सापेक्ष रूप से श्रमगहन और Y वस्तु सापेक्ष रूप से पूँजी-गहन है।
7. वस्तु कीमतें तथा साधन कीमतें दोनों ही स्थिर हैं।
8. वस्तु तथा साधन बाजारों में पूर्ण प्रतियोगिता है।
9. केवल एक साधन पूर्ति में परिवर्तन किया जाता है, जबकि दूसरे साधन की पूर्ति स्थिर रखी जाती है।

व्याख्या

(Explanation)

इन मान्याताओं के दिए हुए होने पर, रिब्जिन्स्की प्रमेय को चित्र में संदूक रेखाचित्र की सहायता से स्पष्ट किया गया है। इस चित्र में वस्तु X के उत्पादन का मूल बिन्दु O है और वस्तु Y के उत्पादन का मूल बिन्दु O_1 है देश की मूल साधन सम्पन्नाताओं को संदूक OLO_1C द्वारा मापा गया है। इस संदूक में श्रम को क्षैतिज अक्ष पर और पूँजी को अनुलम्ब अक्ष पर लिया गया है। मान लीजिए कि प्रारम्भिक



उत्पादन का बिन्दु A है जो संविदा वक्र OAO_1 पर इस प्रकार स्थित है कि प्रत्येक वस्तु के पूँजी-श्रम अनुपात को रेखाएं OA तथा O_1A की ढलानों द्वारा व्यक्त करता है। OA की ढलान बताती है कि (क्षैतिज पक्ष में) वस्तु Y की अपेक्षा X श्रम-गहन है। इसी प्रकार O_1A की ढलान बताती है कि वस्तु X की अपेक्षा वस्तु Y पूँजी गहन है। रेखा OA वस्तु X के उत्पादन को तथा रेखा O_1A वस्तु Y के उत्पादन को भी व्यक्त करती है। OL श्रम की पूर्ति है और OC पूँजी की पूर्ति है।

मान लीजिए कि श्रम की पूर्ति OL से बढ़कर OL_1 हो जाती है। जब श्रम की मात्रा में LL_1 की वृद्धि होती है तो संदूक OL_1O_2C बन जाता है। क्योंकि स्थिर वस्तु कीमतों पर प्रत्येक वस्तु में पूँजी-श्रम अनुपात अपरिवर्तित रहता है, इसलिए नया उत्पादन बिन्दु A_1 है जो बढ़ाई गई OA रेखा पर और O_1A के समानान्तर खींची गई नई रेखा O_2A_1 पर स्थित है। नया उत्पादन बिन्दु A_1 जो संविदा वक्र OA_1O_2 पर स्थित है, बताता है कि श्रम-गहन वस्तु X का उत्पादन OA से बढ़कर OA_1 हो जाता है और पूँजी-गहन वस्तु Y का उत्पादन O_1A से गिर कर O_2A_1 रह जाता है।

रिब्जिन्स्की ने उक्त प्रमेय को ऐसे रेखाचित्र में प्रस्तुत किया है जो उत्पादन संभावना वक्रों को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार चित्र में श्रम-गहन वस्तु X की मात्राओं को क्षैतिज अक्ष मापता है और पूँजी-गहन वस्तु Y की मात्राओं को अनुलम्ब अक्ष मापता है। चित्र में उत्पादन संभावना वक्र KL चित्र के संदूक OLO_1C से व्युत्पन्न किया गया है। वस्तु X तथा Y में संतुलन विनिमय दर मूल उत्पादन

पूँजी-गठन

X वस्तु (श्रम गठन)

संभावना वक्र के बिन्दु A पर है। जब हम श्रम की पूर्ति बढ़ाते हैं, तो नया उत्पादन संभावना वक्र चित्र में K_1L_1 बनता है जो चित्र के संदूक OL_1O_2C से व्युत्पन्न किया गया है। नया संतुलन बिन्दु A₁ पर है जहां कीमत रेखा P₁P₁ मूल कीमत रेखा pp के समानान्तरण है। परन्तु यदि Y घटिया वस्तु नहीं है, तो यह बिन्दु A₁ नए अधिक ऊंचे आय स्तर पर संभवतः संतुलन स्थिति नहीं हो सकती है। श्रम की पूर्ति बढ़ने के परिणामस्वरूप प्राप्त अधिक ऊंचे उत्पादन संभावना वक्र K₁L₁ का मतलब है कि राष्ट्रीय आय बढ़ी है। इसके परिणामस्वरूप दोनों वस्तुओं की मांग बढ़ेगी। इसलिए नया संतुलन बिन्दु अवश्य ही नए उत्पादन संभावना वक्र K₁L₁ के चतुर्थांश (Quadrant) QAR के भीतर स्थित होगा। उदाहरणार्थ, उत्पादन संभावना वक्र K₁L₁ के किसी भी बिन्दु Q, B अथवा R पर स्पर्श करने वाली रेखा की ढलान A पर स्पर्श करने वाली रेखा की अपेक्षा अधिक चपटी होगी। इसका मतलब है कि पूँजी-गठन वस्तु Y की तुलना में श्रम-गठन वस्तु X की व्यापार की शर्तें और खराब हो जाएंगी। यह इस प्रस्थापना को सिद्ध करता है कि जिस साधन की मात्रा बढ़ जाती है और उस साधन का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग करने वाली वस्तु की व्यापार की शर्तें बिगड़ जाती हैं। तदनुसार खुली अर्थव्यवस्था के संबंध में, रिबिजन्स्की ने निष्कर्ष प्रस्तुत किया है “अब यदि यह मान लिया जाए कि जिस साधन की मात्रा बढ़ी है उसका अधिक उपयोग करने वाली नियर्यात की मद है तो उसकी बाह्य व्यापार की शर्तें बिगड़ेंगी और इसके विपरीत यदि वह वस्तु आयात की मद है तो उसकी व्यापार की शर्तों में सुधार होगा।” यदि देश छोटा है और इस स्थिति में नहीं है कि अपने आन्तरिक समायोजनों से विश्व के कीमत अनुपातों को प्रभावित कर सकते, तो स्पष्ट रूप से वस्तु X का उत्पादन बढ़ेगा और वस्तु Y का उत्पादन गिरेगा और यही कीमत अनुपात दिया हुआ होने पर उत्पादन संभावना वक्र K₁L₁ के बिन्दु A₁ पर संतुलन स्थापित होगा।

आलोचनाएं (Criticisms)

पहली, यदि उत्पादन के दूसरे साधन की पूर्ति भी साथ-साथ बढ़ा दी जाए, तो ऐसे स्पष्ट मात्रात्मक परिणाम प्रकट नहीं होते।

दूसरी, कभी यह है कि रिबिजन्स्की के परिणाम को बहु-साधन मॉडल पर लागू करना बहुत कठिन है।

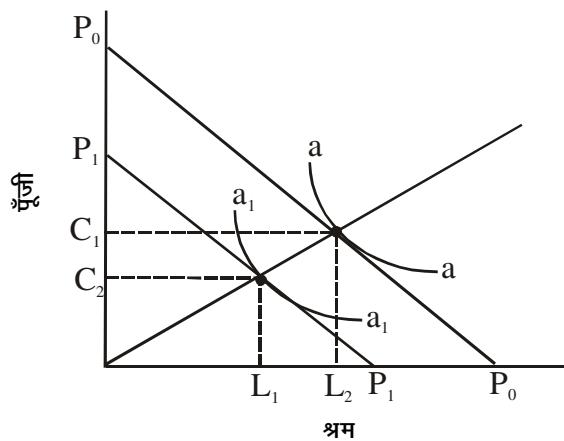
तकनीकी उन्नति और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (Technology Change and Emergence of Trade)

आधुनिक आर्थिक जीवन को प्रभावित करने वाला एक अन्य महत्वपूर्ण कारक तकनीकी उन्नति है। अब हम तकनीकी उन्नति का अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करेंगे। रेखाचित्रों की सहायता से अब हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि तकनीकी उन्नति किस प्रकार उत्पादन फलन को प्रभावित करती है। तथा तकनीकी उन्नति को किस प्रकार विभिन्न उपविभागों में बांटा जा सकता है।

तकनीकी उन्नति को वर्गीक त करने के लिए हम ऐसा उत्पादन फलन ले रहे हैं जिसमें दो आगत, श्रम व पूँजी हैं। यह उत्पादन फलन प्रथम डिग्री का सजातीय उत्पादन फलन है। तकनीकी उन्नति से अभिप्राय है दिये हुए आगत से अधिक मात्रा में उत्पादन करना अथवा दिये हुए उत्पादन को न्यूनतम आगतों की सहायता से उत्पादित करना।

हिक्स के अनुसार तकनीकी उन्नति का उत्पादन के साधनों की सीमान्त उत्पादकता पर पड़ने वाले प्रभावों के आधार पर तकनीकी उन्नति को वर्गीक त करने के लिए हम ऐसा उत्पादन फलन ले रहे हैं जिसमें दो आगत, श्रम व पूँजी हैं। यह उत्पादन फलन प्रथम डिग्री का सजातीय उत्पादन फलन है। तकनीकी उन्नति से अभिप्राय है दिये हुए आगत से अधिक मात्रा में उत्पादन करना अथवा दिये हुए उत्पादन को न्यूनतम आगतों की सहायता से उत्पादित करना।

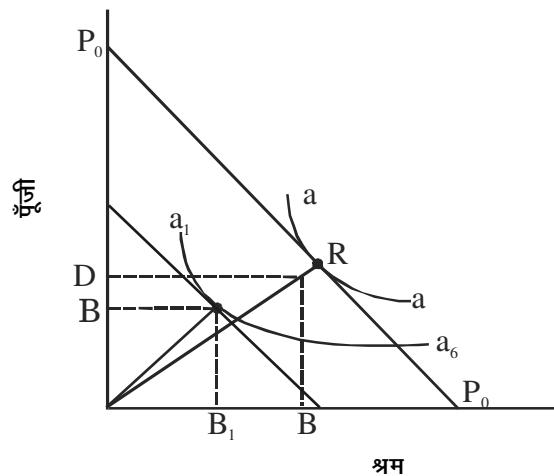
हिक्स के अनुसार तकनीकी उन्नति का उत्पादन के साधनों की सीमान्त उत्पादकता पर पड़ने वाले प्रभावों के आधार पर तकनीकी उन्नति को वर्गीक त किया जा सकता है। उदाहरण के लिए निष्पक्ष आविष्कार उसे कहते हैं जो उत्पादन के दोनों साधनों की सीमान्त उत्पादकता को समान अनुपात में बढ़ायें। श्रम की बचत करने वाली तकनीकी उन्नति श्रम की सीमान्त उत्पादकता की तुलना में पूँजी की सीमान्त उत्पादकता को अधिक बढ़ाती है। इसी प्रकार पूँजी की बचत करने वाली तकनीकी उन्नति पूँजी की तुलना में श्रम की सीमान्त उत्पादकता को अधिक मात्रा में बढ़ाती है। अब हम रेखाचित्र की सहायता से तकनीकी उन्नति के प्रभावों का अध्ययन करेंगे।



उपरोक्त रेखाचित्र में उत्पादन फलन पर निष्पक्ष आविष्कारों के प्रभाव को दर्शाया गया है। यहाँ दो समोत्पाद वक्र (Iso product curve) aa और a'a' दर्शाये गये हैं जिनमें aa समोत्पाद वक्र तकनीकी प्रगति से पूर्व स्थिति का है तथा a'a' वक्र तकनीकी प्रगति के पश्चात् की स्थिति का है। aa वक्र को साधन कीमत रेखा PoPo स्पर्श करती है। इस स्थिति में उत्पादक पूँजी व श्रम की OL₁ तथा OC₁ मात्रा उपयोग करता है। नया समोत्पादक वक्र a'a' है जिसे साधन कीमत रेखा PP स्पर्श करती है।

इस स्पर्श बिन्दु पर उत्पादक श्रम व पूँजी की कम इकाइयां प्रयोग में ला रहा है। जब साधनों की सापेक्ष कीमतें अपरिवर्तित रहती हैं (यहाँ PP' रेखा PoPo के समानान्तर है) तब उन्नति के पश्चात् में भी उत्पादन के साधन उसी अनुपात में प्रयुक्त किये जा रहे हैं। जब साधनों की कीमतें स्थिर रहती हैं तब उत्पादक साधनों के अनुपात में कोई परिवर्तन नहीं करता। उपरोक्त चित्र के दोनों स्पर्श बिन्दुओं पर उत्पादक समान अनुपात में उत्पादन के साधन को प्रयुक्त कर रहा है।

यह कोई आवश्यक नहीं है कि तकनीकी उन्नति निष्पक्ष हो। यह श्रम बचाने वाली या पूँजी की बचत करने वाली भी हो सकती है। श्रम की बचत करने वाली तकनीकी उन्नति को निम्न रेखाचित्र की सहायता से दर्शाया गया है।



तकनीकी उन्नति से पूर्व तटस्थता वक्र aa और साधन कीमत अनुपात P_0, P_0 हैं। इस स्थिति में श्रम व पूँजी को OR अनुपात में उत्पादन में प्रयुक्त किया जा रहा है। a'a' तकनीकी उन्नति के पश्चात् का तटस्थता वक्र है। श्रम बचाने वाली तकनीकी उन्नति की स्थिति में पूँजी की सीमान्त उत्पादकता श्रम की सीमान्त उत्पादकता से अधिक हो जाती है। नयी स्थिति में साधन कीमत अनुपात के स्थिर रहने पर अब उत्पादन के साधनों को OR अनुपात के बजाय OQ अनुपात में इस्तेमाल किया जा रहा है। इस नयी स्थिति में पूँजी की सीमान्त उत्पादकता अधिक हो गयी परन्तु पूँजी की सापेक्ष कीमतें वही हैं, इसलिये उत्पादकों को पूँजी का प्रयोग करना अब अधिक लाभदायक हो गया है। यदि हम श्रम पूँजी अनुपात को स्थिर रखें, तब हमें श्रम की तुलना में पूँजी की कीमत बढ़ानी होगी। क्योंकि अब पूँजी पूर्व स्थिति के श्रम की तुलना में अधिक कुशल हो गयी हैं। इस तथ्य को साधन कीमत रेखा PP' द्वारा दर्शाया गया है जो नये तटस्थता वक्र को वहाँ स्पर्श करती है जहाँ इसे OR रेखा काटती है। यहाँ PP' रेखा मूल साधन कीमत रेखा $PoPo$ की तुलना में कम ढालू है। इसी प्रकार पूँजी बचाने वाली तकनीकी उन्नति के प्रभावों को समझा जा सकता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि तकनीकी उन्नति उत्पादन फलन को प्रभावित करती है जिसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा संसाधनों का आबंटन भी प्रभावित होता है। उदाहरण के लिए तकनीकी उन्नति के कारण जब किसी एक साधन की सीमान्त उत्पादकता में व द्विः होती है तब इस साधन का अधिक से अधिक उपयोग उस वस्तु के उत्पादन में होगा जहाँ तकनीकी उन्नति हुई है। इसके फलस्वरूप एक देश के अन्तर्गत ही संसाधनों के आबंटन में परिवर्तन हो जायेगा। तकनीकी उन्नति एक देश की व्यापार शर्तों को भी प्रभावित करती है। उदाहरण के लिए माना कि निर्यात क्षेत्र में तकनीकी उन्नति हो रही है। यह तकनीकी उन्नति इस प्रकार की है जिससे श्रम की सीमान्त उत्पादकता तो बढ़ जाती है परन्तु पूँजी की सीमान्त उत्पादकता कम हो जाती है। वस्तुओं और साधनों

की कीमतों के दिये होने पर श्रम निर्यात क्षेत्र की ओर आकर्षित होगा क्योंकि श्रम की सीमान्त उत्पादकता प्रचलित मजदूरी दर से अधिक है। इसके फलस्वरूप इस साधन का अधिक मात्रा में प्रयोग की जाने वाली वस्तु का उत्पादन कम होगा। इसके अलावा तकनीकी उन्नति से उत्पादन फलन दार्यी और स्थानान्तरित हो जायेगा जिसे वस्तु की पूर्ति पर धनात्मक प्रभाव पड़ेगा। अतः यहाँ तकनीकी उन्नति के दो धनात्मक व एक ऋणात्मक प्रभाव हैं इसलिये इस स्थिति में तकनीकी उन्नति का व्यापार शर्तों पर पड़ने वाले प्रभावों का सही-सही आकलन करना संभव नहीं है।

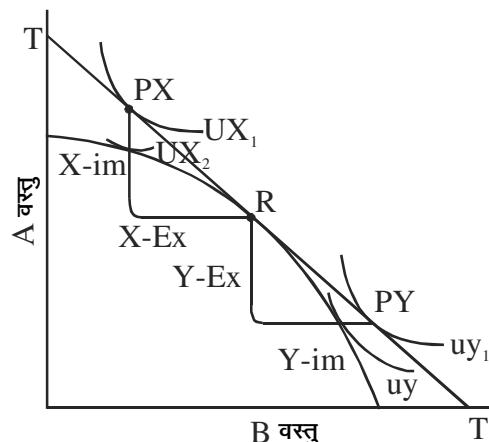
यदि तकनीकी उन्नति का किसी एक क्षेत्र माना निर्यात क्षेत्र में प्रभाव पड़ता है तथा इसके फलस्वरूप दोनों साधनों की सीमान्त उत्पादकता में व द्विः होती है तब दिये हुये साधनों से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं का अधिक मात्रा में उत्पादन किया जायेगा। अन्य बातों के समान रहने पर (वस्तुओं की कीमतों के स्थिर रहने पर) व्यापार शर्तें उस देश के प्रतिकूल हो जायेंगी। इसके विपरीत यदि तकनीकी उन्नति का प्रभाव आयात प्रतिस्थापक क्षेत्र पर पड़ता है तब श्रम व पूँजी दोनों ही की इस क्षेत्र में उत्पादकता बढ़ जायेगी। वस्तुओं की कीमतों के स्थिर रहने पर अब उत्पादक आयात प्रतिस्थापक क्षेत्र में अधिक मात्रा में संसाधनों को लगायेगा जिसके फलस्वरूप इन वस्तुओं का उत्पादन बढ़ जायेगा। इस स्थिति में देश के उत्पादक आयात वस्तुओं के बाजार के बड़े भाग पर कब्जा कर लेंगे जिससे अन्य देश द्वारा इस देश को किये जाने वाले निर्यातों की मांग कम हो जायेगी। अतः बाजार में संतुलन लाने के लिए तकनीकी उन्नति वाले देश के आयात वस्तुओं की कीमतें कम हो जायेंगी अर्थात् व्यापार शर्तें इस देश के अनुकूल हो जायेंगी।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि किसी देश में होने वाली तकनीकी उन्नति इस देश की व्यापार शर्तों को प्रभावित करती है। यदि तकनीकी उन्नति निर्यात क्षेत्र में हो रही है तब व्यापार शर्तें इस देश के विपरीत हो जायेंगी। इसी प्रकार यदि तकनीकी उन्नति आयात प्रतिस्थापक क्षेत्र में हो रही है तब व्यापार शर्तें इस देश के अनुकूल हो जायेंगी।

Change in Taste and Emergence of Trade

यदि दो देशों की साधन सम्पन्नता (Factor endowment) और उत्पादन फलन (Production Function) समान हों तो उनके उत्पादन सम्भावना वक्र एक-दूसरे को ढक लेंगे, जबकि तटस्थता वक्र समूह अलग-अलग होंगे। व्यापार रहित स्थिति में दोनों के साम्य बिन्दु पथक होंगे, किन्तु मांग की दशाओं में अन्तर के कारण देशी मूल्य अनुपातों में अन्तर हो जायेगा। फलतः व्यापार की सम्भावना हो जायेगी। इस स्थिति में दोनों देश उस बिन्दु पर उत्पादन करेंगे जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात रेखा उनके उत्पादन सम्भावना वक्र को स्पर्श करेगी। व्यापार द्वारा यह उच्चतर तटस्थता वक्रों को प्राप्त कर लेंगे। व्यापार की स्थिति में साम्य के बिन्दु उन स्थानों पर होंगे जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य रेखा उनके उच्चतम प्राप्त तटस्थता वक्र को स्पर्श करेगी।

नीचे के चित्र में AB दो देशों का उत्पादन सम्भावना वक्र है। U_{X_0} , U_{X_1} , U_{X_2} , और U_{Y_0} , U_{Y_1} , U_{Y_2} , X और Y देशों के तटस्थता वक्र हैं। व्यापार रहित दशा में इनके साम्य बिन्दु P_X और P_Y हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात रेखा TT है। यह रेखा उत्पादन सम्भावना वक्र को R बिन्दु पर स्पर्श करती है। अतएव उत्पादन का साम्य R बिन्दु पर होगा, किन्तु व्यापार द्वारा ये देश



उच्चतर तटस्थिता वक्रों को प्राप्त करने का प्रयास करेंगे। उनके व्यापार सहित साम्य बिन्दु P_x और P_y होंगे जो व्यापार द्वारा प्राप्त उच्चतम तटस्थिता वक्रों पर स्थित हैं।

पथक उत्पादन सम्भावना वक्र-समान रुचियाँ

अधिक सामान्य स्थिति पथक साधन सम्पन्नता और पथक उत्पादन सम्भावना वक्रों की होती है। सुविधा के लिये हम उपभोक्ता रुचियों को समान मान लेते हैं।

B_1

उक्त चित्रों में A_1, B_1 और $A_{ii}B_{ii}$ विभिन्न देशों के दो उत्पादन सम्भावना वक्र हैं। U_0, U_1, U_2, U_3 दोनों देशों के समान तटस्थिता वक्र हैं। व्यापार रहित साम्य की स्थितियाँ Q_i और U_{ii} हैं। देशी मूल्य अनुपात रेखायें नहीं दिखाई गई हैं। जहाँ तक साधनों का सम्बन्ध है, वस्तुओं की तुलना में उत्पादन के साधन कम गतिशील होते हैं। यदि वस्तुओं के समान 'साधन' भी सुविधापूर्वक गतिशील होते तो एक देश के साधन ही दूसरे देश को ले जाये जाते, क्योंकि एक देश में सुलभ होने के कारण स्वत्प साधन का मूल्य अधिक होगा। स्वाभावतः साधन कम मूल्य वाले क्षेत्र से अधिक मूल्य वाले क्षेत्र में चला जायेगा अथवा ले जाया जायेगा। उदाहरण- यदि भारत में जनसंख्या अधिक होने के कारण श्रम 'सुलभ' है लश्वर मजदूरी की दर Q_i है और जनसंख्या अमेरिका में कम होने के कारण श्रम दुर्लभ साधन है और मजदूरी की दर Q_i है तो निर्वाध गतिशीलता की दशा में भारतीय श्रमिक अमेरिका चले जायेंगे। परिणाम यह होगा कि अमेरिका में श्रम की दुर्लभता घटती जायेगी और मजदूरी की दरें भी कम होंगी, जबकि भारत में मजदूरी की दरों में व द्विः होगी। इस प्रकार साधनों के आवागमन उनकी पूर्ति और मूल्यों में अन्तर का समाप्त कर देगा। किन्तु जलवायु, भाषा, धर्म, राष्ट्रीयता आदि के बन्धनों के कारण श्रमिक सुविधापूर्वक एक देश से दूसरे देश में नहीं जा सकते। अतएव मजदूरी की दरों में स्थानीय भिन्नतायें पायी जाती हैं। इसलिये समान विधि से उत्पन्न की गयी समान वस्तुओं की तुलना की लागतों में भी अन्तर पाये जाते हैं। यही लागत अन्तर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को जन्म देते हैं।

बटिल ओहलिन के अनुसार प्रत्येक क्षेत्र उस वस्तु के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करता है, जिसमें प्रचुर सर्ता साधन अधिक मात्रा में प्रयोग किया जाता है। इस वस्तु के निर्यात के बदले वह ऐसी वस्तु आयात करता है, जिनके उत्पादन में उसके अपने देश में दुर्लभ और इस कारण 'मंहग' साधन अधिक मात्रा में प्रयोग होता है, किन्तु जो निर्यातक देश में सर्ता एवं प्रचुर हो। इस प्रकार वस्तुओं की गतिशीलता साधनों की गतिशीलता का स्थान ले लेती है।

किसी वस्तु विनिमय का साधन गतिशीलता का 'प्रतिस्थापन' मानना युक्तिसंगत नहीं है। वस्तु विनिमय साधन-गतिशीलता का प्रतिस्थापन ही नहीं, प्रतिपूरक (Complementary) भी होती है। वास्तव में 'साधन' न तो देश में पूर्णतः गतिशील होते हैं और न ही अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूर्णतः 'अगतिशील'

परिवहन और संचार के शीघ्रगामी साधनों के विकास ने श्रम की गतिशीलता की एक बड़ी बाधा को कम किया है, जबकि 'छोटे परिवार' ने उसे बढ़ावा दिया है। 'हम दो और हमारे दो' का आदर्श परिवार कहीं भी कहा जा सकता है, जहाँ "मजदूरी अधिक मिले।" बैंकों के विकास और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना ने पूँजी की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता में अपूर्व व द्वितीय की है। अमेरिकी पूँजी भारत में और भारतीय पूँजी अफ्रीका के देशों में लगी है। मात्र भूमि ही एक ऐसी साधन रह गया है जो पूर्णतः स्थिर है। इस प्रकार देश और विदेश में साधनों की गतिशीलता में गुणात्मक अन्तर नहीं है, केवल 'अंश' मात्र का भेद है। देश के अन्दर 'साधन' कुछ अधिक गतिशील होते हैं और विदेशों में कम।

अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनों ही रूपों में (वस्तु-विनिमय तथा साधन विनिमय) में होता है। भारत में जर्मनी में बनी औषधियां भी आयात की जाती हैं और कई जर्मन कम्पनियों ने अपने संयन्त्र भी भारत में लगा लिए हैं जिनके लिए पूँजी, तकनीकी ज्ञान और विशेष यन्त्र उन्होंने अपने देश से आयात किये हैं।

वस्तुओं का आदान-प्रदान साधनों की गतिशीलता का प्रेरक होता है। प्रारम्भ में ब्रिटेन के बने वस्त्र भारतीय बाजारों में विक्रयार्थ आयात किये गये। कालान्तर में भारतवासी मिलों में बने कपड़े पहनने के आदी हो गये। तब ब्रिटिश पूँजीपतियों ने भी भारत में ही कपड़ा मिलें रखापित की। इन मिलों के लिए पूँजी तथा कुशल श्रमिक एवं अभियांत्रिक ब्रिटेन से लाये गये। इस प्रकार कालान्तर में वस्तुओं का व्यापार साधनों की गतिशीलता को बढ़ावा देता है।

दूसरी ओर साधनों की गतिशीलता भी वस्तु-व्यापार को जन्म देती है। जब भारतीय श्रमिक अफ्रीका अथवा खाड़ी के देशों में काम करने जाते हैं, वे कुछ भारतीय वस्तुओं के प्रयोग करने के अभ्यर्त होते हैं। अतएव जहाँ वे जाते हैं वहीं भारतीय वस्तुओं की मांग उत्पन्न होती है और वस्तु-व्यापार प्रारम्भ हो जाता है। विदेशों से साड़ी और आम की मांग इसके उदाहरण हैं। जहाँ-जहाँ भारतीय परिवार जाते हैं, भारत की साड़ी भी जाती है। साथ ही अनुकरण प्रभाव (Demonstration Effect) भी होता है।

भारतीयों के सम्पर्क में आने वाले स्थानीय निवासी भी उनके रहन-सहन का अनुकरण करते हैं। परिणामस्वरूप भारतीय उत्पादन की मांग बढ़ती है। अंग्रेजों के भारत में रहने के परिणामस्वरूप हैट, टाई और बूट-जूते भी भारत में आये।

इस प्रकार वस्तु विनिमय और साधन गतिशीलता पूरक भी हैं और प्रतिस्थापन भी।

व्यापार के अन्य कारण

Some Other Dynamic Factors and Emergence of Trade

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के दोनों सिद्धान्त प्रतिष्ठित तथा हैक्शर-ओहलिन-वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्यों में भिन्नता का कारण उनकी उत्पादन लागत की तुलनात्मक भिन्नता बताते हैं। अन्य शब्दों में, इन सिद्धान्तों के अनुसार दो देशों के मध्य व्यापार इसलिए होता है कि कुछ वस्तुएं एक देश में सस्ती हैं जबकि अन्य वस्तुएं दूसरे देश में सस्ती हैं। कुछ वस्तुएं एक देश में इसलिए सस्ती हैं कि उनकी उत्पादन लागतें तुलनात्मक रूप में दूसरे देश से कम हैं जबकि अन्यों की उत्पादन लागतें तुलनात्मक रूप से अधिक हैं। इस प्रकार दोनों सिद्धान्त समकक्ष या एक समान हैं। फिर भी दोनों सिद्धान्त उत्पादन लागतों में भिन्नता की अलग-अलग व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

एक ओर जहाँ प्रतिष्ठित सिद्धान्त दो देशों में वस्तुओं की उत्पादन लागतों में भिन्नता का कारण साधन (श्रम) की उत्पादकता को मानता है तो हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त उत्पादन लागतों में भिन्नता का कारण उत्पादन के साधनों की आनुपातिक सम्पन्नता को बताता है। हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त के अनुसार जब एक देश ऐसी वस्तु का उत्पादन करता है जिसके उत्पादन में उस देश में प्रचुर मात्रा

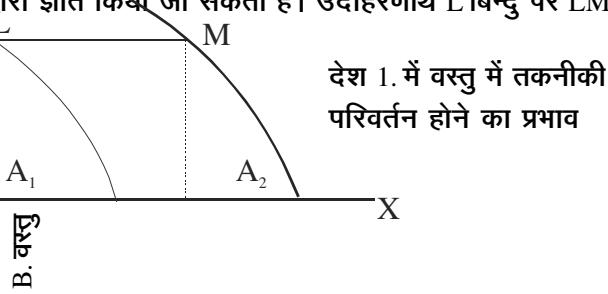
उपलब्ध साधनों का गहनता से प्रयोग होता है तो वह वस्तु तुलनात्मक रूप से सर्वती होती है। यदि वह देश ऐसी वस्तु का उत्पादन करता है जिसमें उसके दुर्लभ साधनों का गहनता से प्रयोग होता है तो वह मंहगी होगी।

फिर भी, ये दोनों सिद्धान्त अनेक ऐसी शक्तियों की उपेक्षा कर देते हैं जो व्यापार के अवसर की ओर अधिक बढ़ा देते हैं। लागतों में तुलनात्मक भिन्नता एवं साधनों की तुलनात्मक उपलब्धता के अतिरिक्त अन्य भी घटक हैं जिन्होंने सिद्धान्त वेताओं का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। कुछ अन्य प्रमुख शक्तियां निम्न प्रकार हैं:

- (1) **टेक्नालोजी में भिन्नता (Differences in Technology)-** अन्य बातों के यथा स्थिर रहते हुए, दो देशों के मध्य एकांकी अवस्था में उत्पादन संभावना वक्रों में भिन्नता के फलस्वरूप वस्तुओं के मूल्यों में भिन्नता रहेगी। ये भिन्नताएं या तो साधनों की आनुपातिक भिन्नता के कारण होगी या दोनों देशों के मध्य उत्पादन की तकनीक में भिन्नता के कारण।

यह दिखलाने के लिए कि किस प्रकार तकनीकी भिन्नता के कारण वस्तुओं के मूल्यों में भिन्नता होती है और व्यापार होता है। उदाहरण के लिए मान लेते हैं कि द्वि-देशीय व्यापार मॉडल में देश 1 वस्तु A के उत्पादन में तकनीकी नव परिवर्तन के प्रयोग का अभ्यस्त हो चुका है अर्थात् उसे विशेष दक्षता प्राप्त है। यह देश उपादानों के निश्चित संयोग से A वस्तु के कुल उत्पादन का एक भाग अतिरिक्त उत्पादन के रूप में प्राप्त करता है। इस अतिरिक्त उत्पादन के कारण देश के संदूक चित्र (Box Diagram) में वस्तु A के समोत्पाद वक्र के क्रम में परिवर्तन हो जाएगा। देश 2 में A वस्तु के उत्पादन में उस प्रकार के सुधार नहीं होगा जैसा कि देश 1 में होगा क्योंकि पेटेन्ट राइट (Patent Rights) के कारण तकनीकी नव परिवर्तन तक केवल देश 1 की ही पहुँच है देश 2 की नहीं।

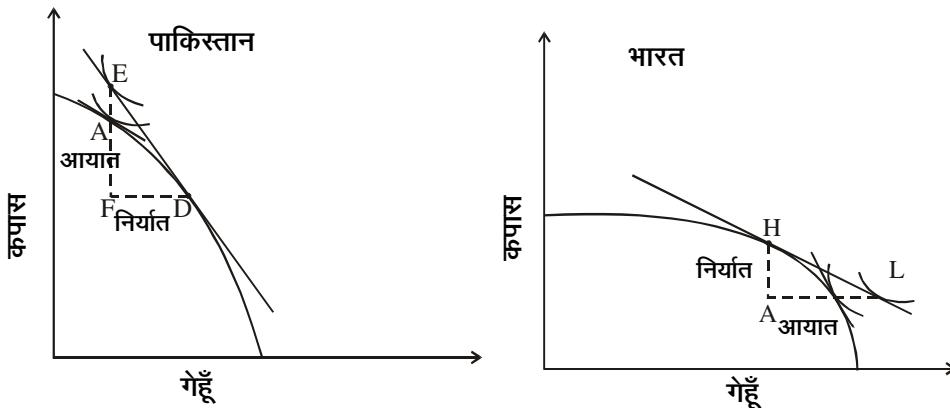
यदि अन्य बातें समान रहें तो तकनीकी नव परिवर्तन के कारण देश का उत्पादन संभावना वक्र इस प्रकार परिवर्तित होगा कि B वस्तु का उत्पादन ज्यों का त्यों रहेगा परन्तु A वस्तु के उत्पादन में कुल उत्पादन का P भाग के बराबर अतिरिक्त व द्वि होगी जैसा कि चित्र में दिखलाया गया है। चित्र में A वस्तु का उत्पादन OA_1 से बढ़कर OA_2 हो जाता है। यहाँ $OA_2 = OA_1(1+P)$ किसी भी मध्य विन्दु पर नवीन उत्पादन संभावना वक्र की स्थिति को पुराने उत्पादन संभावना वक्र द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। उदाहरणार्थ L विन्दु पर LM की दूरी KL का P भाग है।



A. वस्तु

देश 1 में उत्पादन संभावना वक्र में बाहर की ओर इस प्रकार के फैलाव के कारण A वस्तु की घरेलू कीमत में ह्रास होगा और तुलनात्मक लाभ बढ़ेगा। यह क्रिया व्यापार के अवसर में और व द्वि करेगी।

- (2) मांग की दशाओं में अन्तर (Difference in Demand)- व्यापार पर मांग की दशाओं के प्रभाव की या तो परवाह नहीं की गई या यह मान लिया गया है कि पूर्ति की शक्तियों में ही मांग की शक्तियां भी सम्मिलित हैं। अन्य शब्दों में, मांग की शक्तियों का प्रभाव प्रतिच्छित तथा हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त की परिधि से बाहर ही रहा। वास्तव में, मांग की दशाएं व्यापार की सरचना और दिशा पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालती हैं। मांग की तीव्रता के कारण एक देश उस वस्तु का आयात करने के लिए बाध्य होगा जिसके उत्पादन में उसे तुलनात्मक लाभ प्राप्त होगा। उदाहरणार्थ, भारत और चीन मांग के प्रभाव के कारण कपास का आयात कर सकता है जबकि वहाँ कपास का उत्पादन तुलनात्मक रूप से कम कीमत पर होता है। चित्र में ऐसी स्थिति का निरूपण किया गया है जिसमें मांग की दशाओं ने पूर्ति की दशाओं को प्रभावहीन बना दिया है।



चित्र में दो देश- पाकिस्तान व भारत दो वस्तुओं कपास और गेहूँ का उत्पादन करते हैं। दोनों देशों के उत्पादन संभावना वक्रों से स्पष्ट है कि पाकिस्तान कपास का तथा भारत गेहूँ का उत्पादन संभावना वक्रों से स्पष्ट है कि पाकिस्तान कपास का तथा भारत गेहूँ का उत्पादन तुलनात्मक रूप से कम लागत पर कर सकता है किन्तु मांग की दिशाएं कुछ इस प्रकार हैं कि एकाकी अवस्था में पाकिस्तान में कपास का तथा भारत में गेहूँ का मूल्य अधिक है। परिणामस्वरूप भारत और पाकिस्तान के बीच इस प्रकार व्यापार होता है कि भारत गेहूँ का तथा पाकिस्तान कपास का आयात करता है।

यदि दोनों देशों में लागत की दशाएं समान हैं तो भी व्यापार होगा बशर्ते मांग की दशाओं के कारण वस्तुओं के एकाकी मूल्य में भिन्नता हो।

- (3) उद्यमी (Entrepreneur) - व्यापार के किसी भी सिद्धान्त ने उद्यमी की भूमिका को महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया है। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत उद्यमी उत्पादन के स्वतंत्र घटक के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता किन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत प्रशासनिक कुशलता, संगठन की योग्यता आदि उत्पादन के शक्तिशाली घटक हैं। कुशल प्रशासन एवं संगठन की योग्यता तथा जोखिम उठाने वाले व्यक्तियों के कारण ही आज बहुत राष्ट्रीय कम्पनियां विश्व व्यापार पर हावी हैं।
- (4) प्राक तिक संसाधन (Natural Resources) - हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त की अनेक मान्यताओं में से एक मान्यता यह भी है कि उत्पादन के साधन केवल दो-पूँजी और श्रम हैं। प्राक तिक साधनों तथा उद्यमी की भूमिका को आधार नहीं माना गया है। अन्तर्राष्ट्रीय विनियम में ऐसी अनेक वस्तुएं हैं जिनके उत्पादन में प्राक तिक साधन महत्वपूर्ण उपादान हैं। प्राक तिक साधनों को सम्मिलित करने में सबसे बड़ी परेशानी यह है कि वे कई प्रकार के हैं तथा उनका वितरण बड़ा विषम है। प्राक तिक साधनों के वितरण का ढांचा व्यापार के ढांचे को प्रभावित करता है। उदाहरणार्थ, जापान तैयार मछलियों का शुद्ध निर्यातक है। कागज तैयार करने के लिए भारी

मात्रा में (Plywood) कनाडा में प्राप्त की जा सकती हैं नार्वे और स्वीडन समाचार पत्रों के लिये कागज के शुद्ध निर्यातक हैं।

- (5) **वस्तु विभेद (Product Differentiation)-** प्रतिष्ठित तथा हैक्शर-ओहलिन, दोनों ही सिद्धान्तों ने व्यापार की व्याख्या के लिये यह स्वीकार किया है कि वस्तुएं गुण में समान हैं। वास्तविकता यह है कि व्यापार का एक बड़ा भाग वस्तु विभेद के कारण होता है। उदाहरणार्थ, इटली में बनी फ्येट (Fiat) कार का निर्यात ब्रिटेन में तथा ब्रिटेन में बनी फोर्ड (Ford) कार का निर्यात इटली में होता है। इसी प्रकार जर्मनी की Volkswagens का बाजार अमरीका में तथा अमरीका में बनी (Peugeots) कार का बाजार जर्मनी में है। इस प्रकार के व्यापार में लाभ का निर्धारण पर इस आधार पर होता है कि यदि व्यापार न हो तो आयात प्रतिरक्षापना की कीमत कितनी अधिक होगी या निर्यात मूल्य कितने गिर जायेंगे।

उपरोक्त घटकों के अतिरिक्त अन्य घटक भी व्यापार के लिए जिम्मेदार हैं जैसे परिवहन की लागत, श्रम व पूर्ति में विविधता आदि उल्लेखनीय हैं।

अध्याय-11

व्यापार की शर्तों की धारणा, उसके प्रयोग और विकासशील देशों के लिए सीमाएं (Concept of Terms of Trade, their uses and Limitation for UDC's)

(Terms of Trade)

व्यापार की शर्तों का अर्थ:- जिस दर पर एक देश की वस्तुओं का विनिमय दूसरे देश की वस्तुओं से होता है उसे व्यापार की शर्तें कहा जाता है। अन्य शब्दों में, दो देशों में दो वस्तुओं के व्यापार का विनिमय अनुपात का सम्बन्ध व्यापार की शर्तों से होता है। अतः जब दो या दो से अधिक वस्तुओं का व्यापार किया जाता है तो हम कह सकते हैं कि व्यापार की शर्तों का सम्बन्ध उस दर से होता है जिन पर आयातों और निर्यातों का विनिमय किया जाता है। संक्षेप में, व्यापार-शर्तें निर्यात-कीमतों और आयात-कीमतों में सम्बन्ध व्यक्त करती हैं। डॉ० मार्शल ने व्यापार की शर्तों के लिये 'विनिमय दर', प्रो० टॉजिंग ने 'शुद्ध अदल-बदल व्यापार शर्त' तथा प्रो० पीगू ने इसे 'विनिमय की वास्तविक दर' कहा है।

$$\text{व्यापार की शर्तें} = \frac{\text{निर्यात का कुल मूल्य}}{\text{आयात का कुल मूल्य}}$$

अनुकूल या प्रतिकूल व्यापार की शर्तें (Favourable and Unfavourable Terms of Trade)

किसी देश के लिये व्यापार की शर्तें दो प्रकार की हो सकती हैं- अनुकूल व्यापार की शर्तें तथा प्रतिकूल व्यापार की शर्तें।

- (i) **अनुकूल व्यापार की शर्तें** (Favourable Terms of Trade)-एक देश के लिये व्यापार की शर्तें उस समय अनुकूल होती हैं जब उसके आयातों के मूल्य की तुलना में उसके निर्यातों का मूल्य अधिक होता है। दूसरे शब्दों में, जब एक आयात की दी हुई मात्रा के लिये कम वस्तुओं का निर्यात किया जाता है तो व्यापार की शर्तें अनुकूल होती हैं।
- (ii) **प्रतिकूल व्यापार की शर्तें** (Unfavourable Terms of Trade)-एक देश के लिये व्यापार की शर्तें उस समय प्रतिकूल होती हैं जब उसके निर्यातों के मूल्य की तुलना में आयातों का मूल्य अधिक होता है। दूसरे शब्दों में, एक दी हुई आयात की मात्रा के लिये अधिक वस्तुओं का निर्यात किया जाता है तो व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होती हैं।

स्पष्ट है कि दो व्यापार करने वाले देशों में यदि व्यापार की शर्तें एक देश के अनुकूल हैं तो वे दूसरे देश के प्रतिकूल होंगी।

व्यापार की शर्तों के विभिन्न रूप (Different Forms of Terms of Trade)

व्यापार की शर्तों को विभिन्न धारणाओं के आधार पर निम्न प्रकार रखा जा सकता है।

प्रथम, वे व्यापार शर्तें जो वस्तुओं के मध्य विनिमय अनुपात से सम्बन्धित हैं। इस समूह के अन्तर्गत व्यापार शर्तों की निम्न धारणाओं की विवेचना की गई है।

- 1 A. शुद्ध अदल-बदल व्यापार शर्तें,
- 1 B. सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तें,
- 1 C. आय व्यापार शर्तें।

द्वितीय, वे व्यापार शर्तें जो संसाधनों की उत्पादकता के मध्य विनिमय से सम्बन्धित हैं। इस समूह के अन्तर्गत व्यापार शर्तों की निम्न धारणायें आती हैं।

- 2 A. एकसाधनात्मक व्यापार शर्तें, तथा
- 2 B. द्विसाधनात्मक व्यापार शर्तें।

तीसरी, वे व्यापार शर्तें जो व्यापार से प्राप्त लाभ की व्याख्या उपयोगिता विश्लेषण के रूप में प्रस्तुत करती हैं। इस वर्ग में हम व्यापार शर्तों की निम्न धारणाओं को सम्मिलित करते हैं।

- 3 A. वास्तविक लागत व्यापार शर्तें, तथा
- 3 B. उपयोगिता व्यापार शर्तें।

अब हम व्यापार शर्तों की उपर्युक्त धारणाओं में से प्रत्येक की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत करेंगे।

शुद्ध अदल-बदल व्यापार शर्तें अथवा वस्तु व्यापार शर्तें

(Net Barter or Commodity Terms of Trade)

प्रोफेसर टॉजिंग ने व्यापार शर्तों की विवेचना करते हुए शुद्ध अदल-बदल व्यापार शर्तों की धारणा का परिचय दिया है। टॉजिंग के अनुसार शुद्ध अदल-बदल व्यापार शर्तें, जो वस्तु व्यापार शर्तों के नाम से प्रसिद्ध हैं, आयात तथा निर्यात मूल्यों का अनुपात है। संकेतात्मक रूप में शुद्ध अदल-बदल व्यापार शर्त को निम्न प्रकार लिखा जा सकता है:

$$T = \frac{P_x}{P_m}$$

जहाँ T_1 शुद्ध अदल-बदल व्यापार शर्त, P_x और P_m क्रमशः निर्यात मूल्य तथा आयात मूल्य को प्रदर्शित करता है।

जब शुद्ध अदल-बदल व्यापार शर्त की धारणा को एक से अधिक वस्तुओं पर लागू किया जाता है तो हम निर्यात तथा आयात मूल्यों के स्थान पर उनके सूचकांकों का प्रयोग करते हैं। इसे संकेताक्षरों में निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है:

$$T_1 = \frac{\frac{P_{x1}}{P_{m1}}}{\frac{P_{x0}}{P_{m0}}}$$

जहाँ T_1 शुद्ध अदल-बदल व्यापार शर्त, P_x तथा P_m क्रमशः निर्यातों तथा आयातों के मूल्य, 0 तथा 1 क्रमशः आधार वर्ष एवं चालू वर्ष के द्योतक हैं।

आधार वर्ष के आयातों तथा निर्यातों के मूल्य सूचकांक सदैव 100 के बराबर होंगे। अतः सूत्र में P_{x_0} / P_{m_0} पद $100/100 = 1$ होगा। इसलिए चालू वर्ष के आयातों तथा निर्यातों के मूल्य सूचकांकों में परिवर्तन के साथ ही शुद्ध अदल-बदल व्यापार शर्त में भी परिवर्तन होगा। यदि हम मान लें कि भारत में आधार वर्ष 1960 में आयातों तथा निर्यातों के मूल्य सूचकांक 100 थे तथा 1980 में आयातों तथा निर्यातों के मूल्य सूचकांक क्रमशः 120 तथा 160 हैं तो व्यापार शर्त $160/120 \div 100/100 = 1.33$ होगी। इसका अर्थ यह है कि आधार वर्ष की तुलना में शुद्ध अदल-बदल व्यापार शर्तों में 33% का सुधार हुआ है। दूसरे शब्दों में 1960 के निर्यातों की एक निश्चित मात्रा के स्थान पर 1980 में 33% अधिक आयात मिलेंगे। यदि निर्यात मूल्यों के सूचकांक की अपेक्षा आयात मूल्यों में व द्वितीय हो जाती है तो शुद्ध अदल-बदल व्यापार शर्त उस देश के प्रतिकूल हो जाएगी।

देश की व्यापारिक स्थिति में अल्पकालीन परिवर्तनों के माप के लिए वस्तु व्यापार शर्तों को अत्यन्त उपयोगी यन्त्र के रूप में स्वीकार किया गया है। वस्तु व्यापार शर्तों का प्रयोग इतना अधिक लोकप्रिय तथा व्यापक है कि जब भी हम व्यापार शर्तों की चर्चा करते हैं तो उससे हमारा तात्पर्य वस्तु व्यापार शर्तों से ही होता है।

शुद्ध अदल-बदल व्यापार शर्तों की सामान्य प्रयोज्यता तथा उपयोगिता के बावजूद भी इस धारणा में बहुतसी त्रुटियाँ हैं। टॉजिंग के अनुसार यह अनुपात केवल तभी उपयुक्त होता है जबकि देश के भुगतान शेष में वस्तुओं तथा सेवाओं के निर्यातों की प्राप्तियों तथा आयातों के भुगतानों के अतिरिक्त अन्य किसी भी मद को सम्मिलित नहीं किया जाता है। यदि देश के भुगतान शेष में एकपक्षीय भुगतानों को भी सम्मिलित किया जाता है तो वहाँ या तो निर्यातों में अथवा आयातों में अतिरेक होगा। ऐसी स्थिति में हमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभों का निर्णय शुद्ध अदल-बदल व्यापार शर्तों से न करके सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों से करना चाहिए।

सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तें (Gross Barter Terms of Trade)

देश के आयातों की तथा निर्यातों की कुल भौतिक मात्रा के अनुपात देशनांक को सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्त कहते हैं। सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों को निम्न संकेताक्षरों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है:

$$T_2 \div Q_m / Q_x$$

जहाँ T_2 सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्त Q_m और Q_x क्रमशः आयातों तथा निर्यातों की कुल मात्रा को प्रदर्शित करते हैं।

दो अवधियों के मध्य होने वाले व्यापारिक परिवर्तनों की तुलना करने के लिए निर्यातों तथा आयातों की मात्राओं के स्थान पर दो अवधियों में उनकी मात्राओं के सूचकांकों का प्रयोग किया जाता है। निर्यातों तथा आयातों को मात्राओं के सूचकांकों के अनुपात को निम्न प्रकार रखा जा सकता है:

$$Q_{m1} / Q_{x1} \div Q_{m0} / Q_{x0}$$

जहाँ, Q_x तथा Q_m क्रमशः देश के निर्यातों तथा आयातों की मात्रा के सूचकांक के द्योतक हैं तथा 0 और 1 क्रमशः आधार वर्ष तथा चालू वर्ष को प्रदर्शित करते हैं।

यदि हम मान लें कि आधार वर्ष 1960 में आयातों तथा निर्यातों का सूचकांक 100 है तथा 1980 में निर्यात सूचकांक बढ़कर 137 एवं आयात सूचकांक बढ़कर 181 हो जाते हैं तो ऐसी स्थिति में, सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्त $181/137 \div 100/100 = 1.32$ होंगी। इसका अर्थ यह है कि आधार वर्ष

1960 की तुलना में 1980 में देश की सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों में 32% का सुधार हुआ। व्यवहार में हम कह सकते हैं कि 1960 की तुलना में 1980 में 32% अधिक आयात प्राप्त होने लगेंगे जबकि निर्यातों की मात्रा दोनों वर्षों में समान रहेगी। दूसरी ओर, यदि 1980 में आयात सूचकांक 131 और निर्यात सूचकांक बढ़कर 136 हो जाते हैं तो सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तें देश के प्रतिकूल हो जायेंगी क्योंकि उस देश को 1960 की अपेक्षा 1980 में 4% कम $131/136 \div 100/100 = 0.96$ आयात प्राप्त होंगे। अतः देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सापेक्षिक हानि होगी।

परन्तु यह तर्क उचित प्रतीत नहीं होता। एक उपभोक्ता को अपनी रुचियों तथा आदतों में परिवर्तनों के कारण विभिन्न वस्तुओं का कम आयात करने पर भी अधिक सन्तोष प्राप्त हो सकता है। इस स्थिति में व्यापार से लाभ का माप करने के लिए सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्त भ्रमपूर्ण होगी क्योंकि सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों के प्रतिकूल होने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ होगा। यदि ऐसा नहीं हुआ होता तो देश वस्तुओं का आयात नहीं करते। इसी प्रकार यदि निर्यात क्षेत्र की उत्पादकता में व द्विं के परिणामस्वरूप उत्पत्ति की प्रति इकाई उत्पादन लागत में ह्रास हो जाता है तो सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों से पूँजी की गतियों तथा उसकी देश की अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों की जानकारी नहीं हो पाती। इन त्रुटियों के कारण ही अर्थशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों के माप के लिए सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों की अपेक्षा शुद्ध अदल-बदल व्यापार शर्तों को प्राथमिकता दी है।

आय व्यापार शर्तें

(Income Terms of Trade)

जी०एस० डोरेन्स एवं एच० स्टेहल ने वस्तु व्यापार शर्तों की धारणा में सुधार करके एक नवीन धारणा को प्रस्तुत किया जिसे आय व्यापार शर्तों के नाम जाना जाता है। आय व्यापार शर्तों को निर्यातों के मूल्य के देशांक को आयात मूल्य सूचकांक द्वारा विभाजित करने पर प्राप्त भागफल द्वारा परिभाषित किया गया है। संकेतात्मक रूप में आय व्यापार शर्तों को निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है:

$$T_3 = P_x \cdot Q_x / P_m$$

जहाँ, T_3 आय व्यापार शर्तों का तथा P_x, P_m, Q_x क्रमशः निर्यातों के मूल्य, आयातों के मूल्य तथा निर्यातों की मात्रा के द्योतक हैं। उपर्युक्त सूत्र से स्पष्ट होता है कि यदि निर्यात मूल्यों में व द्विं होती है तथा आयातों की मात्रा में कमी निर्यात मूल्यों में हुई व द्विं के समान होती है तो शुद्ध अदल-बदल व्यापार शर्तों में सुधार होगा। परन्तु आय व्यापार शर्तों में कोई परिवर्तन नहीं होगा। इस धारणा को कभी कभी 'आथात करने की क्षमता' कहकर परिभाषित किया गया है। किसी देश के आयात ही उसकी प्राप्तियां होती हैं जबकि निर्यात उसके आयातों के भुगतान होते हैं। इस कथन, कि दीर्घकाल में भुगतान प्राप्तियों के बराबर होने चाहिये, का अर्थ यह है कि $T_x \cdot Q_3$ (भुगतान) = $P_m \cdot Q_m$ (प्राप्तियाँ)। समीकरण $P_x \cdot Q_x = P_m \cdot Q_m$ को P_m से विभाजित करने पर हमें $P_x \cdot Q_x / P_m = Q_m$ समीकरण प्राप्त होता है जो आयातों की वह मात्रा है जिसे एक देश निर्यातों के बदले आयात कर सकता है। आप व्यापार शर्तों की धारणा अर्द्धविकसित देशों, जिनकी आयात क्षमता बहुत कम है, के लिए बहुत उपयुक्त है।

एकसाधनात्मक व्यापार शर्तें

(Single Factoral Terms of Trade)

यदि उत्पादन कुशलता में परिवर्तन हो जाता है तो शुद्ध अदल-बदल व्यापार शर्तों की धारणा जिससे व्यापार के परिणाम ज्ञात होते हैं, में परिवर्तन के प्रभाव का बिना विचार किये हुए व्यापार से एक देश के लाभ की माप करना निश्चित रूप से भ्रमात्मक होगा। उन धारणाओं, जिनमें वस्तु के तकनीकी गुणांकों के देशांक का प्रयोग होता है, का विकास जेकब वाइनर द्वारा किया गया। उनके द्वारा प्रतिपादित इन धारणाओं को एकसाधनात्मक तथा द्विसाधनात्मक व्यापार शर्तों के नाम से जाना जाता

है। एकसाधनात्मक व्यापार शर्तें निर्यात मूल्य देशनांक तथा आयात मूल्य देशनांक का वह अनुपात हैं जिसे निर्यात वस्तुओं के उत्पादन में निहित देश के उत्पादक साधनों की उत्पादकता में परिवर्तनों के अनुसार समायोजित किया जाता है। यदि वस्तु व्यापार शर्तों के देशनांक को निर्यात वस्तु के तकनीकी गुणों के सूचकांक के उल्टे से गुणा कर दिया जाये तो उस गुणनफल को एकसाधनात्मक व्यापार शर्तें कहा जाता है। इसे संकेतात्मक रूप में निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है:

$$T_4 = P_x \cdot Z_x / P_m$$

अथवा $T_4 = T_1 Z_x$ (क्योंकि P_x / P_m शुद्ध अदल-बदल व्यापार शर्त है जिसे पहले T_1 से सम्बोधित किया गया है)।

जहाँ, T_4 एकसाधनात्मक व्यापार शर्तों तथा Z_x निर्यातों में प्रयुक्त उत्पादक साधनों की उत्पादकता को प्रदर्शित करते हैं यदि हम मान लें कि निर्यात मूल्यों में 10% का ह्रास हो जाता है किन्तु निर्यात लागत में 20% कमी हो जाती है तो ऐसी स्थिति में एकसाधनात्मक व्यापार शर्तें = $90/100 \times 120 = 108$ होंगी। इस प्रकार देश की एकसाधनात्मक व्यापार शर्तों में 8% का सुधार होता है। यदि निर्यात क्षेत्र में साधन की उत्पादकता में व द्वि की अपेक्षा निर्यात मूल्यों में ह्रास अधिक होता है तो ऐसी स्थिति में एकसाधनात्मक व्यापार शर्तों का प्रयोग वस्तु व्यापार शर्तों की अपेक्षा अधिक तरक्संगत एवं युक्तियुक्त होगा। जब आर्थिक विकास उत्पादन की नवीन पद्धति, जिससे उत्पादन की प्रति इकाई उत्पादन लागत कम हो जाती है, के अनुसार होता है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से किसी देश को लाभ की माप के लिए वस्तु व्यापार शर्तों का प्रयोग भ्रमात्मक होगा।

परन्तु इतना होते हुये भी एकसाधनात्मक व्यापार शर्तों की धारणा त्रुटिपूर्ण है क्योंकि इसमें आयात के उत्पादन की प्रभावशील घरेलू लागतों को छोड़ दिया जाता है। इस दोष के निवारण हेतु ही वाइनर ने द्विसाधनात्मक व्यापार शर्तों की धारणा का प्रतिपादन किया।

द्विसाधनात्मक व्यापार शर्तें

(Double Factoral Terms of Trade)

द्विसाधनात्मक व्यापार शर्तों की धारणा में देश के निर्यातों में निहित उत्पादक साधनों की उत्पादकता के साथ-साथ देश के आयातों में प्रयुक्त उत्पादन के विदेशी साधनों की उत्पादकता को भी सम्मिलित किया जाता है। संकेतात्मक रूप में इस धारणा को आगे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है:

$$T_5 = \frac{P_x}{P_m} \cdot \frac{Z_x}{Z_m}$$

जहाँ, द्विसाधनात्मक व्यापार शर्तों को प्रदर्शित करता है। Z_m आयात उत्पादकता देशनांक का द्योतक है जिसका मापन आयातों का प्रति इकाई में संलग्न उत्पादक साधनों की मात्रा की लागत के देशनांक द्वारा किया जाता है। Z_x निर्यात उत्पादकता देशनांक को इंगित करता है जिसका मापन निर्यातों की प्रति इकाई में संलग्न उत्पादन साधनों की मात्रा की लागत के देशनांक द्वारा किया जाता है। P_x तथा P_m क्रमशः निर्यात तथा आयात मूल्यों को प्रदर्शित करते हैं।

यदि निर्यातों में निहित साधन की उत्पादकता में 20% तथा आयातों की साधन उत्पादकता में 30% की व द्वि हो जाती है, तो एकसाधनात्मक व्यापार शर्तें, जो पहले अनुकूल थीं, प्रतिकूल हो जायेंगी। इस प्रकार, द्विसाधनात्मक व्यापार शर्तों की धारणा एकसाधनात्मक व्यापार शर्तों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक तथा तरक्संगत है। परन्तु, किण्डलबर्जर के अनुसार एकसाधनात्मक व्यापार शर्त की धारणा अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त है क्योंकि हमारी रुचि इस बात में होती है कि हम वस्तुओं के यप में कितना उपार्जन कर सकते हैं न कि इस बात में कि हमारे साधनों की सेवायें विदेशी साधनों की सेवाओं के रूप में कितना नियन्त्रण कर सकती है।

वास्तविक जीवन में एकसाधनीय एवं द्विसाधनीय व्यापार शर्तों की धारणा का कोई व्यावहारिक महत्व नहीं है क्योंकि उत्पादन प्रक्रिया में संलग्न उत्पादन के साधनों की उत्पादकता का माप बहुत ही कठिन है। इसके अतिरिक्त ये धारणायें आयात से प्राप्त उपयोगिता एवं निर्यात के उपभोग से वंचित रहने के कारण उपयोगिता के हास की तुलना का माप करने में असमर्थ हैं। इस दोष को वास्तविक लागत व्यापार शर्त में दूर किया गया है।

वास्तविक लागत व्यापार शर्त (Real Cost Terms of Trade)

यदि 'एकसाधनीय व्यापार शर्त' को निर्यात में प्रयुक्त उत्पादक साधनों की प्रति इकाई अनूपयोगिता में देशनांक से गुणा कर दें तो वास्तविक लागत व्यापार शर्त प्राप्त हो जाती है। संकेताक्षरों में:

$$T_6 = T_4 \cdot R_x \text{ अथवा } T_6 = \frac{P_x \cdot Z_x \cdot R_x}{P_m}$$

T_6 = वास्तविक लागत व्यापार शर्त, R_x निर्यात उत्पादन में प्रयुक्त प्रति इकाई उत्पादक साधन की अनूपयोगिता का देशनांक, P_x, P_m, Z_x की चर्चा पहले हो चुकी है।

किसी देश द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त कल्याण की माप का यह एक अच्छा मापक है किन्तु यह आयात में निहित वास्तविक लागत की अवहेलना करता है। इस दोष को दूर करने के लिए जेकब वाइनर ने उपयोगिता व्यापार शर्त का प्रयोग किया।

उपयोगिता व्यापार शर्त (Utility Terms of Trade)

वास्तविक लागत व्यापार शर्त को आयात तथा उसके लिये त्याग दी गई वस्तु की तुलनात्मक उपयोगिता के देशनांक (U_m) से गुणा करके उपयोगिता व्यापार शर्त को प्राप्त किया जा सकता है। संकेत के रूप में:

$$T_7 = T_6 U_m = \frac{P_x \cdot Z_x \cdot R_x \cdot U_x}{P_m}$$

राबर्टसन ने इसे वास्तविक व्यापार शर्त कहा है।

व्यापार की शर्तों की गणना करने में कठिनाईयाँ (Difficulties in Calculating the Terms of Trade)

व्यापार-शर्तों की गणना करने में अनेक प्रकार की सांख्यिकी कठिनाईयाँ सामने आती हैं। मुख्य कठिनाईयाँ निम्नलिखित हैं-

- (1) **निर्देशांकों की समस्यायें** (Problems of Index Numbers)- एक देश अनेक वस्तुओं का आयात तथा निर्यात करता है। उत्पादित वस्तुओं में भी भिन्नता होती है। अतः व्यापार की शर्तों में होने वाले परिवर्तनों की गणना करने से भारी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।
- (2) **वस्तुओं के गुणों में परिवर्तन** (Changes in the Quality of Goods)- कभी-कभी वस्तुओं की कीमतों में व द्वितीय उनके गुणों में सुधार के कारण होती है। अतः वस्तुओं के गुणात्मक सुधार की उपेक्षा करके केवल कीमतों के आधार पर व्यापार की शर्तों की गणना करना सही नहीं होगा।
- (3) **आयात-निर्यात सरंचना में परिवर्तन** (Changes in the Structure of Import & Export) - आयात एवं निर्यात की सरंचना में परिवर्तन होने से भी आयातों एवं निर्यातों की सापेक्षिक

- कीमतों में परिवर्तन हो सकता है जिसके फलस्वरूप व्यापार की शर्तों प्रतिकूल हो सकती हैं। इस कारण भी व्यापार की शर्तों की गणना कठिन हो जाती है।
- (4) **इकाई मूल्य का उपयोग (Use of Unit Value)**- जिन मूल्यों पर व्यापार की शर्तों का निर्धारण किया जाता है, वे सरकारी आँकड़ों पर आधारित होते हैं। ये मूल्य वास्तविक न होकर केवल प्रत्याशित होते हैं। प्रत्याशित और वास्तविक मूल्यों में अन्तर होने पर व्यापार-शर्तों की गणना गलत हो जायेगी।
- (5) **भारांकन की समस्या (Problem of Weighting)**- आयात-निर्यात वस्तुओं का सूचकांक बनाते समय वस्तु को उचित भार देने की समस्या आती है। यह भार वस्तुओं के महत्व के आधार पर दिया जाता है और वस्तुओं के महत्व में परिवर्तन होता रहता है।
- (6) **जहाज, परिवहन एवं बीमा व्यय (Shipping, Transport & Insurance Premiums)** - व्यापार-शर्तों की गणना करते समय केवल आयात और निर्यात की वस्तुओं की कीमतों को ही शामिल किया जाता है किन्तु प्रायः विकसित देश अपने निर्यातों के लिये परिवहन व बीमा व्यय भी वसूल करते हैं। इसी प्रकार, विकसित देश आयात कीमतों में वे व्यय भी शामिल कर लेते हैं जिनका अत्यधिकसित देशों को भुगतान नहीं किया जाता।
- (7) **निर्यात एवं आयातों में समय अन्तराल (Time Lag between Exports & Imports)**- आयात-निर्यात में समय का अन्तराल होता है। व्यापार की शर्तों की सही माप उसी समय हो सकती है जब आयात और निर्यात एक साथ किये जायें।

अतः व्यापार-शर्तों का प्रयोग सावधानी के साथ किया जाना चाहिये।

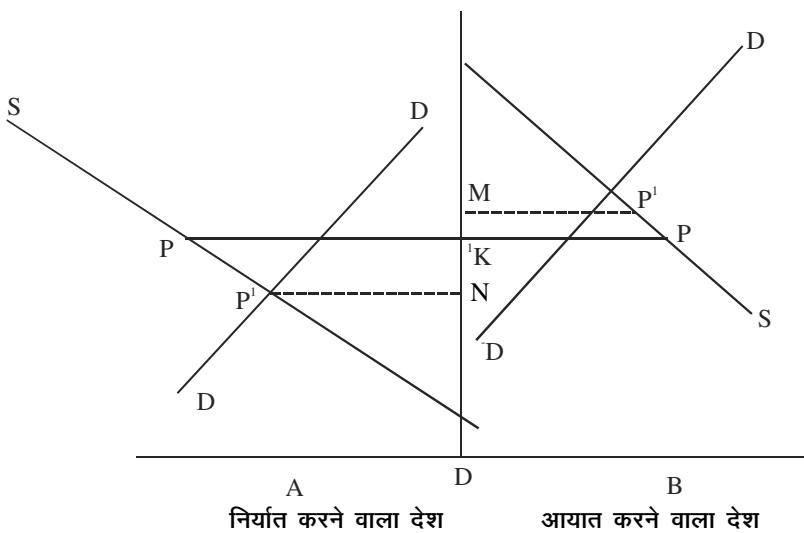
व्यापार की शर्तों पर प्रभाव डालने वाले घटक (Factors affecting Terms of Trade)

किसी देश की व्यापार शर्तों को प्रभावित करने वाले मुख्य तत्त्व इस प्रकार हैं-

- (1) **सापेक्षिक माँग की लोच (Relative Elasticity of Demand)**-माँग की लोच व्यापार-शर्तों के निर्धारण में सबसे महत्वपूर्ण घटक है। माँग की लोच को प्रभावित करने वाली मुख्य बातें निम्नलिखित हैं-
- (i) **जनसंख्या का आकार व व द्वि (Increase and Size of Population)**-जिस देश की जनसंख्या अधिक होती है तथा जनसंख्या की व द्वि-दर तेज होती है उसकी आयातों की तीव्रता सापेक्ष रूप से अधिक होती है।
 - (ii) **वस्तुओं की प्रकृति (Nature of Commodities)**- प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली वस्तुओं की माँग प्रायः बेलोचदार होती है। इसके विपरीत, आय में व द्वि के साथ निर्मित वस्तुओं की माँग लोचदार हो जाती है।
 - (iii) **वस्तुओं की विभिन्नता (Differentiation of Goods)**-यदि एक देश विविध प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करता है तो दूसरे देश के आयातों की माँग उसके लिये कम तीव्र होगी, जबकि दूसरे देश के लिये उसके आयातों की माँग अधिक तीव्र होगी।
 - (iv) **लोगों की रुचि एवं क्रय-शक्ति (Tastes of People and Purchasing Power)**- लोगों की रुचि यह निर्धारित करती है कि देश में किस प्रकार की वस्तुओं का आयात किया जायेगा और लोगों की क्रय-शक्ति यह निर्धारित करती है कि वस्तुओं का कितनी मात्रा में आयात किया जायेगा।
- (2) **पूर्ति की लोच (Elasticity of Supply)**- यदि देश में निर्यातों की पूर्ति लोचदार है तो अन्य बातें

समान रहने पर व्यापार की शर्तें उस देश के अनुकूल होंगी। इसके विपरीत, यदि निर्यातों की पूर्ति बेलेचदार है तो व्यापार की शर्तें देश के लिये प्रतिकूल होंगी।

- (3) **स्थानापन्न वस्तुओं की उपलब्धि (Availability of Substitutes)**- एक देश जिन वस्तुओं का निर्यात कर रहा है, यदि उसकी स्थानापन्न वस्तुएँ विदेशों में उपलब्ध हैं तो ऐसे देश के लिये व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होंगी। इसका कारण यह है कि निर्यात की वस्तुओं में तनिक-सी मूल्य-व द्वि होने पर विदेशों में उसकी माँग कम हो जायेगी, क्योंकि वहाँ स्थानापन्न वस्तुओं का प्रयोग होने लगेगा।
- (4) **प्रशुल्क (Tariffs)**- व्यापार-शर्तों में सुधार करने के उद्देश्य से प्रशुल्क लगाये जाते हैं। किन्तु प्रशुल्क से व्यापार-शर्तों में सुधार उस समय होता है जब प्रशुल्क लगाने वाले देश की वस्तुओं की माँग विदेश में विस्तृत एवं बेलोचदार होती है। प्रशुल्क का प्रभाव यह होता है कि निर्यात कीमतों की तुलना में उसकी आयात कीमतें घट जाती हैं और उसकी व्यापार-शर्तों में सुधार हो जाता है। इसे आंशिक सन्तुलन की दशा के अनुसार समझाया जा सकता है-
चित्र में दो देश A और B हैं। A निर्यात करता है और B आयात करता है। प्रशुल्क लगाने के पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य-स्तर P है। अब B देश MN के बराबर प्रशुल्क लगाता है। प्रशुल्क लगाने के बाद प्रत्येक देश के बाजार में कीमत P' है। इस मान्यता पर कि दोनों देशों में माँग और पूर्ति की लोच लगभग एक समान है, प्रशुल्क का प्रभाव यह होगा कि आयात करने वाले देश B में कीमत आंशिक रूप से बढ़ जायेगी तथा निर्यात करने वाले देश A में आंशिक रूप से कम हो जायेगी। कुल प्रशुल्क MN का NK भाग निर्यातक देश द्वारा तथा KM भाग आयात कर्ता देश द्वारा वहन किया जाता है। चूंकि $KM < NK$, अतः प्रशुल्क का अधिक भाग निर्यातकर्ता देश द्वारा वहन किया जा रहा है। स्पष्ट है कि प्रशुल्क लगाने से B देश (आयातकर्ता देश) की व्यापार-शर्तों में सुधार हुआ है।



- (5) **अवमूल्यन (Devaluation)**- अवमूल्यन से विदेश की मुद्रा के रूप में घरेलू मुद्रा के मूल्य में कमी हो जाती है। फलस्वरूप उस देश की व्यापार-शर्तें विपक्ष में हो जाती हैं। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है क्योंकि अवमूल्यन के प्रभाव देश के आयातों व निर्यातों की माँग एवं पूर्ति की लोच पर निर्भर करते हैं। यदि देश के आयातों तथा निर्यातों की माँग की लोच का गुणनफल उसके आयातों तथा निर्यातों की पूर्ति लोच के गुणनफल से अधिक है तो अवमूल्यन से व्यापार की शर्तों में सुधार होगा।

सूत्र रूप में,

$$Dm \cdot Dx > Sm \cdot Sx$$

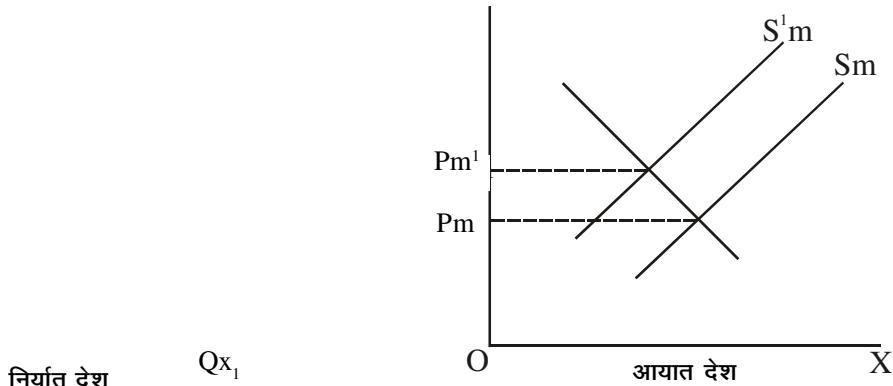
यहाँ, Dm = आयात की माँग की लोच

Dx = निर्यात की माँग की लोच

Sm = आयात की पूर्ति की लोच

Sy = निर्यात की पूर्ति की लोच

इसे निम्न रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

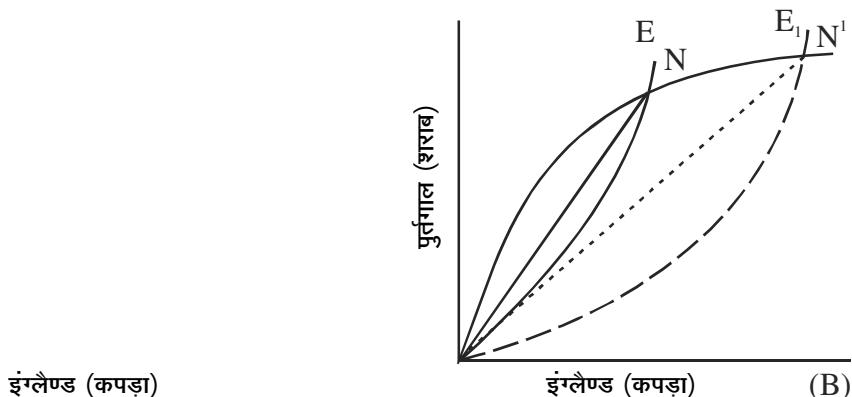


उपर्युक्त रेखाचित्र में अवमूल्यन से पूर्व देश की मुद्रा में आयात की कीमतें OP_m तथा निर्यात की कीमतें OP_x हैं। अवमूल्यन के पश्चात् आयात का पूर्ति वक्र ऊपर की ओर जायेगा अर्थात् Sm से $S'm$ हो जायेगा तथा निर्यात का माँग वक्र भी Dx से हटकर $D'x$ हो जायेगा। फलस्वरूप कीमतों में भी परिवर्तन हो जायेगा तथा नयी सन्तुलन कीमत आयात के लिये OP_m से बढ़कर $OP'm$ तथा निर्यात कीमत OP_x से $OP'x$ हो जायेगी। इसके फलस्वरूप व्यापार की शर्तों में सुधार हुआ है।

- (6) **आयात-निर्यात की माँग में परिवर्तन (Change in the Demand for Imports & Exports)-** यदि अन्य बातों के स्थिर रहने पर एक देश के निर्यातों के लिये विदेश में माँग बढ़ती है तो आयातों की तुलना में उसके निर्यातों की कीमतों में व द्विः हो जायेगी। फलस्वरूप उस देश की व्यापार-शर्तों में सुधार होगा। इसके विपरीत, अन्य बातों के समान रहने पर देश की व्यापार-शर्तों में हास होगा।

इसे निम्न रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है-

(शराव)
पूर्तगाल



चित्र A व B में माँग में परिवर्तन के पूर्व की स्थिति यह है कि पुर्तगाल का शराब का प्रस्ताव वक्र OP तथा इंग्लैण्ड का OE है। चित्र A में यह मान लिया गया है कि पुर्तगाल से इंग्लैण्ड के कपड़े की माँग बढ़ जाती है जिसके फलस्वरूप पुर्तगाल का शराब का प्रस्ताव वक्र OP' हो जाता है। सन्तुलन बिन्दु भी N से हटकर N' हो जाता है। अब फ्रांस को कपड़े के बदले अधिक शराब देनी पड़ती है। इस प्रकार, पुर्तगाल की व्यापार की शर्तों में हास होता है और इंग्लैण्ड की व्यापार की शर्तों में सुधार होता है।

चित्र B में यह माना गया है कि इंग्लैण्ड में फ्रांस की शराब की माँग बढ़ जाती है। फलस्वरूप इंग्लैण्ड का कपड़े का प्रस्ताव वक्र दार्यी ओर हटकर OE OE' से हो जाता है और सन्तुलन बिन्दु N से हटकर N' हो जाता है अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय विनियम-दर ON से बढ़कर ON' हो जाती है। इस प्रकार इंग्लैण्ड की व्यापार-शर्तों में हास और पुर्तगाल की व्यापार-शर्तों में सुधार होता है।

- (7) **आर्थिक विकास (Economic Development)** - यदि किसी देश का विकास अत्यधिक निर्यातोन्मुख होगा तो वह निर्यात वस्तुओं को अधिक मात्रा का उत्पादन करेगा। इससे व्यापार-शर्तें उस देश के प्रतिकूल हो जायेंगी। इसके विपरीत, यदि आयात अत्यधिक आयातोन्मुख है तो आयात योग्य वस्तुओं के उत्पादन में व द्वि होगी और अन्य वस्तुओं के उत्पादन में हास होगा। फलस्वरूप व्यापार-शर्तें देश के अनुकूल हो जायेंगी।
- (8) **पूँजी की गतिशीलता (Mobility of Capital)**- देश में पर्याप्त पूँजी की प्राप्ति व्यापार की शर्तों को अनुकूल बना देती है तथा देश में पूँजी का बहिर्गमन व्यापार की शर्तों को प्रतिकूल बना देता है।
- (9) **व्यापार-चक्र (Trade Cycles)**- मुद्रा-स्फीति की दशा में कीमतों में व द्वि होने से निर्यात कम हो जाते हैं और आयातों में व द्वि होती है जिससे देश के लिये व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो जाती हैं तथा निर्यातक देश के लिये अनुकूल। इसके विपरीत, मन्दी की दशा में ये शर्तें निर्यातक देश के लिये प्रतिकूल हो जाती हैं और आयातक देश के लिये अनुकूल।
- (10) **सरकारी नीति (Government Policy)**-यदि सरकार अपनी विदेशी व्यापार की नीति में आयातों को हतोत्साहित करने के लिये नियन्त्रित उपायों को अपनाती है तो देश में आयातों की कमी हो जाती है और उसकी व्यापार की शर्तों में सुधार होता है।

विकासशील देश की व्यापार-शर्तें

(UDC's and Terms of Trade)

व्यापार-शर्तें आर्थिक विकास के सिद्धान्तों से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध हैं। यदि किसी विकासशील देश की व्यापार-शर्तें उसके अनुकूल हैं, तो उसके तीव्र आर्थिक विकास की सम्भावना काफी बढ़ जाती है। इसका कारण यह है कि विकासशील देशों को अपने तीव्र औद्योगिकरण के लिये भारी मात्रा में उच्च तकनीकी, मशीनरी व दुर्लभ कच्चे माल का आयात करना पड़ता है जिसके लिये अनुकूल व्यापार-शर्तें वांछनीय होती हैं ताकि आर्थिक विकास हेतु उन्हें अधिक मात्रा में साधन उपलब्ध हो सकें। अनुकूल व्यापार-शर्तें विकासशील देशों की आयात क्षमता को बढ़ाती हैं, राष्ट्रीय आय व उत्पादकता में व द्वि को सम्भव बनाती हैं तथा पूँजी-निर्माण को प्रोत्साहित करती हैं।

अनेक अर्थशास्त्रियों ने इस बात का समर्थन किया है कि विकासशील देशों में वस्तु व्यापार की शर्तें प्रतिकूल नहीं हैं। सिंगर, प्रेबिश, मिष्ट, लुईस तथा मिर्डल का मत है कि निर्धन देशों की व्यापार की शर्तों की प्रव ति दीर्घकाल से प्रतिकूल होने की रही है। प्रेबिश का कहना है कि 1870 और 1930 की अवधि में निर्यात और आयात की कीमतें इस बात का प्रमाण है कि औद्योगिक देशों को अपनी तकनीकी प्रगति हुई है, उसका अधिकांश लाभ विकसित देशों को मिला है।

विकासशील देशों की व्यापार-शर्तें प्रायः प्रतिकूल होती है। इसके प्रमुख कारण अग्रलिखित हैं-

- (1) **अधिक जनसंख्या व इसकी तीव्र-व द्वि दर (Over Population and Its Rapid Growth)**-विकसित देशों की अपेक्षा विकासशील देशों में जनसंख्या का आकार बड़ा होता है तथा जनसंख्या व द्वि की दर से काफी तीव्र होती है। इसके फलस्वरूप देश में विभिन्न उपभोग वस्तुओं की माँग का दबाव बढ़ता जाता है। इसके दो परिणाम होते हैं। प्रथम, निर्यात योग्य माल का अतिरेक कम हो जाता है तथा द्वितीय, पूँजीगत माल के आयात की माँग बढ़ जाती है। फलस्वरूप इन देशों में व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो जाती हैं।
- (2) **प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन (Production of Primary Goods)**-अल्पविकसित देशों में कुछ प्राथमिक वस्तुओं अथवा खनिजों का ही उत्पादन किया जाता है जैसे-श्रीलंका में चाय, रबड़ और नारियल, इन्डोनेशिया में टिन, रबड़ और तेल, मलाया में रबड़, टिन आदि। इन वस्तुओं की उत्पादकता कम होती है तथा माँग की आय लोच भी कम रहती है। फलतः इनके निर्यात भी कम होते हैं और व्यापार की शर्तों में हास होता है।
- (3) **पिछ़ी तकनीक व उत्पादकता का निम्न स्तर (Backward Technique and Low Level of Productivity)**- विकासशील देशों में उच्च तकनीक का अभाव होता है जिसके कारण उत्पादकता का स्तर निम्न होता है और प्रति इकाई उत्पादन लागत अपेक्षाकृत ऊँची होती है। इसका परिणाम यह होता है कि इन देशों में निर्मित माल विदेशी प्रतियोगिता में ठहर नहीं पाता और व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो जाती हैं।
- (4) **हासमान प्रतिफल नियम की क्रियाशीलता (Applicability of Law of Diminishing Returns)**- विकासशील देश प्रायः के प्रधान होते हैं और के प्रधान में 'हासमान प्रतिफल नियम' (Law of Diminishing Returns) अतिशीघ्र लागू हो जाता है। इसके विपरीत, विकसित देश उद्योग व के दोनों ही क्षेत्रों में काफी समय 'वर्द्धमान प्रतिफल नियम' (Law of Increasing Returns) लागू रहता है। फलस्वरूप विकसित देशों में उत्पादन लागतें काफी ऊँची रहती हैं, जबकि विकासशील देशों में उत्पादन लागतें काफी ऊँची रहती हैं। यही कारण है कि विकासशील देशों की व्यापार-शर्तें प्रायः प्रतिकूल रहती हैं।
- (5) **उत्पादन के साधनों की गतिशीलता (Factor-mobility)**-सामान्यतः विकसित देशों में उत्पादन के साधनों का आबटन वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों के अनुरूप हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों व उच्चावचनों के फलस्वरूप उत्पादन में भी तदनुरूप परिवर्तन किये जा सकते हैं। इसका कारण यह है कि इन देशों में उत्पादन के साधन अत्यधिक गतिशील होते हैं। इसके विपरीत, विकासशील देशों में सामाजिक रुद्धियों व मान्यताओं के कारण उत्पादन के साधनों में गतिशीलता का अभाव पाया जाता है। इसके अतिरिक्त साधनों के वैकल्पिक उपयोग भी सीमित रहते हैं। फलस्वरूप विकासशील देशों की व्यापार-शर्तें प्रतिकूल बनी रहती हैं।
- (6) **विकासशील देशों के मध्य निर्यात प्रतियोगिता (Export Competition between Developing Countries)**-प्रायः सभी विकासशील देश अपनी निर्यात प्रतियोगिता को बढ़ाने के लिये भरसक प्रयास कर रहे हैं। अतः इन देशों में निर्यात उद्योगों का भारी विस्तार हो रहा है जिसके कारण विदेशी बाजारों में इन वस्तुओं के मूल्य निरन्तर गिर रहे हैं और व्यापार-शर्तें इनके प्रतिकूल हो रही हैं।
- (7) **प्रतिस्थानापन्न वस्तुओं का अभाव (Lack of Substitutes)**-विकासशील देश अपनी अनेक वस्तुओं की पूर्ति के लिये विकसित देशों पर निर्भर रहते हैं, जहाँ इन वस्तुओं का पर्याप्त उत्पादन होता है। इसके अतिरिक्त विकसित देश विकासशील देशों पर निर्भर नहीं करते क्योंकि उच्च

तकनीक के कारण ये देश शीघ्र ही उन वस्तुओं का विकल्प खोज लेते हैं जिनका ये विकासशील देशों से आयात करते रहे हैं। इस प्रकार विकसित देश विकासशील देशों पर अपनी निर्भरता को कम करते जा रहे हैं और इसलिये व्यापार-शर्त विकसित देशों के ही अनुकूल होती जा रही है। राउल प्रेबिस ने स्पष्ट कहा है, “अल्पविकसित देशों की व्यापार-शर्त लगातार प्रतिकूल होती जा रही है।”

- (8) **विकासशील देशों में संगठन का अभाव** (Lack of Organisation in Developing Countries)-यद्यपि विकासशील देशों को भी कुछ वस्तुओं के उत्पादन में एकाधिकार प्राप्त है तथापि संगठन के अभाव के कारण वे विकसित देशों को अनुकूल शर्तों पर इन वस्तुओं का निर्यात नहीं कर पाते हैं।
- (9) **निर्यात-आयात के लिये माँग की लोच में भिन्नता** (Difference in the Elasticity of Demand for Imports & Exports)-विकसित देशों की विकासशील देशों के द्वारा निर्मित प्राथमिक वस्तुओं के लिये माँग की आय-लोच कम होती है, जबकि विकासशील देशों की विकसित देशों से औद्योगिक वस्तुओं के लिये माँग की आय-लोच अपेक्षाकृत अधिक होती है। फलस्वरूप व्यापार-शर्त विकासशील देशों के प्रतिकूल हो जाती हैं।

अल्प विकसित राष्ट्रों की व्यापार की शर्तों में सुधार के सुझाव (Suggestions)

- (1) निर्यातों में व द्वि की जाये तथा निर्यातों को बहुमुखी बनाया जाये।
- (2) मूल्य सम्बन्धी उच्चावचनों को रोका जाये। इसके लिये वस्तु भण्डार का निर्माण किया जाये।
- (3) अल्पविकसित देश आपस में मिलकर यह समझोता करें कि उनके निर्यातों के मूल्य न गिरे।
- (4) अल्पविकसित देश पारस्परिक व्यापार को प्रोत्साहित करें।
- (5) परस्पर व्यापार में ही व्यापार प्रतिबन्धों को हटायें।

अध्याय-12

प्रशुल्क के सिद्धान्त (Theory of Tariffs)

प्रशुल्क के सिद्धान्त (Theory of Tariffs)

प्रशुल्क-दर का शाब्दिक अर्थ 'मूल्य-सूची' (Price-List) है। वर्तमान समय में इसका प्रयोग किसी देश की सीमा पार करते समय माल अथवा वस्तुओं पर लगाये जाने वाले सीमा-शुल्कों से लिया जाता है। अतः प्रशुल्क से आशय सीमा-शुल्क से है। जब किसी देश की सीमा पार करते समय माल या वस्तुओं पर शुल्क लगाया जाता है, तो उसे प्रशुल्क कहा जाता है। इस सम्बन्ध में जो नीति अपनायी जाती है, उसे प्रशुल्क नीति कहते हैं।

प्रशुल्क-सिद्धान्त की मान्यताएँ (Assumptions)

प्रशुल्क-नीति से सम्बन्धित सिद्धान्त निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है-

- (i) विभिन्न उद्योगों के बीच पूर्ण प्रतियोगिता है। दूसरे शब्दों में, सापेक्षिक कीमतें वास्तविक अवसर लागतों को अभिव्यक्त करती हैं।
- (ii) व्यापार से घरेलू उत्पादन सम्भावनाएँ प्रभावित नहीं होती।
- (iii) अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति पायी जाती है।

प्रशुल्क की तीन श्रेणियाँ (Three Categories of Tariffs)

प्रशुल्क को सामान्य रूप से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है-

- (I) आयात-कर (Import Duties),
- (II) निर्यात-कर (Export Duties),
- (III) पारगमन-कर (Transit Duties)।

- (I) **आयात-कर (Import Duties):** उपर्युक्त तीनों रूपों में आयात-कर सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसका उद्देश्य राजकोष के लिये धन प्राप्त करना होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति तभी सम्भव है जबकि कर इस प्रकार लगाये जायें कि विदेशी व्यापार की मात्रा कम न हो क्योंकि विदेशी व्यापार की मात्रा कम होने पर उससे प्राप्त होने वाला राजस्व भी घट जायेगा। इस दण्डि से कर उन वस्तुओं पर लगाये जाने चाहिये जो अपेक्षाकृत लोचहीन हैं। इसके अतिरिक्त

आयात-कर घरेलू उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाने में सहायक होते हैं। आजकल व्यापारिक सौदेबाजी के लिये भी प्रशुल्क का अत्यधिक प्रयोग किया जाने लगा है।

आयात-कर और मूल्य (The Import Duties and Price)- आयातकर एक वस्तु की कीमत एवं उत्पादन पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है। आयातित वस्तु की कीमत के सन्दर्भ में निम्न प्रस्ताव हो सकते हैं- यदि आयात-कर के कुल भार को विदेशी उत्पादक सहन कर लें तो वस्तु की कीमत नहीं बढ़ती। यह प्रायः उस समय होता है जब निर्यातक देश उस वस्तु का उत्पादन एकाधिकार की परिस्थितियों में कर रहा होता है और आयातकर्ता देश उसका सबसे बड़ा क्रेता होता है। यदि वस्तु का उत्पादन स्थिर लागत के नियम के अनुसार हो रहा है तो आयात करने वाले देश में वस्तु की कीमत उतनी बढ़ जायेगी जितना कि आयात-कर लगाया गया है ऐसी स्थिति में घरेलू माँग घट जायेगी। यदि कीमत घरेलू उत्पादन लागत से अधिक हो गयी है तो उस वस्तु का आयात बिल्कुल ही बन्द हो जायेगा और राजकोष को कोई राजस्व प्राप्त नहीं होगा।

यदि वस्तु की कीमतों में आयात-कर के अनुपात से कम व द्वितीय होती है और उत्पादन स्थिर लाभ के नियमों के अनुसार हो रहा है तो आयात पूर्ण रूप से रुक जायेगा। यदि उत्पादन लागत व द्वितीय नियम के अनुसार हो रहा है और वस्तु का मूल्य कर की मात्रा से अधिक है तो आयात कम कर दिया जायेगा। फलस्वरूप घरेलू कीमत और मूल्य का अन्तर कर के बराबर हो जायेगा।

यदि अन्य बातें समान रहें तो निर्यातक देश में वस्तु की माँग जितनी अधिक तथा लोचशील होगी, वहाँ वस्तुओं के मूल्य में उतनी ही कमी होगी और आयातकर्ता देश में कीमत उतनी ही बढ़ जायेगी। इसी प्रकार निर्यातकर्ता देश की पूर्ति जितनी अधिक तथा लोचपूर्ण होगी, उसमें मूल्य की कमी उतनी ही कम होगी और आयातकर्ता देश में मूल्य में उतनी ही व द्वितीय हो जायेगी। कभी-कभी वस्तु की कीमतें लगाये गये आयात-कर की मात्रा से अधिक भी हो सकती हैं। ऐसा मध्यस्थिति के लाभों के कारण होता है।

आयात-कर के कुछ अप्रत्यक्ष प्रभाव

(Some Indirect Effect of Import Duty)

- (i) **जब किसी वस्तु के आयात पर कर लगाया जाता है तो सामान्यतः उसके मूल्य में व द्वितीय हो जाती है और माँग घट जाती है। माँग घटने से उस वस्तु पर कम क्रय-शक्ति व्यय होती है। यह क्रय-शक्ति अंशतः घरेलू सामान पर और अंशतः आयातित वस्तुओं पर व्यय की जाती है। इस प्रकार क्रय-शक्ति के कुछ भाग का आयातित वस्तु से घरेलू वस्तुओं की ओर विवर्तन हो जाता है तो निर्यातक देश के भुगतान-सञ्चालन की स्थिति बदल जाती है। फलस्वरूप निर्यातकर्ता देश अपने आयातों को कम कर देता है। इससे विश्व-व्यापार की मात्रा घट जायेगी और घरेलू वस्तुओं के उत्पादन में व द्वितीय होगी, उत्पादन के विभिन्न साधनों के मूल्यों में परिवर्तन होंगे और ये परिवर्तन विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन लायेंगे।**
 - (ii) **जिस वस्तु पर आयात-कर लगाया जाता है, उस वस्तु के मूल्य में व द्वितीय होने पर अन्य वस्तुओं के मूल्य में भी व द्वितीय हो जायेगी।**
- (II) निर्यात-कर (Export Duties):** निर्यात-कर लगाने का उद्देश्य सामान्यतः राजस्व की प्राप्ति होता है। यह प्रायः उन देशों द्वारा लगाया जाता है तो आधारभूत उत्पादनों (कच्चे माल) का निर्यात करते हैं। यह संरक्षण का एक उपकरण है और प्रायः घरेलू उत्पादकों की रक्षा के लिये प्रयुक्त किया जाता है। कभी-कभी इसका प्रयोग इसलिये भी किया जाता है ताकि प्राक तिक

साधनों को घरेलू उद्योगों के लिये सुरक्षित रखा जा सके। यह उन वस्तुओं पर भी लगाया जाता है जिनकी पूर्ति कम होती है और जिनके लिये एक देश दूसरे देशों से अधिक कीमत वसूलना चाहता है।

निर्यात-कर एवं कीमतें (Export Duties and Prices)- प्रतियोगिता की स्थिति में निर्यात-करों का भार स्वयं निर्यातकर्ता देश के उत्पादकों के द्वारा ही वहन किया जाना चाहिये। यदि निर्यातकर्ता देश के उत्पादकों के द्वारा ही वहन किया जाना चाहिये। यदि निर्यातकर्ता देश उस वस्तु का प्रमुख निर्यातकर्ता है तथा उस वस्तु की पूर्ति अत्यधिक लोचदार है तो निर्यात-कर का एक भाग आयातकर्ता देश के उपभोक्ताओं से वसूल किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में उस वस्तु की कीमत में व द्विं हो जायेगी। वस्तु के लिये माँग की लोच जितनी अधिक लोचपूर्ण होगी, कीमतों में उतनी ही कम व द्विं होगी।

(III) **पारगमन- कर** (Transit Duty): ये कर किसी एक विशेष क्षेत्र से गुजरने वाले व्यापारियों पर लगाये जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थिक सहयोग की भावना में व द्विं के साथ-साथ इन करों का महत्व कम होता जा रहा है। इन करों का भार आयातकर्ता देश के उपभोक्ताओं अथवा निर्यातकर्ता देश के उत्पादकों पर पड़ता है। इसका निर्धारण दोनों देशों की माँग व पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों के द्वारा होता है।

दो द ष्टिकोण (Two Approaches)

सीमा-शुल्क प्रायः दो आधारों पर वर्गीकरण किये जाते हैं- (अ) करारोपण के आधार पर, (ब) उद्देश्य के आधार पर।

(अ) **करारोपण के आधार पर वर्गीकरण** (Classification on the Basis of Taxation)- इस आधार पर सीमा-शुल्क चार प्रकार के होते हैं-

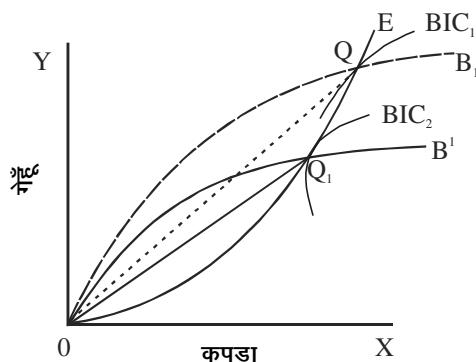
- विशिष्ट कर** (Specific Duty) - ये कर आयात की जाने वाली वस्तुओं पर भार या माप के अनुसार लगाये जाते हैं।
- यथामूल्य कर** (Advalorem Duty)- ये कर वस्तुओं के मूल्यों के अनुसार मूल्य के प्रतिशत के रूप में लगाये जाते हैं।
- विशिष्ट कर व यथामूल्य कर का मिश्रित रूप** (Mixed Form of Specific Duty and Advalorem Duty)- ये कर माल की भौतिक माप या मात्रा या तौल तथा माल के मूल्य के प्रतिशत के रूप में लगाये जाते हैं। इन दोनों आधारों पर कर की वह मात्रा निर्धारित होती है जिसमें करभार कम होता है।
- समजीमान कर प्रणाली** (Sliding Scale) - इसमें आयातित माल के मूल्य में परिवर्तन के साथ-साथ कर की दर भी परिवर्तित होती रहती है।

(ब) **उद्देश्य के आधार पर वर्गीकरण** (Classification Based on Objectives)- उद्देश्य के आधार पर सीमा-शुल्क दो प्रकार के हो सकते हैं-

- राजस्व कर** (Revenue Duties)-इन करों का प्रमुख उद्देश्य सरकार को आय प्रदान करना होता है। ये कर प्रायः उपभोग की वस्तुओं तथा बेलोचदार आयातों पर लगाये जाते हैं।
- सरक्षणात्मक कर** (Protective Duties) -ये कर घरेलू उद्योगों को सरक्षण देने हेतु आयातित वस्तुओं पर लगाये जाते हैं।

अनुकूलतम प्रशुल्क की धारणा (The Concept of Optimum Tariffs)

प्रशुल्क के कारण व्यापार की मात्रा कम हो जाती है तथा देश की व्यापार-शर्तों में सुधार होता है। अनुकूलतम प्रशुल्क की धारणा यह बताती है कि प्रशुल्क कितनी मात्रा में लगाये जायें कि देश का कल्याण अधिकतम हो। इस दस्ति से अनुकूलतम प्रशुल्क वह है जहाँ कि प्रशुल्क के कारण देश का नया प्रस्ताव वक्र व्यापार करने वाले दूसरे देश के स्वतन्त्र व्यापार की स्थिति वाले मूल प्रस्ताव वक्र को उस बिन्दु पर काटे जहाँ कि प्रशुल्क लगाने वाले देश का आयात व निर्यात से सम्बन्धित ऊँचा तटस्थता वक्र स्पर्श करता है। इस बिन्दु पर ही प्रशुल्क लगाने वाले देश की व्यापार-शर्तों में सुधार होगा तथा उसका वास्तविक कल्याण (लाभ) अधिकतम होगा।



रेखाचित्र में E व B क्रमशः इंगलैंड व भारत के प्रस्ताव वक्र हैं। स्वतन्त्र व्यापार की स्थिति में दोनों Q बिन्दु पर काटते हैं। अतः OQ विनिमय दर (व्यापार शर्त) निर्धारित होती है। इसी बिन्दु पर भारत का BIC_1 (आयात-निर्यात से सम्बन्धित तटस्थता वक्र) स्पर्श करता है। प्रशुल्क लगा देने पर भारत का नया प्रस्ताव वक्र B' हो जाता है जो कि इंगलैंड के प्रस्ताव वक्र E को Q बिन्दु पर काटता है। नया व्यापार-सञ्चालन Q' है। Q' बिन्दु पर भारत का ऊँचा तटस्थता वक्र BIC_2 स्पर्श करता है। अतः यहाँ भारत को अधिकतम लाभ प्राप्त होता है। इस बिन्दु पर ही प्रशुल्क ईष्टतम है तथा OQ' उसकी सर्वात्मक व्यापार-शर्त है।

प्रशुल्क के प्रभाव (Effect of Tariffs)

प्रशुल्क के विभिन्न आर्थिक प्रभावों की विवेचना आर्थिक साम्य सन्तुलन के माध्यम से निम्न प्रकार की जां संकेत है-

संरक्षणात्मक प्रभाव (Protective Effects)-

आयात-कर लगाने से विदेशों से आयात की जाने वाली वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं। फलस्वरूप घरेलू उत्पादन में व द्विः होती है। वस्तु के घरेलू उत्पादन में व द्विः की यह मात्रा ही आयात-करों का संरक्षणात्मक प्रभाव है।

रेखाचित्र में SS वस्तु का स्वदेशी पूर्ति वक्र व DD माँग वक्र है। निर्यातकर्ता इस देश में OP कीमत पर वस्तु को बेचने को तैयार है। ऐसी दशा में घरेलू पूर्ति OQ_1 तथा घरेलू

की

माँग व पूर्ति

माँग QQ_4 है। अतः देश Q_1Q_4 के बराबर वस्तु का आयात करता है। अब यदि वस्तु पर आयात-कर लगा दिया जाये तो स्वदेशी

बाजार में वस्तु की कीमत OP से बढ़कर OP_1 हो जाती है। फलस्वरूप उत्पादन में $Q_1 Q_2$ के बराबर व द्विगुणी होती है। यह आयात-कर का सरक्षात्मक प्रभाव है।

यदि इसे हम मौद्रिक आय के रूप में देखें तो आय में कुल व द्विः P PHI आयात में से त्रिभुज GHI के बराबर व द्विः आयात-कर का मौद्रिक रूप में सरक्षात्मक प्रभाव है।

पुनर्वितरणात्मक प्रभाव (Redistribution Effect)- आयात-कर के लगाने पर वस्तु की घरेलू कीमतों में व द्विः हो जाती है। फलस्वरूप उपभोक्ताओं की बचत में कमी हो जाती है। जिस अनुपात में उपभोक्ता की बचत में कमी होती है, उसी अनुपात में उत्पादकों की आय में व द्विः हो जाती है। उत्पादकों की आय में यह व द्विः P,PGI पुनर्वितरणात्मक प्रभाव है।

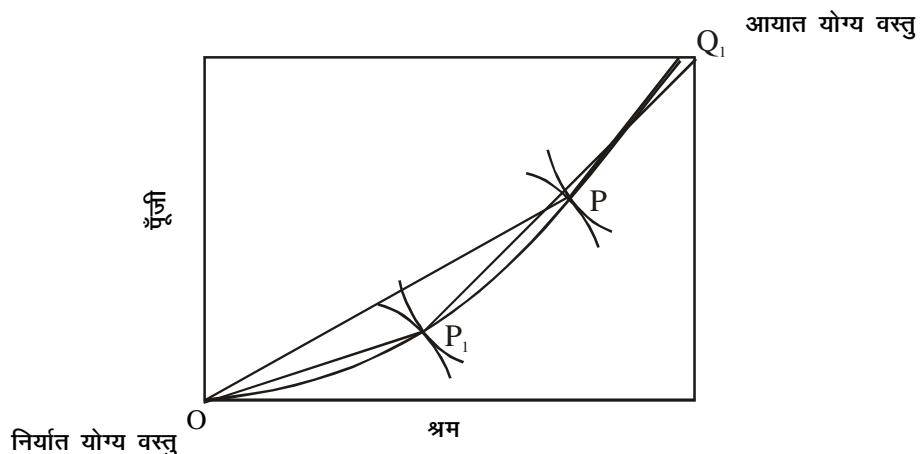
कीमत-प्रभाव (Price Effect) -यदि आयात व निर्यातकर्ता देश में वस्तु की माँग व पूर्ति की लोच बराबर है तो सामान्यतः आयात-कर लगाने वाले देश में वस्तु के मूल्य में आयात-कर की मात्रा के बराबर व द्विः हो जाती है। वित्र में आयात-कर (t_1) = कीमत में व द्विः (PP_1)। माँग व पूर्ति की लोच के भिन्न-भिन्न होने पर कीमतों में व द्विः या कमी भी भिन्न-भिन्न होगी।

राजस्व-प्रभाव (Revenue Effect)- कर की मात्रा को आयत की मात्रा से गुणा करने पर प्राप्त राशि राजस्व की प्राप्ति को बताती है। चित्र में PP_1 कर की राशि (कीमत-व द्वि) का Q_2Q_3 आयत की मात्रा से गुणा करने पर $IHJL$ कूल राजस्व की प्राप्ति होती है। यही प्रशल्क का राजस्व-प्रभाव है।

उपभोग प्रभाव (Consumption Effect)- प्रशुल्क के कारण वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाती हैं। अतः वस्तुओं के कुल उपभोग कम हो जाते हैं। चित्र के अनुसार प्रशुल्क के कारण कीमत OP से बढ़कर OP_1 हो जाती है। फलस्वरूप उपभोग से OQ_4 घटकर OQ_3 रह जाता है। इस प्रकार Q_3Q_4 की मात्रा के तुल्य उपभोग में कमी प्रशुल्क के उपभोग प्रभाव को प्रकट करती है।

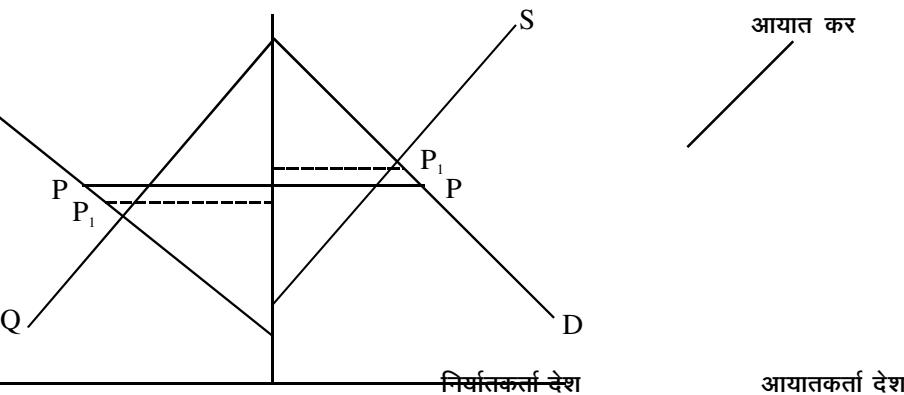
इस प्रकार प्रशुल्क लगाने से उपभोक्ताओं को एक प्रकार से सन्तुष्टि की हानि होती है। चित्र के अनुसार यह हानि P₁PKL के बराबर है। इसमें से HILJ सरकार को कर से राजस्व के रूप में प्राप्त होता है तथा कुछ भाग P₁PIG उत्पादकों को हस्तान्तरित या पुनर्वितरित हो जाता है। अतः GHI तथा LJK शुद्ध हानि के क्षेत्र हैं। इसमें त्रिभुज GHI साधनों के गलत आबंटन का द्योतक है जो कि प्रशुल्क के कारण है और त्रिभुज JKL प्रशुल्क के कारण उपभोग की शुद्ध हानि को बताता है।

आय के वितरण पर प्रभाव (Effect on Distribution of Income)- प्रशुल्क का उत्पादन के साधनों के मध्य आय के वितरण पर प्रभाव का एजवर्थ बातें बाक्स रेखाचित्र के माध्यम से अध्ययन किया जा सकता है।



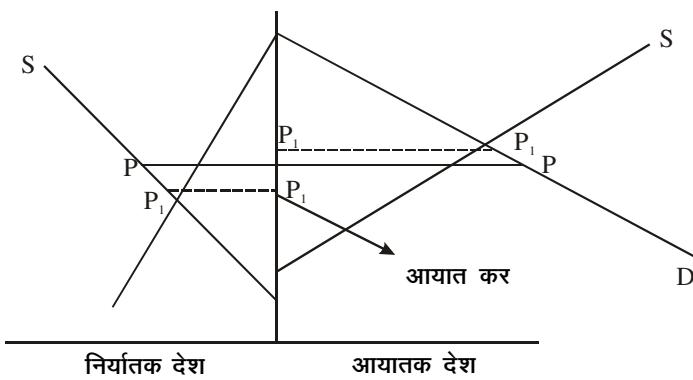
रेखाचित्र में P स्वतन्त्र व्यापार-सन्तुलन बिन्दु है। यह देश श्रमगहन वस्तु का निर्यात करता है तथा पूँजीगहन वस्तु का आयात करता है। आयात-कर लगा देने पर पूँजीगहन वस्तु के मूल्य में व द्विः हो जाती है। फलस्वरूप देश में निर्यातक वस्तु का उत्पादन कम हो जायेगा और आयात की जाने वाली वस्तु का उत्पादन बढ़ जायेगा और व्यापार-सन्तुलन बदलकर P' पर आ जायेगा, जिसका अर्थ है कि अब यह देश आयातित पूँजी गहन वस्तु का अधिक उत्पादन और निर्यातित श्रम गहन वस्तु का कम उत्पादन करने लगा है। इससे साधन अनुपात बदल जाता है तथा P' बिन्दु पर निर्यातित वस्तु अधिक श्रमगहन वस्तु हो जाती है और आयातित वस्तु के साधन अनुपात में पूँजी का अनुपात बढ़ जाता है। आयातित वस्तु के उत्पादन में व द्विः होने पर पूँजी की माँग बढ़ जाती है और निर्यातित वस्तु के उत्पादन में कमी होने के कारण श्रम की माँग घट जाती है। इस प्रकार पूँजी की माँग उसकी पूर्ति से अधिक हो जायेगी जिससे पूँजी की कीमत (ब्याज की दर) बढ़ेगी। इसके विपरीत, श्रम की पूर्ति उसकी माँग के अधिक हो जाने के कारण श्रम की कीमत (मजदूरी-दर) घट जायेगी। इस प्रकार प्रशुल्क के कारण आय का वितरण श्रम से पूँजी की ओर हो जायेगा।

व्यापार-शर्त-प्रभाव (Teams of Trade Effect)- प्रशुल्क आयातों को हतोत्साहित करते हैं जिसके परिणामस्वरूप निर्यात प्रोत्साहित होते हैं। आयात-कर लग जाने पर निर्यातक देश अपनी वस्तु की कीमत घटा देते हैं ताकि विदेशी बाजार में करारोपित वस्तु की माँग बढ़े। अतः कर लगाने वाले देश की निर्यात वस्तु की तुलना में आयातित वस्तु की कीमत कम हो जायेगी जिससे व्यापार शर्तों में सुधार होगा। किन्तु यह सुधार प्रशुल्क के बाद आयातकर्ता देश में वस्तु की कीमत में व द्विः की सीमा तथा निर्यातकर्ता देश में वस्तु-कीमत की घटने की सीमा पर निर्भर होता है। ये सीमायें आयात व निर्यातकर्ता देशों की वस्तु के लिये माँग व पूर्ति की सापेक्षिक लोच पर निर्भर करती हैं।



चित्र में आयात-कर लगाने से पूर्व वस्तु की माँग P है। यदि यह मान लिया जाये कि दोनों देशों में वस्तु की माँग व पूर्ति की लोच समान है तो करारोपण के बाद दोनों देशों के बाजारों में P₁ कीमत स्थापित हो जाती है। रेखाचित्र से स्पष्ट है कि आयात-कर के कारण आयातकर्ता देश B में वस्तु की कीमत में आंशिक व द्विः हो जाती है तथा निर्यातकर्ता देश A में वस्तु की कीमत में आंशिक कमी हो जाती है। इस प्रकार प्रशुल्क भार देशों के मध्य बराबर-बराबर बँट जाता है।

किन्तु यदि निर्यातकर्ता देश में वस्तु की पूर्ति सापेक्षिक रूप से बेलोचदार है तथा आयातकर्ता देश में वस्तु की माँग सापेक्षिक रूप से लोचदार है तो प्रशुल्क के कारण निर्यातकर्ता देश में वस्तु की कीमत में अपेक्षाकृत अधिक कमी होगी जबकि आयातकर्ता देश में वस्तु की कीमत में अपेक्षाकृत कम व द्विः होगी। इस प्रकार प्रशुल्क का अधिक भार निर्यातकर्ता देश ही वहन करेगा। फलस्वरूप व्यापार की शर्तें आयातकर्ता देश के पक्ष में हो जायेंगी।



रेखाचित्र से स्पष्ट है कि करारोपण के बाद प्रत्येक देश में नयी कीमत रेखा रखापित होती है, जिसका अर्थ है कि करारोपण के बाद आयातकर्ता देश (B) में कीमत में कम व द्वितीय हुई है जबकि निर्यातकर्ता देश (A) में वस्तु की कीमत में अपेक्षाकृत अधिक कमी हुई है।

भुगतान-सन्तुलन पर प्रभाव (Effect on Balance of Payments) - भुगतान-सन्तुलन के प्रतिकूल होने पर आयातकर्ता देश आयातों पर प्रतिबन्ध लगाकर अपने भुगतान-सन्तुलन की स्थिति में सुधार कर सकता है। आयात-कर लगाकर प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन को सुधारने के निम्नलिखित दोष हो सकते हैं-

- प्रशुल्क के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का संकुचन होता है।
- प्रशुल्क के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ प्रतिबन्धित हो जाते हैं।
- इसका प्रभाव अस्थायी होता है।
- प्रशुल्क के आयातों पर प्रभाव अनिश्चित होते हैं।

आय व रोजगार पर प्रभाव (Effect on Income and Employment)-प्रशुल्क देश में घरेलू उद्योगों के विस्तार व विकास में सहायक होते हैं। फलस्वरूप इन उद्योगों में रोजगार व आय-स्तर बढ़ता है- अन्य उद्योगों की वस्तुओं की माँग बढ़ती है-गुणक क्रिया आरम्भ हो जाती है- नये उद्योगों का विस्तार होता है- त्वरक क्रिया आरम्भ हो जाती है और इस प्रकार गुणक व त्वरक की अन्तक्रिया द्वारा विनियोग, रोजगार व आय में भारी विस्तार होता है।

प्रशुल्क के आय व रोजगार प्रभाव की प्रायः निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है-

- पूर्ण रोजगार की अवस्था में प्रशुल्क द्वारा मुद्रा-प्रसार बढ़ता है। इससे मौद्रिक आय तो बढ़ जाती है लेकिन वास्तविक आय में कोई व द्वितीय नहीं होती।
- प्रशुल्क के कारण जिन देशों से इनके आयात कम होते हैं, उन्हीं देशों को इनके निर्यात भी कम हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में प्रशुल्क लगाने वाले देश के निर्यात उद्योगों में आय व रोजगार का स्तर गिर जायेगा।

अध्याय-13

अभ्यंश का सिद्धान्त

(Theory of Quota)

प्रौ० ए० स्नाइडर (Delbert A Snider) के शब्दों में, “आयात अभ्यंश उस माल की मात्रा पर सीमायें हैं जिसका एक निश्चित काल में आयात या निर्यात किया जा सकता है।” जब वस्तुओं के आयात के लिये एक निश्चित मात्रा निर्धारित कर दी जाती है तो ‘आयात अभ्यंश’ और जब निर्यात की मात्रा को निर्धारित कर दिया जाता है तो वह ‘निर्यात अभ्यंश’ कहलाता है।

आयात अभ्यंश के उद्देश्य (Objectives of Import Quota)

आयात अभ्यंश प्रणाली का मूल उद्देश्य आयात और निर्यात को तुरन्त और प्रभावशाली रूप में विनियमित करना होता है। इसकी आवश्यकता निम्न कारणों से उत्पन्न होती है-

- (i) आयात को प्रतिबन्धित करने के लिये ताकि भुगतान शेष के असन्तुलन को सुधारा जा सके।
- (ii) विदेशी प्रतियोगितापूर्ण उत्पादन के आयात को सीमित करके घरेलू उद्योगों की सुरक्षा करना।
- (iii) आन्तरिक मूल्य-स्तर बनाये रखने के प्रयास करना।
- (iv) उन देशों का प्रतिकार करना जिन्होंने आयात अभ्यंश लागू किये हैं।
- (v) विभिन्न देशों के बीच लेन-देन के व्यवहार तथा अन्तर्राष्ट्रीय निर्यात समझौतों को क्रियान्वित करता।
- (vi) आयात-व्यापार में होने वाले सटटे को रोकना।

आयात कोटा के प्रकार (Types of Import Quotas)

आयात अभ्यंश पाँच प्रकार के होते हैं-

- (1) **प्रशुल्क कोटा (Tariff Quotas)-** इस प्रणाली के अन्तर्गत एक निश्चित मात्रा तक किसी वस्तु का आयात बहुत कम प्रशुल्क पर किया जाता है किन्तु इस सीमा से अधिक मात्रा में वस्तु का आयात करने पर ऊँची प्रशुल्क दर लागू की जाती है। इस प्रणाली का महत्वपूर्ण लाभ यह है कि इसमें लोच (flexibility) का गुण पाया जाता है। किन्तु इस प्रणाली का प्रमुख दोष यह है कि इसके अन्तर्गत प्रत्येक नये तट-कर कोटा लागू होने पर आयातों की भरमार हो जाती है जिसका आयातकर्ता देश के मूल्य-स्तर पर बुरा प्रभाव पड़ता है।
- (2) **एकपक्षीय आयात कोटा (Unilateral Quota)-** इस प्रणाली के अन्तर्गत एक देश एक निर्धारित समय में आयात योग्य वस्तु की मात्रा की पूर्ण सीमा निश्चित कर देता है। यह दो प्रकार का हो सकता है।।

- (3) **विश्व कोटा (Global Quota)**- इसके अन्तर्गत किसी भी देश या देशों से उतने आयातों की अनुमति दी जाती है जो अभ्यंशों द्वारा निर्धारित की गई है। इस प्रणाली की आलोचना निम्न आधारों पर की जाती है-
- (अ) इस अवस्था में छोटे या कम संगठित देश नुकसान में रहेंगे।
 - (ब) समुद्री सीमाओं के अभाव में सीमावर्ती देशों की अपेक्षा दूरस्थ देशों के निर्यातक घाटे में रहेंगे।
 - (स) प्रतियोगिता के कारण कोटा निर्धारित करने वाले देश में अति पूर्ति व कीमत उच्चावचन होने लगते हैं।
- (2) **विभाजित कोटा (Allocated Quota)**- इसके अन्तर्गत कुल आयात अभ्यंश को विभिन्न पूर्तिकर्ता देश में आवंटित कर दिया जाता है। ऐसा अनुभव के आधार पर किया जाता है। इसके मुख्य दोष निम्न प्रकार हैं-
- (अ) इसके निर्धारण से अनेक आर्थिक व प्रशासनिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।
 - (ब) इसमें विदेशों की पूर्ति की लागत व अन्य दशाओं पर ध्यान नहीं दिया जाता है।
 - (स) इसमें वस्तु के आयात के सम्बन्ध में अनावश्यक कठोरता आ जाती है।
- (3) **आयात लाइसेन्सिंग (Import Licensing)**- इस प्रणाली के अन्तर्गत सम्भावित आयातकर्ता उपयुक्त अधिकारियों से लाइसेन्स प्राप्त कर लेते हैं। इन लाइसेन्सों के अनुसार यह निश्चित कर लिया जाता है कि आयातों का भुगतान करने के लिये अप्रत्यक्ष प्रतिबन्ध हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद आयातों को प्रतिबन्धित करने के लिये इसका बड़े पैमाने पर उपयोग होने लगा है। इसकी लोकप्रियता के प्रमुख कारण निम्न हैं-
- (i) यह आयातों की अधिकता को नियन्त्रित करती है।
 - (ii) यह एक लोचशील प्रक्रिया है जिसे बदलती हुई परिस्थितियों के साथ समायोजित कर दिया जाता है।
 - (iii) यह आयात व्यापार में सट्टेबाजी को हतोत्साहित करती है।
 - (iv) यह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा एक देश अपने निवासियों की माँग को कम विदेशी मुद्रा के अनुसार ढाल सकता है तथा नियन्त्रित कर सकता है।
- आयात लाइसेन्सिंग प्रणाली के कुछ प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं-
- (i) लाइसेन्स प्रदान करने में पक्षपात का सहारा लिया जाता है।
 - (ii) इसमें लाल फीताशाही व भ्रष्टाचार पनपता है।
 - (iii) आयातकर्ता एकाधिकारी प्रवति को प्रोत्साहन मिलता है।
- (4) **द्विपक्षीय कोटा (Bilateral Quota)**- इसके अन्तर्गत आयात अभ्यंश दोनों पक्षों के पूर्व समझौते के अनुसार निश्चित होते हैं। इस प्रणाली के प्रमुख गुण निम्न प्रकार हैं-
- (i) आयातों के आधिक्य पर नियंत्रण रहता है।
 - (ii) निर्यातों के समान विस्तार की व्यवस्था होती है।
 - (iii) निर्यात एकाधिकार प्रायः दूर रखे जाते हैं।
 - (iv) विदेशी विरोध की सम्भावना नहीं होती।

इस प्रणाली के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं-

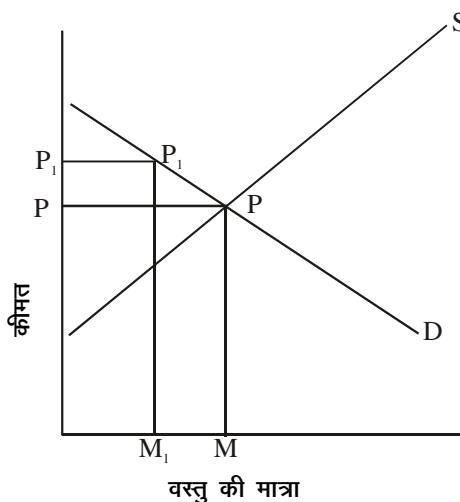
- (i) अन्तर्राष्ट्रीय 'व्यापार विश्व कार्टेल' के चयुंल में फंस सकता है।
 - (ii) यदि इसका प्रशासन निर्यातकर्ता देश के हाथों में होता है तो इससे आयातकर्ता देशों को हानि होती है।
 - (iii) सरकार को राजस्व की हानि होती है।
- (5) **मिश्रित कोटा (The Mixed Quota)** - इसके अन्तर्गत वस्तु का आयात कोटा निश्चित करने वाले देश के उत्पादकों को निर्मित माल का स्वदेशी उत्पादन करने हेतु आयातित कच्चे माल के साथ एक निश्चित अनुपात में स्वदेशी कच्चे माल के उपयोग की अपेक्षा की जाती है। यह प्रणाली प्रायः विदेशों से आयातित कच्चे माल या प्राथमिक वस्तुओं के सम्बन्ध में लागू की जाती है। इस प्रणाली के मुख्य गुण निम्न प्रकार हैं-
- (i) स्वदेशी माल से पूर्तिकत्ताओं की सहायता होती है।
 - (ii) इसमें दुर्लभ विदेशी मुद्रा की बचत होती है।
- इस प्रणाली की निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है-
- (i) विश्व के आर्थिक साधनों का ईष्टतम उपयोग नहीं हो पाता।
 - (ii) घरेलू कीमतें बढ़ने लगती हैं और उत्पादन का स्तर घट जाता है।

अभ्यंश या कोटा के प्रभाव (Effects of Quotas)

कीमत प्रभाव (Price Effect) - आयात अभ्यंश के कारण वस्तु के आयात कम हो जाते हैं। इसका दोहरा प्रभाव पड़ता है। प्रथम, आयात कम होने के कारण आयातित वस्तु की कीमत में व द्वितीय, निर्यातकर्ता देश में वस्तु की पूर्ति बढ़ जाने के कारण वस्तु की कीमत कम हो जाती है। वस्तु की कीमत में परिवर्तन की सीमा दो तत्त्वों द्वारा निर्धारित होती है- (अ) आयातित वस्तु की पूर्ति या मात्रा तथा (ब) आयातित वस्तु की माँग की लोच।

आयात अभ्यंश के अन्तर्गत आयात की जाने वाली वस्तु की मात्रा निश्चित रहने के कारण उस वस्तु की देश में जितनी अधिक माँग होगी उसकी कीमतों में उतनी ही अधिक व द्वितीय आयात अभ्यंश का कीमत-प्रभाव रेखाचित्र में स्पष्ट किया गया है।

चित्र में DD वस्तु का घरेलू माँग वक्र है तथा SS आयातित वस्तु का पूर्ति वक्र है। स्वतंत्र व्यापार की स्थिति में साम्य बिन्दु P है, जहाँ कीमत PM होती है और वस्तु की OM मात्रा का आयात किया जाता है। अब यदि OM₁ आयात अभ्यंश निर्धारित कर दिया जाये तब पूर्ति वक्र SNS₁ हो जाता है जो यह बताता है कि OM₁ मात्रा के बाद पूर्ति वक्र पूर्णतया बेलोचदार है। यह वक्र माँग को P₁ बिन्दु पर काटता है। अतः कीमत PM से बढ़कर P₁M₁ हो जाती है। इस प्रकार आयात अभ्यंश के कारण कीमत में P₁P की व द्वितीय होती है।



व्यापार-शर्तों पर प्रभाव (Effect on Terms of Trade)- आयात अभ्यंश निश्चित कर देने पर व्यापार-शर्त बदल जाती हैं। नवीन व्यापार-शर्त आयात अभ्यंश लगाने वाले देश के अनुकूल भी हो सकती हैं और प्रतिकूल भी। यदि निर्यातक देशों का प्रस्ताव वक्र कम लोचदार है तो व्यापार की शर्त आयात-अभ्यंश लगाने वाले देश के प्रतिकूल जा सकती हैं। इसके विपरीत, यदि विदेशी प्रस्ताव वक्र अधिक लोचदार है तो व्यापार की शर्त आयात अभ्यंश निश्चित करने वाले देश के अनुकूल जा सकती हैं। इस तथ्य को रेखाचित्र में समझाया जा सकता है।

भारत

माना कि भारत, जो कि कपड़े का निर्यात कर रहा है, का प्रस्ताव वक्र OB है तथा इंग्लैंड, जो इस्पात का निर्यात करता है, का प्रस्ताव वक्र OE है। स्वतन्त्र व्यापार की स्थिति में OA रेखा व्यापार की शर्त बताती है। अब यदि यह मान लिया जाये कि भारत इंग्लैंड से आने वाले इस्पात की मात्रा OA' तक सीमित कर देता है तो व्यापार की शर्त में परिवर्तन हो जायेगा। अब भारतीय कपड़ा और इंग्लैंड के इस्पात के मध्य नवीन व्यापार शर्त OA₁ अथवा OA₂ हो जायेगी अथवा इन दोनों कीमतों के मध्य इंग्लैंड इस्पात के प्रस्ताव वक्र (OE) की माँग की लोच के अनुसार कोई भी कीमत (व्यापार की शर्त) तय हो सकती है। स्पष्ट है कि भारत के

कपड़ा (भारत)

लिये OA₁ व्यापार की शर्त अनुकूल है, जबकि OA₂ प्रतिकूल है।

भुगतान-सन्तुलन प्रभाव (Effect on Balance of Payments)- आयात अभ्यंशों के द्वारा आयातों को नियन्त्रित कर दिया जाता है। आयातों पर प्रतिबंध लगाकर भुगतान-सन्तुलन में स्थित असाम्यता को दूर किया जा सकता है। अतः इसका प्रभाव भुगतान-सन्तुलन पर अनुकूल पड़ता है। किन्तु निम्न दशाओं में आयात अभ्यंश का भुगतान-सन्तुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा-

- (i) यदि अभ्यंश लगाने पर निर्यातक देश इसी प्रकार के प्रतिबन्ध लगा देते हैं तो अभ्यंश निर्धारित करने वाले देश को लाभ नहीं होगा।
- (ii) यदि अभ्यंश लगाने से देश के महँगे कच्चे माल का उपयोग होने से वस्तु की लागत बढ़ जाती है तो निर्यात हतोत्साहित होंगे।
- (iii) यदि अभ्यंश लगा देने से निर्यातक देशों की आयात क्षमता कम हो जाती है तो फिर निर्यात कम हो जायेंगे।

संरक्षणात्मक प्रभाव (Protective Effect)- आयात अभ्यंश पूर्णतः संरक्षणात्मक होते हैं। ये आयातों को एक निश्चित मात्रा तक नियन्त्रित कर देते हैं। फलस्वरूप वस्तु कीमत बढ़ जाती है। इससे घरेलू उद्योगों को संरक्षण मिलता है, खदेशी उद्योगों का विस्तार होता है और घरेलू उत्पादन की मात्रा बढ़ जाती है। चित्र में उत्पादन में M₁M₂ की व द्विंद्वि आयात अभ्यंश के संरक्षणात्मक प्रभाव की भौतिक माप है।

उपभोग प्रभाव (Consumption Effect)- आयात अभ्यंश सामान्यतया वस्तुओं के कुल उपभोग को घटा देते हैं क्योंकि आयात अभ्यंशों के कारण घरेलू कीमतें बढ़ जाती हैं। चित्र में उपभोग में M₃M₄ के बराबर कमी आयात अभ्यंश का उपभोग प्रभाव है।

पुनर्वितरणात्मक या हस्तान्तरण प्रभाव

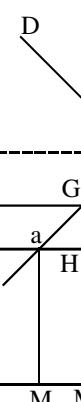
(Redistributive or Transfer Effect)-
आयात अभ्यंश के कारण आयात कम होते हैं, जिससे कीमतें बढ़ती हैं और आय का हस्तान्तरण उपभोक्ताओं से उत्पादकों की ओर हो जाता है। जब वस्तुओं की कीमतें बढ़ती हैं तो घरेलू उत्पादकों की आय में व द्वि होती है परन्तु उपभोक्ताओं की उन वस्तुओं पर उपभोक्ता की बचत कम हो जाती है। यही आयात अभ्यंश का पुनर्वितरणात्मक प्रभाव है। रेखाचित्र में का PGIP क्षेत्र आयात अभ्यंश पुनर्वितरणात्मक प्रभाव दर्शाता है।



वस्तु की मात्रा

कोटा व प्रशुल्क नीतियों का तुलनात्मक अध्ययन

(A Comparative Study of Quota and Tariff Policies)



कोटा	प्रशुल्क
(1) कोटा कठोर व लोचहीन होते हैं और आयातों को कठोरता से सीमित करते हैं।	प्रशुल्क प्रणाली लोचपूर्ण होती है। इनका आयात प्रतिबन्धात्मक प्रभाव लचीला होता है।
(2) इनका प्रभाव पूर्ण संरक्षणात्मक होता है।	इनका प्रभाव पूर्ण संरक्षणात्मक नहीं होता।
(3) लाइसेन्स प्रदान करने में भेदभाव बरता जाती है। लाइसेन्स प्राप्त: पुरानी फर्मों को ही दिये जाते हैं।	विदेशी प्रतियोगिता से घरेलू उत्पादकों को संरक्षण मिलता है और इसमें भेदभाव नहीं बरता जाता।
(4) कोटा-प्रणाली के कीमत प्रभाव अनिश्चित तथा अस्पष्ट होते हैं, जबकि आयात प्रतिबन्ध प्रभाव निश्चित व तुरन्त होते हैं।	प्रशुल्क के कीमत प्रभाव स्पष्ट होते हैं किन्तु आयात प्रतिबन्ध सम्बन्धी प्रभाव अनिश्चित होते हैं।
(5) आयात की मात्रा निश्चित होने के कारण माँग व पूर्ति की शक्तियों पर नियन्त्रण लग जाता है।	प्रशुल्क चुकाने के बाद माँग व पूर्ति की शक्तियाँ स्वतन्त्र रूप से कार्यशील रहती हैं।
(6) केवल लाइसेन्स-शुल्क के रूप में ही राजस्व प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त इसके राजस्व प्रभाव नहीं होते।	प्रशुल्क के कारण वस्तु की कीमत में व द्वि होती है और इसका एक भाग सरकारी राजस्व में जाता है। अतः प्रशुल्क के राजस्व प्रभाव होते हैं।
(7) वस्तु की घरेलू कीमतों में अपेक्षाकृत अधिक व द्वि होती है क्योंकि इसमें आयात की मात्रा निश्चित रहती है और माँग के अनुसार कीमत बढ़ जाती है।	वस्तु की घरेलू कीमतों में लगभग प्रशुल्क के बराबर व द्वि होती है।
(8) कोटा लाइसेन्स के कारण एकाधिकारिक प्रवत्तियाँ पनपती हैं।	एकाधिकारिक प्रवत्तियाँ नहीं पनपती।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आयात प्रतिबन्ध के एक उपाय के रूप में कोटा-प्रणाली की अपेक्षा प्रशुल्क प्रणाली अधिक अच्छी है। किन्तु अल्पविकसित देशों में निम्न कारणों से प्रशुल्क की अपेक्षा कोटा (आयात अभ्यंश) प्रणाली अधिक अच्छी होती है-

- (1) अल्पविकसित देशों में तीव्र औद्योगीकरण के लिये यह आवश्यक है कि शिशु उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से प्रभावशाली संरक्षण दिया जाये। यह संरक्षण कोटा-प्रणाली द्वारा ही मिल सकता है।
- (2) अल्पविकसित देश विदेशी विनिमय संकट से ग्रस्त रहते हैं। अतः कोटा-प्रणाली द्वारा भौतिक प्रतिबन्ध ही इस संकट के निवारण में प्रभावी सिद्ध होते हैं।
- (3) अल्पविकसित देशों में आयातों की मॉग बेलोचदार होती है, सीमांत आयात प्रव ति अधिक होती है तथा भुगतान-सन्तुलन प्रतिकूल होते हैं। इस दशा में भौतिक आयात प्रतिबन्ध ही वांछनीय है।
- (4) स्वदेशी उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के लिये प्रशुल्क-प्रणाली की अपेक्षा कोटा-प्रणाली ही अधिक उपयुक्त है।
- (5) आयातों पर भौतिक प्रतिबन्ध अधिक निश्चित होते हैं।
- (6) कोटा-प्रणाली के कारण देश के आन्तरिक कीमत में व द्विः हो जाने पर मौद्रिक उपायों द्वारा रोक लगायी जा सकती है जबकि प्रशुल्क के कारण कीमत-व द्विः पर रोक लगाना कठिन होता है।
- (7) कोटा-प्रणाली के द्वारा लगाये जाने वाले भौतिक प्रतिबन्धों की प्रक ति लोचपूर्ण होती है।

अध्याय-14

गैर-प्रशुल्क बाधायें और इसके अर्थव्यवस्था पर प्रभाव (Non-Tariff Barriers and its effect on economy)

Non Tariff Barriers (NTB) प्रशुल्कों के अलावा वे प्रशासनिक उपाय हैं जिससे व्यापार घरेलू वस्तुओं के पक्ष में और विदेशी वस्तुओं के विपक्ष में होता है। कहने का अभिप्राय यह हुआ कि NTB में ऐसी सभी उपायों को शामिल किया जाता है जिससे आयात हतोत्साहित होता है और निर्यात प्रोत्साहित होता है। परन्तु ये उपाय प्रशुल्कों के अलावा हैं। मुख्यता NTB को तीन भागों में बँटते हैं।

- I. Quantitative Trade Restrictions
- II. Fiscal Resources
- III. Administrative, Standards and Regulation

हम यहाँ पर विभिन्न प्रकार की NTB के प्रकार और उससे पड़ने वाले प्रभाव की व्याख्या कर रहे हैं।

1. स्वैच्छिक निर्यात रुकावटें (Voluntary Export Restraints-VERs)

स्वैच्छिक निर्यात रुकावट (VER) एक ऐसा समझौता है जो निर्यातक देश के निर्यातकों अथवा सरकार द्वारा आयातक देश के साथ उसके निर्यातों को सीमित करने के लिए किया जाता है। यह आयातक देश द्वारा तब किया जाता है जब उसका घरेलू उद्योग बड़े पैमाने पर आयातों द्वारा पीड़ित होता है। आयात की सीमा मात्रा मूल्य अथवा बाजार के अंश के अनुसार निश्चित की जा सकती है। VERs कभी-कभार ही 'स्वैच्छिक' होता है। इन्हें निर्यातकों को विवशता में स्वीकार करना पड़ता है अन्यथा आयातक देश उन पर अधिक शक्तिशाली व्यापार बाधाओं द्वारा प्रतिबंध लगा सकते हैं। फिर भी यदि निर्यातक देश ऊँची कीमतों पर कम निर्यात करके अधिक लाभ कमाने की आशा रखता है तो वह अपने निर्यात पर स्वैच्छिक रुकावटों को स्वीकार कर सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका, यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC) तथा अन्य औद्योगिक देशों द्वारा VERs का प्रयोग जापान तथा विकासशील देशों से स्टील, टीवी, आटोमोबाइल्स, वस्त्र आदि के आयात पर रोक लगाने के लिए किया गया है। GATT द्वारा प्रशुल्कों तथा कोटों पर रोक लगाने के बाद देशों ने VERs को अपनाया है, परन्तु नियमों GATT के नियमों के अंतर्गत VERs नहीं आतीं।

आयातक देश पर VER के प्रभावों को चित्र में दर्शाया गया है जहाँ Dd वस्तुओं के लिए घरेलू माँग वक्र है तथा Sd वस्तुओं के लिए घरेलू पूर्ति वक्र है जो दूसरे देश को विश्व कीमत OPw पर भेजी जाती हैं। इस कीमत पर OQ घरेलू उत्पादकों द्वारा निर्यात तथा QQ₃ आयात की जा रही है। अब यदि Q₁Q₂ के आयात कोटे की बजाय किसी निर्यातक देश द्वारा उसी मात्रा में VER अपनाई जाए तो उसके प्रभाव प्रशुल्क अथवा आयात कोटा के बराबर होंगे। VER तथा आयात कोटा के बीच एकमात्र अन्तर किराया अथवा अतिरिक्त लाभ है जो निर्यातक देश के पूर्तिकर्ताओं को जाता है। VER के मामले में घरेलू माँग वक्र Dd वर्णी रहता है जबकि पूर्ति वक्र Sd बदलकर S_v हो जाता है।

ताकि उच्च कीमत OP_V पर संतुलन पैदा हो जाए। VER के साथ पूर्ति वक्र S_V यह दर्शाता है कि OP_V कीमत पर मात्रा OQ की पूर्ति आयातक देश द्वारा की जाती है तथा $Q_1 Q_2$ इसके आयात पर VER है। यह मात्रा आयातक देश को बेचकर निर्यातक देश के पूर्तिकर्ता VER से किराया प्राप्त कर लेते हैं। यह क्षेत्र $a+R+b$ के बराबर होता है जो चित्र के अनुसार आयातक देश की राष्ट्रीय शुद्ध कल्याण हानि है। आयातक देश की उपभोक्ता बेशी की कुल हानि क्षेत्र $Z+a+R+b$ है जो

कि प्रशुल्क अथवा आयात कोटा के बराबर है। Z क्षेत्र घरेलू उपभोक्ताओं से उत्पादकों को चला जाता है। क्षेत्र a तथा b प्रतिनिधित्व करने वाले दो त्रिभुज कुल राष्ट्रीय हानि हैं। क्षेत्र R उस राजस्व का प्रतीक है जो निर्यातक देश के पूर्तिकर्ताओं को VER से मिलता है जो आयातक देश की सरकार की हानि है तथा उसकी शुद्ध कल्याण हानि है। VER का आयातक देश पर एक अन्य प्रभाव यह पड़ता है कि उसकी व्यापार की शर्तें निर्यातक देश की तुलना में सुधार की बजाय उन्हें और खराब करती हैं। ऐसा इसलिए कि यह निर्यातक देश की वस्तु की कम विश्व कीमत की बजाय उसकी उच्च घरेलू कीमत देता है।

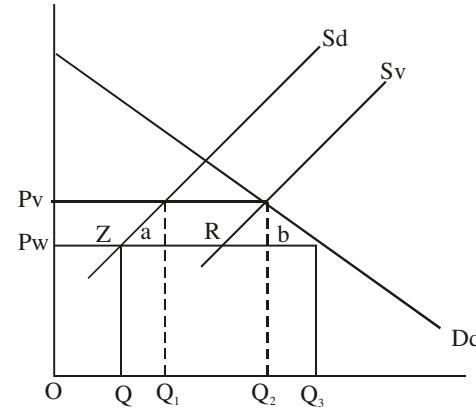
यही नहीं VERs पक्षपाती होती हैं क्योंकि ये समझौते न्यूनतम लागत निर्यातकों के साथ रखे जाते हैं। परन्तु वे उच्च लागत निर्यातकों से आयात की ओर ले जा सकते हैं जिससे आयातक देश का आयात बिल बढ़ा सकते हैं।

निर्यातक देश पर प्रभाव (Effects on Exporting Country)- जहाँ तक निर्यातक देश पर VER के प्रभावों का प्रश्न है उसे अतिरिक्त लाभ (किराया) का फायदा तथा व्यापार की शर्तों में सुधार मिलता है। अतः वह आयातक देश द्वारा बराबर का प्रशुल्क अथवा आयात कोटा लागू करवाने की जगह VER को प्राथमिकता देगा। चूंकि VERs स्थायी नहीं हैं, इसलिए निर्यातक देश बाद में इनमें छूट दिए जाने अथवा हटा लिए जाने के लिए आयातक देश पर दबाव डाल सकता है। इस प्रकार यह आयातक देशों को रसाई प्रशुल्क अथवा कोटा के लिए मना कर सकता है।

जब एक VER निर्यात को रोकती है तो निर्यातकों के पास अधिकार (surplus) उत्पादन होता है। परिणामस्वरूप, निर्यात योग्य वस्तुओं की कीमत गिर जाती है और आय में कमी तथा हानि होती हैं इसके कारण संसाधन अन्य उत्पादक उद्योगों की ओर जा सकते हैं। यदि किसी एक कार्टल अथवा VER से बंधे निर्यातक किसी बड़े उद्योग से संबंधित हैं तो भी VER किसी नये बाजार की खोज तक निर्यात को कम करेगी। उससे पुनः संसाधनों का पुनः आवंटन तथा हानि हो सकती है। इस प्रकार VER से निर्यातक देश को कुल मिलाकर आर्थिक हानि का सामना करना पड़ सकता है।

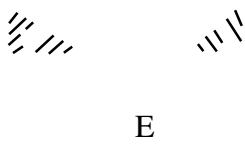
2. निर्यात सब्सिडी (Export Subsidy)

निर्यात सब्सिडी किसी सरकार द्वारा एक निर्यातक फर्म (अथवा उत्पादक) को दी जाने वाली आर्थिक सहायता है ताकि निर्यात वस्तुओं की कीमत में कमी की जा सके। इससे किसी फर्म को घरेलू बाजार की बजाय निर्यात बाजार में अपनी वस्तु अधिक मात्रा तथा कम कीमत में बेचने में आसानी होती है। निर्यात सब्सिडी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों तरह से दी जा सकती है। परन्तु प्रत्यक्ष निर्यात सब्सिडियां देती हैं जैसे रियायती दरों पर ऋण, उनके द्वारा दिए गये प्रशुल्कों में वापसी, कमी वाले कच्चे माल के आवंटन में उन्हें प्राथमिकता, विदेशी मुद्रा आवंटन में प्राथमिकता, व्यापार मेले जैसी



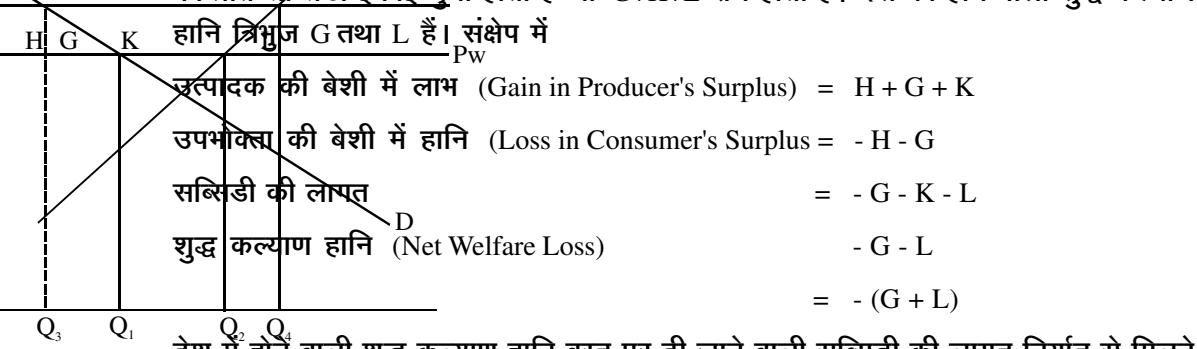
गतिविधियों के प्रोत्साहन में वित्तीय सहायता, बाजार अनुसंधान, विज्ञापन, कर-राहत आदि में वित्तीय सहायता।

निर्यात सब्सिडी के प्रभाव (Effects of Export Subsidy)



चित्र में एक छोटे देश के मामले में आंशिक संतुलन के अन्तर्गत निर्यात सब्सिडी के आर्थिक प्रभावों को दर्शाया गया है जिसकी निर्यात सब्सिडी का आयातक देश पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मान लीजिए D और S निर्यात योग्य वस्तु के घरेलू माँग तथा पूर्ति वक्र हैं तथा घरेलू बाजार संतुलन E बिन्दु पर है। विश्व कीमत OPw के साथ, जो घरेलू कीमत (E) से ऊपर है, घरेलू माँग OQ₁ है तथा घरेलू पूर्ति OQ₂ है। माँग से पूर्ति अधिक OQ₂>OQ₁ होने के कारण देश Q₁Q₂ मात्रा निर्यात करता है। निर्यात के विस्तार को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार प्रत्येक

निर्यातित ईकाई पर Pw-Ps सब्सिडी देती है। इससे घरेलू कीमत OPs घरेलू उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं दोनों के लिए बढ़ती है। इस कीमत पर वस्तुओं की माँग OQ₃ पर गिर जाती है परन्तु पूर्ति Q₃Q₄ तक बढ़ जाती है। विश्व कीमत OPw होने के कारण OPs तथा OPw कीमतों में अन्तर की निर्यातकों को क्षतिपूर्ति सब्सिडी के रूप में मिल जाती है और निर्यात Q₁Q₂ से Q₃Q₄ तक बढ़ जाता है। चूंकि उपभोक्ता को सब्सिडी के बाद जो कीमत देनी पड़ती है वह बढ़ जाती है, इसलिए उपभोक्ता बेशी (Consumer's Surplus) चित्र में क्षेत्र जितना कम हो जाता है। परन्तु उत्पादक बेशी के लाभ H+G+K क्षेत्र होता है। सरकार को पड़ने वाली सब्सिडी की कुल लागत निर्यायित मात्रा की प्रति सब्सिडी ईकाई गुना होती है जो G+K+L क्षेत्र होती है। देश को होने वाली शुद्ध कल्याण



देश में होने वाली शुद्ध कल्याण हानि वस्तु पर दी जाने वाली सब्सिडी की लागत निर्यात से मिलने वाले राजस्व से अधिक होने के कारण होती है।

दूसरी ओर यदि देश अपनी वस्तु को बड़े पैमाने पर सब्सिडी दे रहा है तो उसकी सब्सिडी देने की लागत भी बढ़ जाती है। जैसे-जैसे उसके निर्यात में और विस्तार होता है विश्व कीमत कम हो जाती है, परिणामस्वरूप इसकी व्यापार की शर्तों में गिरावट आ जाती है, उसकी शुद्ध कल्याण हानि अधिक हो जाती है।

सब्सिडी बनाम आयात प्रशुल्क (Subsidy v/s Import Tariff)

निर्यात सब्सिडी के प्रभाव आयात प्रशुल्क के बराबर होते हैं तथापि विपरीत होते हैं।

पहला, दोनों में, घरेलू तथा अंतर्राष्ट्रीय कीमतों का अन्तर पैदा हो जाता है। निर्यात सब्सिडी विश्व

कीमत से ज्यादा निर्यात की घरेलू कीमत बढ़ा देती है, जबकि आयात प्रशुल्क विश्व कीमत से ज्यादा आयात की कीमत में व द्विं कर देते हैं।

दूसरा, निर्यात सब्सिडी संसाधनों को निर्यात योग्य वस्तुओं की ओर मोड़ती है। परन्तु आयात प्रशुल्क संसाधनों को घरेलू उपभोग के लिए वस्तुओं के उत्पादन की ओर ले जाते हैं।

तीसरा, निर्यात सब्सिडी से सरकार को शुद्ध राजस्व हानि होती है, जबकि आयात प्रशुल्क से सरकार को शुद्ध राजस्व लाभ प्राप्त होता है। फिर भी दीर्घकाल में, निर्यात योग्य वस्तुओं के उत्पादन में व द्विं को प्रोत्साहित करने से निर्यात सब्सिडी स्वयं-वित्तपोषक (self-financing) हो सकती है।

चौथा, घरेलू उत्पादकों को दी जाने वाली सब्सिडी आयात की जगह ले लेगी तथा देश में वार्स्टविक बचत बढ़ेगी। वार्स्टविक आय में यही लाभ वस्तु की घरेलू कीमत में व द्विं के साथ उसी प्रतिशत में प्रशुल्क द्वारा पाया जा सकता है। परन्तु वस्तु के उपयोग पर रोक के कारण इससे उपभोक्ता बेशी की हानि होगी।

पांचवें, सब्सिडी घरेलू कीमत ढांचे को बाहरी कीमत ढांचे के अनुसार ढालती है और इस प्रकार निर्यात को विश्व बाजार में प्रतियोगिता के लिए तैयार करती है। दूसरी ओर प्रशुल्क घरेलू कीमत ढांचे को घरेलू लागत ढांचे के अनुसार ढालता है। इससे अकुशलताएं पैदा होती हैं तथा निर्यात के लिए विश्व बाजार में प्रतियोगिता करनी कठिन हो जाती है।

अन्तिम, LDCs के दष्टिकोण से निर्यात सब्सिडी आयात प्रशुल्क से श्रेष्ठ है क्योंकि यह निर्यात प्रोत्साहन के द्वारा आर्थिक विकास लाता है जबकि प्रशुल्क का उद्देश्य आयात का प्रतिस्थापन (Substitution) है। परन्तु ऐसे देशों के लिए राजस्व कमाने हेतु आयात प्रशुल्क आवश्यक है ताकि भुगतान शेष की समस्या को सुलझा सकें।

आयातक देश पर सब्सिडी के प्रभाव (Effects of Subsidy on Import Countries)

जहाँ तक आयातक देश का प्रश्न है इसकी व्यापार की शर्तों में तब सुधार होता है जब एक बढ़ा देश अपने निर्यात को सब्सिडी प्रदान करता है। उसके लिए सब्सिडी वाली वस्तु की विश्व कीमत कम हो जाती है तथा वह अपने आयात की कम कीमत देता है। परन्तु कम कीमत का इसके आय वितरण पर बुरा प्रभाव पड़ता है। जब कीमतें कम कर दी जाती हैं तो उनका बुरा प्रभाव सब्सिडी युक्त आयात के साथ प्रतियोगिता करने वाले उद्योगों के श्रम तथा पूँजी पर पड़ता है। यद्यपि सब्सिडीयुक्त वस्तुओं को कम कीमत का या वैसे ही वस्तु उपभोक्ताओं को लाभ होता है तथापि आयातक देशों के उत्पादकों को वही या वैसी ही वस्तु पर हानि होती है। अतः निर्यात को सब्सिडी देना अनुचित व्यापार व्यवहार समझा जाता है तथा आयातक देश ऐसी आयातित वस्तुओं पर प्रतिकारी शुल्क लगा देता है।

3. प्रतिकारात्मक शुल्क (Countervailing Duty)

प्रतिकारात्मक शुल्क एक प्रकार का आयात शुल्क अथवा आयातक देश द्वारा सब्सिडी युक्त वस्तु की अपेक्षाकृत कम कीमत को बढ़ाने के लिए लगाया गया प्रशुल्क है।

निर्यातक तथा आयातक देशों पर प्रतिकारात्मक शुल्क के प्रभाव को चित्र में दर्शाया गया है।

मान्यताएं (Assumptions)- इस विश्लेषण की मान्यताएं हैं कि

- (क) निर्यात वस्तु सब्सिडी युक्त होती है;
- (ख) वस्तुओं की पूर्ति पूर्ण लोचदार होती हैं
- (ग) आयातक देशों द्वारा इस वस्तु पर लगाया गया शुल्क निर्यात सब्सिडी के बराबर होता है।

व्याख्या (Explanation)- ये मान्यताओं दी होने पर, चित्र में वस्तु की आयात माँग को DM वक्र द्वारा दिखाया गया है तथा पूर्ति वक्र $P_w S$ है। सब्सिडी से पहले वस्तु की OQ मात्रा निर्यात तथा OP_w कीमत

पर आयात की जा रही है। वस्तु को सब्सिडी मिलने के बात पूर्ति वक्र P_wS सब्सिडी की पूरी राशि जितना P_sS_1 तक नीचे सरक जाता है। मान लीजिए OP_s तक कीमत गिरने पर आयात की माँग में कोई परिवर्तन नहीं होता है तो नया संतुलन बिन्दु E_1 पर होगा और आयात OQ से OQ_1 तक बढ़ जाएगा। परिणामस्वरूप, विदेशी उपभोक्ताओं को लाभ के रूप में $F+G = (PwPsE_1E)$ क्षेत्र उपभोक्ता

क्षेत्र

मात्रा

बेशी होगा। निर्यातक देश की सब्सिडी की लागत $F+G+H (=QQ_1xPwPs)$ क्षेत्र है। चूंकि उत्पादक बेशी में लाभ $F+G$ है, इसलिए निर्यात सब्सिडी से हानि त्रिभुज H है।

यद्यपि सब्सिडी विदेशी उपभोक्ताओं को लाभ पहुँचाती है तथापि आयातक देश को क्षेत्र H के बराबर उसकी कम कीमत होने के कारण इस वस्तु के उत्पादन में हानि होती है। इसकी क्षतिपूर्ति के लिए वह निर्यात सब्सिडी के बराबर प्रतिकारात्मक शुल्क लगा देता है। परिणामस्वरूप वस्तु की कीमत OP_s से OP_w तक बढ़ जाती है तथा सब्सिडी-पूर्व रूठर तक वापस चली जाती है। इस प्रकार, सारी उपभोक्ता बेशी आयातक देश में मिट जाती है। परन्तु सरकार F क्षेत्र के बराबर शुल्क से राजस्व प्राप्त करती है, जिससे उपभोक्ता बेशी की कुछ क्षतिपूर्ति हो जाती है। दूसरी ओर, शुल्क द्वारा निर्यातक देश का निर्यात घट जाता है परन्तु सरकार निर्यात सब्सिडी के रूप में $G+H$ क्षेत्र बचा लेती है।

4. अन्य गैर-प्रशुल्क बाधाएं (Other Non-Tariff Barriers)

आयात कोटा, राशिपातन, विनियम नियंत्रण, निर्यात सब्सिडी, प्रतिकारी शुल्क, VERs आदि के अतिरिक्त कुछ और गैर-प्रशुल्क बाधाएं होती हैं, जिनका संक्षिप्त वर्णन नीचे किया गया है।

(1) सरकारी चालूली (Government Procurement)

सरकार-अपने विभागों की आवश्यकता के लिए वांछित वस्तुओं और सेवाओं के लिए घरेलू तथा विदेशी पूर्तिकर्ताओं के बीच भेद करती है। यदि भेद कई तरह का हो सकता है। कुछ देशों में घरेलू वस्तुएं तथा सेवाएं प्रीमियम करना कानूनी तौर पर जरूरी है चाहे विदेशों से वे कम कीमतों पर मिलें तो भी। उदाहरणार्थ, अमेरिकी खरीदो अधिनियम (Buy-American Act) के अन्तर्गत अमेरिका के सरकारी विभागों एजेंसियों को घरेलू निविदाएं (bids) ही स्वीकार करनी होती हैं चाहे घरेलू निविदाएं

Q विदेशी निविदाओं से 12 प्रतिशत तक अधिक क्यों न हो। रक्षा विभाग के मामले में यह 50 प्रतिशत अधिक होने पर भी मान्य होता है। कई अन्य देशों में सरकारी खरीद के लिए निविदाएं घरेलू पूर्तिकर्ताओं से ही आमंत्रित की जाती हैं। जापान सरकार विदेशी निविदाओं पर विचार नहीं करती। विदेशी सप्लायर्स की निविदाएं स्वीकार न करने अथवा अस्वीकार करने में सरकारें अपने विवेकाधिकारों का प्रयोग करती हैं। कई बार निविदाओं के विस्तर त विवरण इस तरह से लिखे जाते हैं कि विदेशी सप्लायर्स को अलग किया जा सके। इसका उद्देश्य घरेलू उद्योग की सहायता करना होता है। इसका प्रभाव प्रशुल्क जैसा होता है परन्तु राजस्व रहित होता है। वास्तव में, सरकार द्वारा वसूली की गई वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमत बढ़ जाती है।

(2) सीमा शुल्क मूल्यांकन तथा वर्गीकरण (Customs Valuation and Classification)

प्रायः सीमाशुल्क अधिकारी आयात का मूल्यांकन वस्तुओं के लिए निर्धारित प्रशुल्क दर से अधिक करते हैं। उदाहरण के लिए अप्रैल 1979 तक अमेरिका में कुछ रसायनों के आयात का मूल्यांकन बीजक पर लिखी कीमत के अनुसार लगाने की बजाय अमेरिका में उत्पादित अमेरिकी रसायनों के थोक मूल्य, अथवा जो ज्यादा हो, के अनुसार लगाते थे। सीमा शुल्क मूल्यांकन का एक अन्य तरीका

जानबुझकर माल छोड़ने में देरी करना ताकि आयातित वस्तुओं की लागत बढ़ जाए जैसा कि आयात प्रशुल्क करता है। इसके अतिरिक्त सीमा शुल्क सूची में बहुत-सी वस्तुओं का वर्णन होता है और प्रत्येक वर्ग के लिए प्रशुल्क दर का अलग निर्धारण होता है। सीमाशुल्क अधिकारी प्रायः वस्तुओं का अपना वर्गीकरण ऊँची दरों पर करके ज्यादा प्रशुल्क लगाते हैं। ऐसी प्रक्रियाएं आयात रोकती हैं। क्योंकि इससे वस्तुएं मंहगी तथा घरेलू बाज़ार में गैर-प्रतिस्पर्धात्मक हो जाती हैं। इससे आयातकों में अनिश्चितता पैदा हो जाती है।

(3) आयात लाइसेंसिंग प्रक्रियाएं (Import Licence Procedure)

बहुत से देश आयात रोकने के लिए जटिल तथा मंहगी आयात लाइसेंसिंग प्रक्रियाएं अपना लेते हैं। आयात लाइसेंस प्रायः ऊँची बोली देने वालों को दिए जाते हैं। अन्य मामलों में, आयातकों को आयात लाइसेंस प्राप्त करने के लिए मोटी रकम सरकार के पास जमा करानी पड़ती है। इसके अलावा प्रशासनिक अडचने हैं जो आयातकों को लम्बे-लम्बे फार्म भरने, परमिट प्राप्त करने तथा सीमाशुल्क विभाग से माल छुड़ाने आदि में सहनी पड़ती है। यह प्रक्रियाएं प्रशुल्क की तरह ही आयात में रुकावट पैदा करती हैं।

(4) स्थानीय अंश विनियम (Local Content Regulations)

बहुत से विकासशील देशों में कार, टी०वी०, कम्प्यूटर्स आदि जैसी निर्मित वस्तुओं का आयात प्रतिबंधित होता है यदि वे स्थानीय अंश विनियमों को पूरा नहीं करते। उदाहरण के लिए भारत में विदेशी कार निर्माताओं को भारत में निर्मित स्पेआर पार्ट्स के रूप में पर्याप्त स्थानीय अंश रखना होता है। ऐसा स्थानीय स्पेआर्स उत्पादकों को विदेशी प्रतिस्पर्धा से बचाने के लिए किया जाता है। इस तरह के स्थानीय अंश के विनियम व्यापार से अधिक विदेशी निवेश को निरुत्साहित करते हैं।

(5) तकनीकी बाधाएं (Technical Barriers)

तकनीकी बाधाएं कई तरह की होती हैं जो आयात को रोकती हैं। इसमें स्वास्थ्य एवं सुरक्षा विनियम, सच्चिता, विनियम, औद्योगिक मानक, लेबलिंग तथा पैकेजिंग विनियम आदि आते हैं। ये विनियम विदेशी पूर्तिकर्ताओं पर उनके माल का आयात बनाए रखने के लिए अतिरिक्त लागतों का भार लाद देते हैं। उदाहरण के लिए, अमेरिका में विदेशी कार निर्माताओं को वहाँ उत्पादन के लिए अमेरिकी सुरक्षा एवं धुआं निकासी नियंत्रण नियमों का पालन करना जरूरी है। यही स्वास्थ्य स्टैण्डर्ड के बारे में कहा जा सकता है। खाद्य वस्तुओं के आयातकों को विशेष गुणवत्ता, पैकेजिंग और अन्य स्टैण्डर्ड की आवश्यकता है।

गैर-प्रशुल्क बाधाएं बनाम प्रशुल्क

(NTBs v/s Tariffs)

उपर्युक्त सभी गैर-प्रशुल्क बाधाओं में आयात को कम करने की प्रव ति है तथा उनका प्रभाव प्रशुल्कों जैसे ही हैं, किर भी इनकी तुलना में प्रशुल्कों के कुछ लाभ हैं।

- प्रशुल्क बाज़ार व्यवस्था में मात्र गड़बड़ी पैदा करते हैं जबकि NTBs उसे विस्थापित कर देती हैं।
- प्रशुल्क पारदर्शी हैं क्योंकि इन्हें हर व्यक्ति तथा संगठन देख सकता है। जहाँ तक प्रतिशत अथवा मूल्यानुसार शुल्क का प्रश्न है। परन्तु NTBs लोगों से छुपी रहती हैं जिनके लागू होने का उन्हें पता नहीं चलता।
- प्रशुल्कों के लागू तथा कार्यान्वित करने में सरलता तथा सुविधा रहती है जबकि कुछ NTBs के बारे में ऐसा नहीं है।

4. प्रशुल्क सरकार के लिए राजस्व पैदा करते हैं जबकि NTBs से बहुत थोड़ा राजस्व प्राप्त होता है।

5. NTBs से प्रशुल्कों की तुलना में संसाधनों का कुआवंटन अधिक होता है।

NTBs से प्रशुल्कों की श्रेष्ठता अधिक होने पर भी सरकारें विदेशी प्रतिस्पर्धा से अर्थव्यवस्थाओं, उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों को बचाने के लिए NBTs को प्राथमिकता देती हैं।

आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने में व्यापार बाधाओं की भूमिका

(Role of Trade Restrictions in Promoting Economic Development)

विकास देश बहुत-सी व्यापार बाधाएं जैसे आयात लाईसेंस तथा मात्रात्मक प्रतिबंध अपनाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ गुप्त आयात शुल्क होते हैं जैसे स्टाम्प कर, बन्दरगाह शुल्क, अग्रिम न्यूनतम जमाराशि आवश्यकताएं आदि। गैर-प्रशुल्क बाधाओं के अतिरिक्त कुछ प्रशुल्क ऐसे हैं जो व्यापार पर रोक लगाते हैं। कई प्रकार की व्यापार रुकावटें LDCs के विकास को प्रोत्साहित करने में निम्न प्रकार से सहायता करती हैं:

1. **संरक्षण (Protection)-** प्रशुल्क तथा गैर-प्रशुल्क बाधाएं घरेलू उद्योग को विदेशी प्रतिस्पर्धा विशेषकर बहुराष्ट्रीय निगमों से बचाती हैं। यह ऊँची कीमत वाले घरेलू उत्पादकों को बड़े पैमाने पर उत्पादन की किफायतें सिखाने तथा इस प्रकार प्रति इकाई लागत व कीमतों में कमी करने में सहायक होते हैं। परिणामस्वरूप, वे न केवल घरेलू बाजार के लिए बल्कि निर्यात के लिए अपना उत्पादन आगे चल कर बिना संरक्षक प्रशुल्क के करने योग्य हो जाते हैं।

2. **भुगतान संतुलन में सुधार-** विकासशील देशों द्वारा व्यापार में खड़ी की रुकावटों से भुगतान संतुलन में मदद मिलती है। ऐसे देशों की कच्चे माल के लिए माँग, पूँजीगत उपकरण, उपभोक्ता वस्तुओं आदि की माँग उनके निर्यात के लिए विदेशी माँग से ज्यादा तेज़ी से बढ़ती है। वे प्राथमिक वस्तुएं निर्यात करते हैं जिनकी विदेशी माँग कम होती है इसलिए वे इनके बदले वस्तुओं का आयात नहीं कर पाते हैं। इस प्रकार भुगतान असंतुलन पैदा होता है। प्रशुल्क, कोटा आदि जैसे व्यापार प्रतिबंध न केवल सरकार के लिए राजस्व जुटाते हैं बल्कि घरेलू उद्योगों के विकास में भी सहायक होते हैं। परिणामस्वरूप आयात कम हो जाता है, निर्यात बढ़ता है और देश विदेशी मुद्रा पैदा करने योग्य हो जाता है, जिससे भुगतान शेष में संतुलन होता है और विदेशी ऋण कम हो जाते हैं।

3. **बचत एवं निवेश में व द्वि (Increase in Savings and Investments)-** व्यापार प्रतिबंधों से उच्च बचत दर एवं निवेश प्रोत्साहित होता है। जब प्रशुल्कों, लाईसेंस, कोटा आदि जैसे व्यापार प्रतिबंध, घरेलू उद्योग को विदेशी प्रतिस्पर्धा से बचाने के लिए लगाये जाते हैं तो उत्पादक अपनी वस्तु की कीमत बढ़ने योग्य हो जाते हैं और ज्यादा लाभ कमाते हैं। जब इस लाभ को बचाकर पुनः निवेश किया जाता है तो उच्च दर पर पूँजी संचय तथा अर्थव्यवस्था में विकास होता है। विदेशी पूँजी जब विकासशील देशों के घरेलू उद्योग के विकास में सहायता करती है तो लाभार्जन होता है जो आंशिक रूप से घरेलू उद्योगों में ही पुनः निवेश कर दिया जाता है।

4. **उत्पादकता में व द्वि (Increase in Productivity)-** जब व्यापार प्रतिबंधों के अन्तर्गत प्रत्यक्ष विदेशी पूँजी निवेश की अनुमति दी जाती है तो LDCs को आधुनिक औद्योगिक तकनीक एवं जानकारी का लाभ मिलता है। वे औद्योगिक कुशलता तथा आधुनिक प्रौद्योगिकी के स जन द्वारा घरेलू उद्योगों की तकनीकी कार्यकुशलता बढ़ा देते हैं जिससे अधिक विशेषीकरण होता है तथा उत्पादकता में व द्वि होती है।

5. **रोज़गार में व द्वि (Increase in Employment)-** जब विभिन्न व्यापार प्रतिबंधों का संरक्षण घरेलू उद्योग को मिलता है तो LDCs में श्रमिक वर्ग को लाभकारी रोज़गार के अवसर मिलने लगते हैं।
6. **सार्वजनिक राजस्व व द्वि (Increase in Public Revenue)-** व्यापार पर प्रशुल्क तथा गैर-प्रशुल्क प्रतिबंधों से सरकारी राजस्व में व द्वि होती है। बन्दरगाहों तथा सीमा चौकियों पर आयातित वस्तुओं पर लगे मूल्यानुसार तथा प्रतिशत करों से प्राप्त राजस्व सबसे सर्ता तथा सरकारी राजस्व प्राप्त करने का सबसे कुशल एवं सरल तरीका है। व्यापार प्रतिबंधों से अर्जित किये जाने वाले राजस्व के अन्य तरीके आयात लाइसेंस, कोटा नीलामी, आयातकों द्वारा आयात के मूल्य के बराबर सरकारी खजाने में जमा की जाने वाली न्यूनतम जमाराशि। इस प्रकार आयात पर लगाए गए शुल्क LDCs द्वारा आयात पर लगाए करों को एकत्र करने में अपेक्षाकृत सरल होते हैं।
7. **आत्मनिर्भरता (Self-Reliance)-** LDCs के लिए औद्योगिक आत्मनिर्भरता प्राप्त करने तथा आर्थिक निर्भरता दूर करने के लिए आयात प्रतिबंध सबसे महत्त्वपूर्ण साधन हैं। घरेलू उद्योग को संरक्षण देकर तथा आयात प्रतिस्थापन उद्योगों की स्थापना करके, बड़ी बचत द्वारा पैंजी स जन बढ़ा कर, निवेश तथा लाभ, भुगतान संतुलन में सुधार तथा विदेशी ऋण घटाकर, व्यापार प्रतिबंध आत्मनिर्भरता के लक्ष्य की प्राप्ति में LDCs की सहायता करते हैं।

अध्याय-15

अपूर्ण प्रतियोगी बाजार के अन्तर्गत व्यापार

(Trade under Imperfectly Competitive Market)

इस अध्याय में एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता वाले बाजार के माध्यम से अपूर्ण प्रतियोगी बाजार के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का फर्म के सन्तुलन पर पड़ने वाले प्रभाव की व्याख्या की गई है। हम जानते हैं कि एकाधिकारात्मक प्रतियोगी बाजार में प्रत्येक देश का बाजार किसी वस्तु के प्रतिस्थापन पदार्थ उत्पन्न कर रही होती है। प्रत्येक प्रतिस्थापन पदार्थ अलग फर्म द्वारा उत्पन्न किया जाता है। इस मॉडल की प्रमुख पूर्वधारणाएं (Assumptions) निम्न प्रकार से हैं:

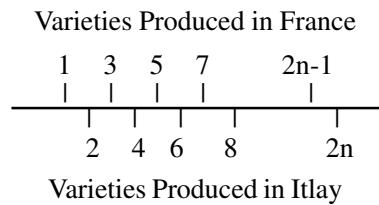
पूर्वधारणाएं (Assumption)

1. दो देश किसी एक वस्तु का उत्पादन कर रहे हैं।
2. दोनों देशों में उस वस्तु के विभिन्न प्रतिस्थापन पदार्थ उत्पन्न किये जा रहे हैं।
3. प्रत्येक प्रतिस्थापन पदार्थ अलग फर्म द्वारा उत्पादित किया जाता है।
4. फर्मों को उद्योग में प्रवेश करने व छोड़ने की पूर्ण स्वतन्त्रता है।
5. उद्योग में सभी फर्मों को पैमाने की बचतें उपलब्ध हैं।
6. प्रत्येक फर्म अपने लाभ को अधिकतम करना चाहती है।
7. दीर्घकाल में फर्मों के मध्य प्रतियोगिता के परिणामस्वरूप उनको केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होते हैं।
8. अपने-अपने पदार्थ की माँग को बढ़ाने के लिए फर्में विक्रय लागते करती हैं।

Equilibrium in the Closed Economy

इस मॉडल में माना गया है कि कपड़ा आधारभूत वस्तु हैं प्रत्येक फर्म अलग-अलग किसम का कपड़ा उत्पादित कर रही है जिनको एक रेखा पर दर्शाया जा सकता है। यदि कपड़ा उद्योग में पैमाने की बचतें विद्यमान नहीं हैं तो किसी देश में कपड़े की प्रत्येक किसम अलग-अलग फर्मों द्वारा उत्पादित की जायेंगी। प्रत्येक किसम का उत्पादन करने वाली अनेक फर्म हो सकती हैं तथा उस किसम के बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता होगी। सभी फर्में अपने औसत लागत वक्र के निम्नतम बिन्दु पर उत्पादन कर रही होंगी। परन्तु जब उद्योग में पैमाने की पर्याप्त बचतें उपलब्ध होती हैं तो कपड़े की कुछेक किसमें फर्मों द्वारा उत्पादित की जायेंगी। एक किसम को उत्पादित करने वाली बड़ी फर्म पैमाने की अधिक बचत प्राप्त कर लेती है तथा वह उसी किसम का कपड़ा उत्पादन करने वाली छोटी फर्म (जो पैमाने की कम बचतें प्राप्त कर रही होती हैं) को बाजार से बाहर करने में सफल होती है। इसलिए प्रत्येक किसम का उत्पादन एक अलग फर्म द्वारा ही उत्पादन किया जाता है।

हम दो देश फ्रांस (France) तथा इटली (Italy) का उदाहरण लेकर चलते हैं। प्रत्येक देश कपड़े की n किस्मों का उत्पादन कर रहा है। परन्तु फ्रांस विषम संख्या वाली किस्में (1, 3, 5, 7..... $2n-1$), तथा इटली सम संख्या वाली किस्मों (2, 4, 6, 8..... $2n$) का उत्पादन कर रहा है। प्रारम्भिक स्थिति निम्न सरल रेखा द्वारा दर्शाई गई है:

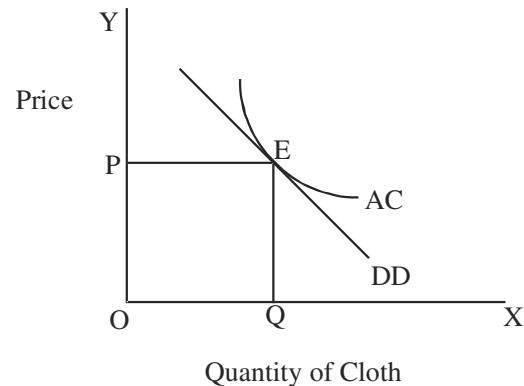


प्रत्येक संख्या वाली किस्म का उत्पादन करने वाली एक ही फर्म होगी तथा उसके अपने ग्राहक होंगे।

Equilibrium of the Firm under Monopolistic Competition

बन्द अर्थव्यवस्था में फर्म के सन्तुलन को एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता वाले बाजार में निम्न चित्र की सहायता से दर्शाया जा सकता है:

निम्न चित्र में कपड़े की ज किस्म की घरेलू माँग वक्र को DD द्वारा दर्शाया गया है ज किस्म उत्पादित करने वाली फर्म की औसत लागत वक्र को AC द्वारा दर्शाया गया है। यह फर्म दीर्घकाल में OQ कपड़े का उत्पादन OP कीमत पर बेच रही है। इस प्रकार चित्र में इसकी कुल आय (Total revenue) OQEP द्वारा दर्शाया गया है जो कुल लागत (Total cost) के बराबर है। यदि यह फर्म



असामान्य लाभ ($AR > AC$) कमा रही है तो कपड़े के उत्पादन में अतिरिक्त फर्म प्रवेश करेंगी तथा वे ज किस्म का कोई नजदीकी प्रतिस्थापन पदार्थ उत्पन्न करने लगेंगी। इससे ज उत्पादन करने वाली फर्म की माँग कम हो जायेगी तथा इसका माँग वक्र DD दाईं ओर (Leftward) सरक जायेगा। यह होता रहेगा जब तक इसको सामान्य लोच ($AR = AC$) प्राप्त नहीं होने लग जाता है। यह तभी होगा जब DD वक्र AC को केवल स्पर्श कर रहा हो। इस पर असामान्य लाभ समाप्त हो जाते हैं। संक्षिप्त में फ्रांस में n संख्या की फर्में कपड़े का उत्पादन कर रही हैं। तथा वे विषम संख्या वाली किस्मों का उत्पादन कर रही हैं। इटली में भी बराबर संख्या में फर्में कपड़े का उत्पादन कर रही हैं तथा वे सम संख्या वाली किस्मों का उत्पादन कर रही हैं। प्रत्येक देश में प्रत्येक फर्म मान लो कपड़े का समान उत्पादन कर रही हैं तथा वे उस कीमत पर अपना उत्पादन बेच रही हैं। प्रत्येक देश में उपभोक्ताओं की संख्या भी समान हैं तथा उनमें से कुछ प्रत्येक किस्म को खरीदने वाले होते हैं। हम जानते हैं कि दोनों देशों के बीच व्यापार खुलने से पहले फ्रांस के उपभोक्ता केवल विषम संख्या वाली किस्मों को क्रय कर सकते हैं तथा इटली के उपभोक्ता केवल सम संख्या वाली किस्में ही खरीद सकते हैं।

The Opening of Trade

इस मॉडल में व्यापार एक बहुत साधारण भूमिका निभाता है। व्यापार दोनों देशों में उत्पादित किस्मों के अन्तराल को पूरा करता है तथा उपभोक्ताओं की दोनों देशों में उत्पादित सभी किस्मों को उपलब्ध करता है। परन्तु इसके अनेक प्रभाव व परिणाम हो सकते हैं:

1. व्यापार से प्रत्येक देश के उपभोग में पुनर्गठन (rearrange) होगा।
2. इससे प्रत्येक देश के उत्पादन का पुनर्गठन होगा।

3. इससे दोनों देशों में उपभोग तथा उत्पादन को बढ़ावा मिल सकता है।

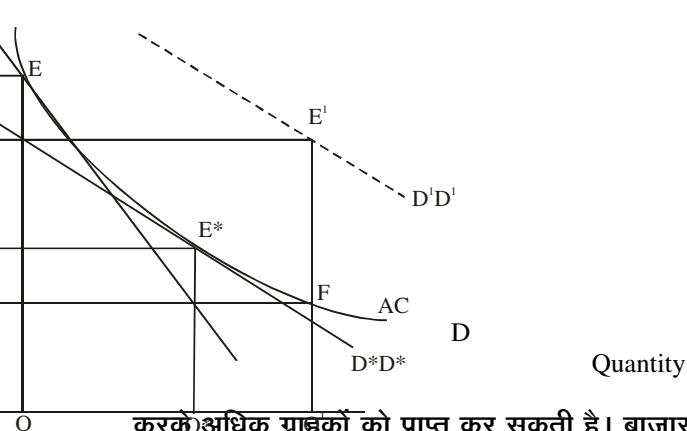
प्रथम प्रभाव को बिना चित्र की सहायता के व्यक्त किया जा सकता है। जब उपभोक्ताओं का बंटवारा समान रूप से तथा उनको सम तथा विषम किस्मों को खरीदने के समान अवसर उपलब्ध हैं तो उनमें से आधे सम से विषम तथा आधे विषम से सम संख्या वाली किस्मों में स्थिच कर जायेंगे। ज किस्म का उत्पादन करने वाली फर्म के द एटिकोण से इस परिस्थिति को देखा जा सकता है। यह फर्म अपने आधे घरेलू उपभोक्ताओं को खो देगी क्योंकि ये आधे उपभोक्ता विदेशी फर्मों द्वारा उत्पादित किस्मों को खरीदने लग जायेंगे जो ज-1 तथा ज+1 अर्थात् ज के नजदीकी प्रतिस्थापन पदार्थ उत्पादित कर रही हैं। परन्तु घरेलू फर्म इतने ही उपभोक्ता विदेशों से प्राप्त करेंगी। इसलिए यह उपरोक्त चित्र अनुसार OQ कपड़े का उत्पादन जारी रखेगी तथा OP कीमत प्राप्त करेंगी। परन्तु यह फर्म अपने आधे उत्पादन का निर्यात करेंगी। इसका व्यापार प्रवाह के रूप में क्या प्रभाव होगा? फ्रांस अपने विषम संख्या वाली किस्मों के आधे उत्पादन का निर्यात करेगा तथा इटली अपने सम संख्या वाली किस्मों के उत्पादन का आधा भोग निर्यात करेगा तथा कपड़े में व्यापार सन्तुलित होगा।

परन्तु द्वितीय और तीय प्रभाव, जो उपरोक्त परिणाम में संशोधन करते हैं, परोक्ष रूप से फ्रांस तथा इटली के उपभोक्ताओं को उपलब्ध सारणी (menu) में गहनता ला देते हैं। इसको चित्र की सहायता से समझा जा सकता है।

Trade Under Monopolistic Competition

एकाधिकारी प्रतियोगिता के अन्तर्गत उत्पन्न व्यापार फर्म के सन्तुलन तथा अन्य चरों को कैसे प्रभावित करता है इसकी व्याख्या निम्न चित्र की सहायता से की जा सकती है।

Price D



निम्न चित्र में कपड़े की 'ज' किस्म का उत्पादन करने वाली फर्म का घरेलू माँग वक्र DD द्वारा दर्शाया गया है। फर्म का औसत लागत वक्र AC वक्र DD फर्म की AC को E बिन्दु पर स्पर्श कर रही है जो फर्म के सन्तुलन को प्रकट करती है। जिस पर फर्म OQ उत्पादन तथा OP कीमत निर्धारित करती है। व्यापार के बाद अन्य किस्में उपलब्ध होने पर माँग वक्र D'D' पर सरक जाता है। D'D' माँग वक्र DD से अधिक चपटा है क्योंकि अब फर्म कीमत में कमी करके अधिक ग्राहकों को प्राप्त कर सकती है। बाजार में अधिक ग्राहक होने से माँग वक्र ऊपर की ओर सरक जाता है। फर्म व्यापार के प्रारम्भ में E से E' पर सरक जाती है तथा अपना उत्पादन OQ से बढ़ा कर OQ₁ कर देती है तथा कीमत घटा कर OP₁ कर देती है। फर्म की कुल आय OQ₁E₁P₁ तथा इसकी कुल लागत OQ₁FC होने के कारण फर्म के असामान्य लाभ CFE₁P₁ हो जाते हैं। परन्तु सभी फर्म ऐसा ही व्यवहार करती हैं। इसलिए प्रत्येक का माँग वक्र बाईं ओर सरक जाता है जैसे कि D''D''। इस प्रकार दीर्घकालीन सन्तुलन E* पर स्थापित होता है। यहाँ पर असामान्य लाभ समाप्त हो जाते हैं तथा उत्पादन OQ* व कीमत OP* स्थापित होती है। E₁ से E* तक की गति से बहुत सी फर्म उद्योग छोड़ कर जा चुकी होती हैं। उद्योग में बनी रहने वाली फर्में पहले से अधिक उत्पादन (OQ* > OQ) करती हैं तथा उत्पादन पहले से कम कीमत OP* पर बेच रही होती हैं। सभी उपभोक्ताओं को अधिक किस्में उपलब्ध होने का तथा कम कीमत होने का लाभ प्राप्त होता है।

UNIT-II

अध्याय-16

भुगतान संतुलन (Balance of Payments)

भुगतान संतुलन किसी देश की आर्थिक का सूचक है। यह एक ऐसा दर्पण है जिसमें किसी देश की अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सुदृढ़ता या दुर्बलता को देखा जा सकता है।

भुगतान संतुलन का अर्थ- भुगतान संतुलन उन समस्त आर्थिक सौदों का एक लेखा-जोखा (statement) है जिन्हें एक देश के निवासी अन्य देशों के निवासियों के साथ एक निश्चित अवधि (प्रायः एक वर्ष) में सम्पन्न करते हैं। इसमें वस्तुओं के आयात व निर्यात (द श्य व्यापार) के अतिरिक्त अन्य मर्दे भी शामिल की जाती हैं; जैसे-पूँजी का आदान-प्रदान, ब्याज का लेन-देन, जहाजरानी की सेवायें, पर्यटकों के आवागमन से प्राप्ति व देनदारी, विशेषज्ञों की सेवाओं का लेन-देन इत्यादि।

पी०टी० एल्सवर्थ के अनुसार- “भुगतान संतुलन एक देश के निवासियों और शेष विश्व के बीच किये गये समस्त लेन-देनों का लिखित विवरण है। यह किसी दिये हुए समय-साधारणतः एक वर्ष के लिए होता है।”

उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि एक देश के भुगतान संतुलन को देखकर यह पता लगाया जा सकता है कि देश विशेष की अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति कैसी है। अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को निपटाने के लिए वह देश कैसी स्थिति का सामना कर रहा? विश्व अर्थव्यवस्था में उस देश का क्या हिस्सा है? इस बात की जानकारी हमें उसके भुगतान संतुलन से ज्ञात हो जाती है।

भुगतान संतुलन व व्यापार संतुलन में अन्तर

भुगतान संतुलन व व्यापार संतुलन के मध्य अन्तर अधिकांश विद्वानों के लिए भ्रमपूर्ण रहा है। साधारणतया इन दोनों के मध्य अन्तर करते हुए यह कहा जाता है कि व्यापार संतुलन भुगतान संतुलन का ही एक भाग है। व्यापार संतुलन में केवल वस्तुओं के आयात-निर्यात (द श्य व्यापार) ही सम्मिलित होते हैं। किन्तु भुगतान संतुलन में वस्तुओं के आयात व निर्यात के अतिरिक्त सेवाओं के आयात-निर्यात जिन्हें आयात-निर्यात की अद श्य मर्दे कहते हैं, भी शामिल होती हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में अधिकारी विद्वान् प्रो० मीड ने व्यापार संतुलन व भुगतान संतुलन के मध्य अन्तर पूँजीगत लेन-देन के आधार पर किया है। संयुक्त राष्ट्र-संघ ने इसी आधार पर दोनों के मध्य अन्तर को स्वीकार किया है। एक देश के भुगतान संतुलन के दो खाते होते हैं- (1) चालू खाता तथा (2) पूँजीगत खाता। चालू खाते (balance of current account) में वस्तुओं के आयात-निर्यात, सेवाओं के लेन-देन तथा एक-पक्षीय हस्तांतरण (unilateral transfers) शामिल होते हैं। इसका वह भाग जो वस्तुओं व सेवाओं के आयात-निर्यात तक सीमित होता है। व्यापार संतुलन कहलाता है। इस प्रकार व्यापार संतुलन में एक-पक्षीय

हस्तांतरण भी शामिल कर लिये जाते हैं तो ये समस्त लेन-देन भुगतान संतुलन का चालू खाता बनता है। भुगतान संतुलन में इस चालू खाते के संतुलन के अतिरिक्त पूँजीगत खाता अर्थात् पूँजीगत लेन-देन भी शामिल होते हैं।

प्रो० भीड़ ने पूँजीगत खाते को दो भागों में विभाजित किया है- (1) समायोजनाकारी पूँजी प्रवाह (Accommodating Capital Flows), तथा (2) स्वायत्त-पूँजी प्रवाह (Autonomous Capital Flows)।

समायोजनाकारी पूँजी प्रवाह पूँजी का ऐसा लेन-देन है जो सहायता के उद्देश्य से किया जाता है। यह सहायता ऋण के रूप में होती है। उदाहरण के लिये यदि किसी देश के आयात उसके निर्यात से 500 करोड़ रुपये अधिक हैं तो वह देश 500 करोड़ रु० की ऋण सहायता लेकर अतिरेक आयात का भुगतान कर देगा।

स्वायत्त पूँजी प्रवाह विशुद्धतः व्यापारिक उद्देश्य से सम्पन्न होते हैं। उदाहरण के लिये मान लीजिये भारत का कोई उत्पादक अपने माल के बाजार विस्तार हेतु विदेशों में कोई विज्ञापन ऐजेन्सी खरीदता है तो यह भी पूँजीगत खाते में प्रदर्शित किया जायेगा।

प्रो० भीड़ के अनुसार संतुलन में स्वायत्त प्रवाह शामिल होता है जबकि भुगतान संतुलन में समयोजनाकारी पूँजी प्रवाह शामिल होते हैं।

उर्पयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्यापार संतुलन भुगतान संतुलन का चालू खाता सम्बन्धी एक भाग है। किसी देश की आर्थिक स्थिति का सही चित्र उसकी भुगतान संतुलन स्थिति से ही लगता है, व्यापार संतुलन से नहीं। यदि किसी देश का व्यापार संतुलन भले ही अनुकूल हो किन्तु यदि भुगतान संतुलन प्रतिकूल है तो यह इस बात का द्योतक है कि उस देश की अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। उदाहरण के लिये स्वतन्त्रता से पूर्व भारत का व्यापार संतुलन अनुकूल था किन्तु उसका भुगतान संतुलन प्रतिकूल था अर्थात् समग्र रूप से उसकी देनदारी लेनदारी से अधिक थी। अतः भारत की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। इसके विपरीत द्वितीय महायुद्ध के पूर्व यद्यपि इंग्लैण्ड का व्यापार संतुलन उसके प्रतिकूल था किन्तु उसका भुगतान संतुलन अनुकूल था। अतः इंग्लैण्ड की आर्थिक स्थिति अनुकूल थी।

भुगतान-संतुलन की संरचना (Composition of the Balance of Payments)

एक देश के निवासियों एवं शेष विश्व के निवासियों के साथ जो कुल लेन-देन किये जाते हैं, उनसे या तो किसी को किसी अन्य से लेनदारी होती है अथवा देनदारी होती है। इन्हें भुगतान संतुलन के क्रमशः प्राप्ति पक्ष (credit transactions) तथा देनदारी पक्ष (debit transactions) कहते हैं। भुगतान संतुलन की प्रमुख मर्दें निम्न होती हैं-

- (1) **वस्तुयें** (Merchandise)- भुगतान संतुलन में इस मद का बहुत बड़ा भाग होता है। यह भुगतान संतुलन की दृश्य मद कहलाती है। एक देश अन्य देशों को जो कुछ निर्यात करता है वह इस मद में उस देश की लेनदारी या जमा (credit) पक्ष की ओर तथा अन्य देशों से जिन वस्तुओं का कुल आयात करता है वह देनदारी या भुगतान (debit) पक्ष की ओर लिखा जाता है।
- (2) **सेवायें** (Services)- वस्तुओं के अतिरिक्त दो देश या एक देश अन्य देशों के साथ सेवाओं का आयात-निर्यात करता है। ये भुगतान संतुलन में अदृश्य मर्दें कहलाती हैं। सेवायें प्रदान करने वाले देश को भुगतान प्राप्त करने का अधिकार मिलता है। इसलिए उनका मूल्य जमा (credit)

- पक्ष की ओर व सेवायें प्राप्त करने वाले देश को भुगतान करने का दायित्व बढ़ जाता है। इसलिये उनके मूल्य को भुगतान (debit) पक्ष की ओर लिखा जाता है। इन सेवाओं के चार वर्ग हैं- (i) बैंक की बीमा कम्पनियों द्वारा प्रदान की गई सेवायें, (ii) विशेषज्ञों की सेवायें, जैसे-डॉक्टर, इंजीनियर, तकनीकी विशेषज्ञ, प्रोफेसर आदि द्वारा विदेशों में की गयी सेवायें, (iii) विदेशों, दूतावास, वाणिज्य दूतावास आदि पर किये गये व्यय, (iv) शिक्षा, प्रशिक्षण व पर्यटकों का आना-जाना-उनके द्वारा विदेशों में किये गये व्यय।
- (3) **व्याज एवं लाभांश (Interest and Dividends)-** किसी देश के विनियोग चाहे वह विदेशी सरकार की प्रतिभूतियों में हो, निजी विदेशी कम्पनियों में हों अथवा निजी ऋण के रूप में हों, व्याज व लाभांश के रूप में भुगतान दिलाते हैं अतः इन्हें लेनदारी (credit) पक्ष में लिखा जाता है। इसके विपरीत उक्त क्षेत्रों में विदेशों द्वारा किये गये विनियोग या ऋण के लिये व्याज व लाभांश का भुगतान विनियोग प्राप्तकर्ता देश को करना पड़ता है। अतः इन्हें उस देश के देनदारी (debit) पक्ष में लिखा जाता है। जब कोई देश किसी दूसरे देश को ऋण देता है तो ऋणदाता देश के लिए वह अद श्य आयात तथा ऋणी देश के लिये अद श्य निर्यात बनता है।
 - (4) **उपहार या भेंट (Gifts)-** एक देश के निवासी दूसरे देश या देशों के निवासियों को वस्तुओं के रूप में भेंट या उपहार भेजते हैं। चूंकि इन उपहारों का कोई भुगतान प्राप्त नहीं होता। अतः इन वस्तुओं की रकम प्राप्तकर्ता देश के लेनदारी (credit) पक्ष में दर्ज कर दी जाती है जबकि भेंट देने वाले देश के देनदारी (debit) पक्ष में लिख दी जाती है। इस प्रकार के लेन-देन में वे रकमें भी शामिल होती हैं जो एक देश के निवासियों द्वारा दूसरे देश में रथायी रूप से बस जाने पर अपने स्वजनों को भेजी जाती हैं। इस मद के लेन-देन प्राप्तकर्ता व प्रदानकर्ता पक्ष में 'एकपक्षीय हस्तांतरण (unilateral transfers) दर्ज के रूप में दर्ज की जाती हैं।
 - (5) **दीर्घकालीन विनियोग (Long-term Investment)-** दीर्घकालीन विनियोग वे होते हैं जो एक देश के निवासियों द्वारा दूसरे देशों में प्रायः 1 वर्ष से अधिक अवधि के लिए विदेशी सम्पत्तियों के क्रय तथा सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोजित किये जाते हैं। इन विनियोगों की रकम विनियोग करने वाले देश जिसका पूँजी का बहिर्गमन (outflow of capital) होता है, के देनदारी (debit) पक्ष में तथा जिस देश में विनियोग किये जाते हैं, पूँजी आगमन (inflow of capital) के कारण लेनदारी (credit) पक्ष में दर्ज किये जाते हैं। इन विनियोगों के भुगतान के समय यही रकम पहले देश के लेनदारी (credit) पक्ष में लिख दी जाती है क्योंकि पूँजी वापसी (repatriation of capital) हो रहा है तथा दूसरे देश के निवासी (debit) पक्ष में लिख दी जाती है।
 - (6) **अल्पकालीन विनियोग (Short-term Investment)-** अल्पकालीन विनियोग साधारणतः वे होते हैं जो प्रायः 1 वर्ष से कम अवधि के लिए होते हैं। इसकी अवधि प्रायः 30,60 या 90 दिन होती है। इन विनियोगों में विदेशी बैंकों में रखी गई एवं बौण्डस में लगाई गई रकम होती है। इसकी पूँजी के बाहर जाने व वापिस आने पर वैसी ही प्रविस्तियाँ की जाती हैं जैसी कि दीर्घकालीन विनियोगों के सम्बन्ध में की जाती है।
 - (7) **स्वर्ण आवागमन (Gold Movements)-** स्वर्ण की आयात व निर्यात भुगतान संतुलन में ठीक वस्तुओं के आयात व निर्यात की भाँति लिखे जाते हैं। यदि भारत (रिजर्व बैंक के द्वारा) विदेशों से स्वर्ण क्रय करता है, तो विदेशी विक्रेताओं को भुगतान करना होगा और इस लेन-देन को

भारत में भुगतान संतुलन के देनदारी (debit) पक्ष में दर्ज कर दिया जायेगा इसके विपरीत भारत से स्वर्ण का निर्यात उसकी लेनदारी (credit) पक्ष में दर्ज कर दिया जायेगा।

- (8) **चलन मुद्रा का आवागमन (Currency Shipment)-** देशी मुद्रा का निर्यात, जो विदेशियों के निजी स्टॉक में जमा हो जाती है, पूँजी वापसी के समान होती है और जमा पक्ष में इसकी प्रविष्टि की जाती है। विदेशी उस मुद्रा को सुरक्षा जमा वारण्ट आदि में रख सकते हैं। इसलिये यहाँ मुद्रा का क्रय-विक्रय ही महत्वपूर्ण है न कि मुद्रा का वास्तविक आवागमन। भुगतान संतुलन में इस प्रकार के लेन-देन का महत्व कम होता है।

भुगतान संतुलन का ढाँचा

(The Structure of the Balance of Payments)

भुगतान संतुलन की उपर्युक्त लेन-देन की मदों को मुख्यतः दो खातों में लिखा जाता है-

- (1) चालू खाता (The Current Account), तथा

- (2) पूँजी खाता (The Capital Account)।

- (1) **चालू खाता (Current Account)-** भुगतान संतुलन के चालू खाते के अन्तर्गत वास्तविक व्यवहार लिखे जाते हैं। वास्तविक व्यवहार (real transactions) के अन्तर्गत वस्तुओं व सेवाओं का एक देश से दूसरे देश को वास्तविक हस्तान्तरण होता है। इन्हें आय स जन व्यवहार (income creating transactions) भी कहा जाता है क्योंकि जब एक देश के निवासी दूसरे देश के निवासियों को वस्तुओं व सेवाओं का निर्यात करते हैं तो इससे निर्यातकर्ता देश के लोगों की आय स जन होती है। किसी देश के विदेशी व्यापार का आय व रोजगार पर पड़ने वाले प्रभाव को चालू खाते के परीक्षण से ज्ञात किया जा सकता है। वस्तुओं व सेवाओं के अतिरिक्त एकपक्षीय हस्तान्तरण जैसे दान-भेंट आदि भी चालू खाते में दर्ज किये जाते हैं। सुविधा की दस्ति से चालू खाते को दो भागों में बाँट लिया जाता है- (i) व्यापार या माल खाता (merchandise account) जिसमें केवल वस्तुओं का आयात व निर्यात प्रदर्शित होता है, तथा (ii) अद श्य खाता (invisible account) जिसमें सेवाओं का लेन-देन तथा दान व भेंट सम्बन्धी लेन-देन शामिल होते हैं।

- (2) **पूँजी खाता (Capital Account)-** भुगतान संतुलन के पूँजी खाते में वित्तीय व्यवहार शामिल होते हैं। वित्तीय व्यवहार वे हैं जिसमें केवल मुद्रा या चलन तथा पूँजी का आवागमन सम्मिलित होता है। इसमें निजी रोकड़ बाकी (private balances held by commercial banks) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा सहायता, अनुदान या ऋण के रूप में सरकारी पूँजीगत व्यवहार, स्वर्ण प्रवाह (specie flow) शामिल किये जाते हैं। भुगतान संतुलन के पूँजी खाते से यह ज्ञात किया जा सकता है कि विदेशी व्यापार तथा भुगतान धन व ऋण को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। पूँजी खाते के भी चार उपविभाग होते हैं- (i) निजी अवशेष, (ii) अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी खाता, (iii) सरकारी पूँजी खाता- अल्पकालीन, दीर्घकालीन ऋण व अनुदान, तथा (iv) स्वर्ण खाता।

भुगतान संतुलन के दोनों खातों में संतुलन रहता है दूसरे शब्दों में, चालू खाते में जो आधिक्य (surplus) हो तो पूँजी खाते के घाटे (deficit) के बराबर होना चाहिये तथा चालू खाते में जो घाटा हो वह पूँजी खाते के आधिक्य के बराबर होना चाहिये। उदाहरण के लिये यदि भारत की वस्तुओं व सेवाओं को आयात उसके निर्यात से अधिक है तो चालू खाते में घाटा आयेगा और इस घाटे का भुगतान स्वर्ण भेजकर या विदेशी ऋण लेकर करेगा जो उसके पूँजी खाते में जमा (credit) पक्ष में होगा।

भुगतान शेष वितरण

मर्दे	लेनदारी (Credit) (+)	देनदारी (Debit) (-)	शेष
<p>(अ) चालू खाता</p> <p>(1) वस्तुओं का आयात-निर्यात (क) निजी क्षेत्र में (ख) सरकारी क्षेत्र में</p> <p>(2) अमौद्रिक स्वर्ण प्रवाह</p> <p>(3) विदेशी पर्यटन</p> <p>(4) परिवहन</p> <p>(5) बीमा</p> <p>(6) विनियोग आय</p> <p>(7) सरकारी सहायता</p> <p>(8) विविध सेवायें</p> <p>(9) एकपक्षीय हस्तान्तरण (क) निजी क्षेत्र में (ख) सरकारी क्षेत्र में</p> <p>चालू खाते का योग भूलचूक</p>			(-) या +
<p>(ब) पूँजी खाता</p> <p>(1) निजी ऋण (गैर-बैंकिंग) (क) दीर्घकालीन (ख) अल्पकालीन</p> <p>(2) बैंकिंग ऋण (केन्द्रीय बैंक के अलावा)</p> <p>(3) सरकारी लेन-देन (रिजर्व बैंक सहित) (क) ऋण (ख) ऋण भुगतान (ग) विविध (घ) केन्द्रीय बैंक</p> <p>कुल पूँजी खाता योग</p>			(-) या +

भुगतान संतुलन सदैव संतुलन में रहता है

भुगतान संतुलन का एक उल्लेखनीय सिद्धान्त यह है कि यह सैदव संतुलन में रहता है। किसी देश का व्यापार संतुलन भले ही घाटे या अतिरेक में हो किन्तु उस देश की समस्त लेनदारी व देनदारी जिसे भुगतान संतुलन कहते हैं, सदैव संतुलन में रहती हैं। इसका कारण यह है कि भुगतान संतुलन का लेखाविधि स्टैन्डर्ड बहीखाता प्रणाली पर आधारित होती है जिसमें प्रत्येक सौदे की दुहरी प्रविष्टि (double entry) की जाती है अर्थात् लेनदारी व देनदारी दोनों की दो प्रविष्टियाँ होती हैं एक जमा (credit) पक्ष में तथा दूसरी नाम (debit) पक्ष में। जमा व नाम (देय) की प्रत्येक राशि समान होनी चाहिये। अतः लेखा की दृष्टि से भुगतान संतुलन सदैव संतुलित रहता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि चालू खाता व पूँजी खाता दोनों को ही ध्यान में रखा जाता है। यह तथ्य एक उदाहरण से भली-भाँति समझा जा सकता है। मान लीजिये भारत व रूस के मध्य व्यापार में रूपया चलन-मुद्रा का कार्य करता है। माना कि रूस में स्थित एक फर्म भारत से 1,000 रुपये के मूल्य की दो वस्तुयें जैसे जूते का आयात करता है। इस लेन-देन की प्रारम्भिक प्रविष्टि दोनों के भुगतान संतुलन में इस प्रकार होगी-

रूस		भारत	
जमा	नाम	जमा	नाम
(Credit)	(Debit)	(Credit)	(Debit)
वस्तु व्यापार	रुपये 1,000/-	रुपये 1,000/-	

रूस का व्यापार 1,000 रूपये नाम (आयात के कारण) दिखाता है और भारत का वस्तु व्यापार जमा (निर्यात के कारण) दिखाता है। भारत के निर्यातकर्ता को भुगतान प्राप्त करना है और रूस की फर्म अपने-अपने आयात का भुगतान करना है। इस लेन-देन को निपटाने के लिए पुनः भुगतान निपटाने वाले लेन-देन होंगे। किन्तु यह निपटारा किस प्रकार होगा और किस मद में होगा यह निपटारा विधि पर निर्भर है। यदि रूस भारत से रूपया ऋण लेकर भुगतान कर देता है तो रूस के भुगतान संतुलन में जमा (credit) पक्ष में लेखन होगा (क्योंकि पूँजी वापिसी (capital inflow) हुआ है) तथा भारत के भुगतान संतुलन के नाम (debit) पक्ष में लेखन होगा (क्योंकि पूँजी बहिर्गमन (capital outflow) हुआ है)। इस लेन-देन के बाद दोनों देशों के भुगतान संतुलन प्रविष्टियाँ की इस प्रकार होगी-

रूस		भारत	
जमा	नाम	जमा	नाम
(Credit)	(Debit)	(Credit)	(Debit)
वस्तु व्यापार	रुपये 1,000/-	रुपये 1,000/-	
पूँजी खाता	रुपये 1,000/-		रुपये 1,000/-

उपर्युक्त विधि के अतिरिक्त भुगतान निपटारे की अन्य विधियाँ भी हो सकती हैं जैसे रूस भी भारत को उतने ही मूल्य (रुपये 1,000/-) की वस्तुओं का निर्यात करके भुगतान निपटारा करे। इस प्रकार प्रत्येक लेन-देन दोनों देशों के जमा प्रविष्टि व नाम प्रविष्टि को जन्म देता है। इस प्रकार कुल लेनदारियाँ कुल देनदारियाँ बराबर होनी चाहिये। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक खाते- चालू खाता व पूँजी खाता में अलग-अलग संतुलन बराबर हो। एक का घाटा दूसरे के आधिक्य के बराबर होना चाहिये। सारांश यह है कि एक देश का भुगतान संतुलन सदैव संतुलन में होता है।

भुगतान संतुलन में असाम्य (Disequilibrium in Balance of Payments)

लेखाविधि के अनुसार तो एक देश का भुगतान संतुलन सदैव साम्य या संतुलन की स्थिति में ही रहता है। यह हिसाबी लेखा-जोखा है जो लेनदारी व देनदारी का हिसाब पूरा होने की स्थिति को व्यक्त करता है। वास्तविक आर्थिक रूप में भुगतान संतुलन में साम्य तथा असाम्य दोनों ही हो सकते हैं। भुगतान संतुलन में वास्तविक आर्थिक रूप में साम्य या असाम्य उसके चालू खाते की लेनदारी व देनदारी के शेष के आधार पर देखा जाता है। जब चालू खाते में देनदारी (debit) व लेनदारी (credit) बराबर होते हैं तो भुगतान संतुलन में साम्य माना जाता है किन्तु यदि चालू खाते में देनदारी व लेनदारी में अन्तर हो और इस प्रकार चालू खाते का शेष धनात्मक या ऋणात्मक हो भुगतान संतुलन असाम्य की स्थिति में माना जाता है। यदि चालू खाते में देनदारी (debit) लेनदारी (credit) से अधिक है तो भुगतान संतुलन में घाटायुक्त असाम्य माना जाता है। इसके विपरीत चालू खाते में लेनदारी (credit) देनदारी (debit) से अधिक हो तो भुगतान संतुलन आधिक्य युक्त असाम्य की स्थिति में होता है। यदि किसी देश के भुगतान संतुलन के चालू खाते में घाटा है अर्थात् लेनदारी की अपेक्षा देनदारी अधिक है तो विदेशों या अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षा (अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष) से उधार या ऋण लेकर और इस प्रकार पूँजी खाते में आधिक्य लेनदारी करके समग्र रूप से भुगतान संतुलन को संतुलित किया जाता है। इस प्रकार चालू खाते में आधिक्य या घाटा देश की बाह्य पूँजीगत स्थिति में द ढ़ता या दुर्बलता आने का द्योतक है। **केंडी० दूधा** के अनुसार देश इस बाह्य पूँजीगत स्थिति की द ढ़ता या दुर्बलता का माप बाह्य परिसम्पत्ति की तुलना में देश के दायित्व है।

प्र०० एफ० मैचलप के विचार-

प्र०० एफ० मैचलप (F.Machlup) ने भुगतान संतुलन में असाम्य को स्पष्ट करने के लिये तीन प्रकार के संतुलन या शेष बताये हैं-

(i) **बाजार सम्बन्धी संतुलन** (A Market Balance) **अर्थात् विदेशी मुद्रा की माँग व पूर्ति का संतुलन,**

(ii) **कार्यक्रम सम्बन्धी संतुलन** (A Programme Balance)

(iii) **लेखा सम्बन्धी संतुलन** (An Accounting Balance) **अर्थात् लेनदारी व देनदारी का शेष।**

बाजार सम्बन्धी भुगतान संतुलन में घाटा उस समय होता है जब एक निश्चित विनिमय दर पर विदेशी मुद्रा की प्रभावपूर्ण माँग उसकी पूर्ति से अधिक होती है जबकि व्यापार व विनिमय दर पर कोई प्रतिबन्ध न हो। कार्यक्रम सम्बन्धी संतुलन में घाटा उस समय होता है जब विदेशी मुद्रा (विनिमय) की प्रत्याशित पूर्ति (expected supply) की तुलना में उसकी माँग अधिक हो। लेखा सम्बन्धी संतुलन में घाटा उस समय होता है जब अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक लेन-देनों में संतुलन स्थापित करने के लिये वार्षिक विवरण विदेशी विनिमय या मुद्रा का लेखा देनदारी पक्ष में अधिक हो। आधुनिक नियोजित अर्थव्यवस्थाओं में कार्यक्रम सम्बन्धी भुगतान संतुलन ही महत्वपूर्ण है।

भुगतान संतुलन में असाम्य के प्रकार (Kinds of Disequilibrium in Balance of Payments)

भुगतान संतुलन के असाम्य को मुख्यतः निम्न तीन श्रेणियों में विभाजित किया जाता है-

- (1) **चक्रीय असाम्य** (Cyclical Disequilibrium),
- (2) **दीर्घकालीन असाम्य** (Secular Disequilibrium), तथा
- (3) **संरचनात्मक असाम्य** (Structural Disequilibrium)।

(1) **चक्रीय असाम्य-** चक्रीय असाम्य व्यापार चक्रों (trade cycles) के कारण उत्पन्न होता है। इसके निम्न कारण होते हैं-

- (i) **विभिन्न देशों में तेजी (boom) तथा मंदी (depression) की स्थिति भिन्न हो-** जब एक देश माना कि A में दूसरे देश माना कि B की तुलना में तेजी की स्थिति अधिक गहन हो तो A देश में निर्यात कम होंगे, साथ ही बढ़ी हुई मौद्रिक आय से आयात अधिक होंगे। अतः A देश के भुगतान संतुलन में घाटा उत्पन्न हो जायेगा। इसके विपरीत मन्दी की स्थिति में भिन्नता के कारण आधिक्य की स्थिति होगी।
- (ii) **विभिन्न देशों में व्यापार-चक्र घटित होने के समय तथा नियमितता (periodicity) में अन्तर हो-** यदि विभिन्न देशों में व्यापार-चक्र की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न समय में घटित हो तथा इनकी अवधि में अन्तर हो तो भी भुगतान संतुलन असाम्य उत्पन्न हो जाता है।
- (iii) **विभिन्न देशों में आयातों के लिये माँग की आय में भिन्नता हो-** यदि अन्य बारें समान रहें, तो A देश में आयातों के लिये माँग की आय लोच B की तुलना में अधिक है तो तेजी की स्थिति में A देश के भुगतान संतुलन में घाटा तथा मंदी की स्थिति में अतिरेक होगा।
- (iv) **विभिन्न देशों में आयातों के लिये माँग की कीमत लोच में भिन्नता हो-** यदि अन्य बारें समान रहें तो यदि A देश में आयातों के लिये माँग की कीमत लोच B देश की तुलना में अधिक है तो तेजी की स्थिति में A देश का भुगतान संतुलन अनुकूल या आधिक्य युक्त होगा तथा मंदी की स्थिति में प्रतिकूल या घाटा युक्त होगा।

(2) **दीर्घकालीन असाम्य-** दीर्घकालीन असाम्य एक विकासशील अर्थव्यवस्था अनेक तत्त्वों यथा-पूँजी निर्माण, भारी विनियोग, तकनीकी विकास, नवप्रवर्तन, जनसंख्या व द्विं आदि के कारण उत्पन्न होता है। एक विकासशील अर्थव्यवस्था में आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने के लिये बचत की अपेक्षा अधिक विनियोग करने पड़ते हैं तथा दुर्लभ कच्चे माल व मशीनरी आदि के लिये निर्यात की अपेक्षा आयात भी अधिक करने होते हैं। अतः पर्याप्त विदेशी पूँजी उपलब्ध न होने के कारण भुगतान संतुलन में दीर्घकालीन असाम्य उत्पन्न हो जाता है। ऐसे देश में जनसंख्या तेजी से बढ़ती है। अतः यदि विकास दर की अपेक्षा जनसंख्या व द्विं दर अधिक है तो आयात निर्यातों की अपेक्षा बढ़ते जाते हैं और चिरकालिक घाटा उत्पन्न हो जाता है।

किन्तु एक विकासशील देश आर्थिक विकास की परिपक्वास्था (drive to maturity) प्राप्त कर लेता है तो इसके बाद विनियोग की अपेक्षा आय में अधिकता हो जाती है। देश का उत्पादन स्तर पर्याप्त ऊँचा हो जाता है, निर्यात आयातों की अपेक्षा अधिक हो जाते हैं। पूँजी का बहिर्गमन न्यूनतम हो जाता है और इस प्रकार भुगतान संतुलन में दीर्घकालीन आधिक्य युक्त असाम्य हो जाता है।

(3) **संरचनात्मक असाम्य-** संरचनात्मक असाम्य उस स्थिति में उत्पन्न होता है जब निर्यात या आयात अथवा दोनों की माँग या पूर्ति अथवा दोनों में मूलभूत परिवर्तन हो। प्रो० किन्डलबजर के अनुसार, “वस्तुओं के स्तर पर संरचनात्मक असाम्य तब प्रारम्भ होता है जब निर्यात या आयात की माँग व पूर्ति में परिवर्तन के कारण विद्यमान साम्य स्थिति में परिवर्तन आ जाये अथवा जब आधारभूत परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण आय का एक भाग या तो विदेशों में व्यय होने लगता है अथवा विदेशों में अतिरिक्त आय अर्जित की जाने लगती है, दोनों ही स्थितियों में अर्थव्यवस्था में अन्यत्र कहीं भी कोई वॉल्छित व समानान्तर परिवर्तन नहीं होते। फैशन, रूचि आदि में परिवर्तन के कारण माँग में परिवर्तन हो जाता है। अतः आयात की प्रवति

बदल जाती है कुछ आयातित वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है जबकि कुछ अन्य वस्तुओं की माँग कम हो जाती है। इससे रचनात्मक असाम्य उत्पन्न होता है। दीर्घकालीन पूँजी प्रवाह में परिवर्तन के कारण भी संरचनात्मक परिवर्तन हो जाते हैं।

यदि पूँजी प्रवाह की गति अचानक ही रुक जाती है तो प्राप्तकर्ता देश के उत्पादन ढाँचे में असंतुलन आ जाता है। परिणामस्वरूप भुगतान संतुलन गंभीर रूप से असाम्य की स्थिति में हो जाता है। इन तीनों रूपों के अतिरिक्त भुगतान संतुलन में असाम्य के दो अन्य रूप निम्न हैं-

- (4) **अस्थायी असाम्य-** जब अल्पकालिक या अस्थायी कारणों से भुगतान संतुलन में असाम्य हो जाए किन्तु इन कारणों के लुप्त होने पर भुगतान संतुलन का असाम्य भी समाप्त हो जाये तो उसे हम अस्थायी असाम्य कहते हैं। उदाहरण के लिये यदि किसी देश माना कि भारत में किसी वर्ष सूखा, अकाल या बाढ़ की स्थिति हो जाती है और फसलें नष्ट हो जाती हैं तो भारत को यकायक भारी मात्रा में अन्न आयात करना पड़ेगा। यदि निर्यातों में उसी अनुपात में व द्विं न हो तो अस्थायी घाटा युक्त असाम्य हो जायेगा। सामान्य वर्ष में यह समाप्त हो जायेगा।
- (5) **स्थायी या आधारभूत असाम्य-** यदि किसी देश के भुगतान संतुलन में असाम्य पर्याप्त लम्बे समय तक चलता रहे और असाम्य के कारणों में निकट भविष्य में कोई परिवर्तन होने की स्थिति न हो तो यह आधारभूत या स्थायी असाम्य कहलाता है। यदि किसी देश में मुद्रा-प्रसार, ऊँची मजदूरी दर आदि के कारण उत्पादन लागत ऊँचा में होने की प्रव ति हो जाती है तो हमारा निर्यात व्यापार कम हो जायेगा और भुगतान संतुलन में स्थायी असाम्य की स्थिति हो जायेगी। अतः जब तक हमारे निर्यातों की विदेशों में माँग की लोच इकाई से अधिक नहीं हो जाती तब तक कोई भी उपाय इस असाम्य को ठीक नहीं कर पायेंगे।

भुगतान संतुलन में असाम्य के कारण (Causes of Disequilibrium in Balance of Payments)

भुगतान संतुलन में असाम्य के विभिन्न कारण होते हैं। यही नहीं एक ही देश में विभिन्न समयों पर इस असाम्य के भिन्न-भिन्न कार हो सकते हैं। सामान्यतः निम्न कारण भुगतान संतुलन असाम्य के लिये उत्तरदायी होते हैं-

- (1) **व्यापार-चक्र-** व्यापार-चक्रों के कारण भुगतान संतुलन में असाम्य उत्पन्न हो जाता है। इसकी विशद व्याख्या पीछे की जा चुकी है।
- (2) **विकास-कार्यक्रम-** आजकल विकासशील देशों में अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक विकास क्रम व परियोजनायें चल रही हैं। इन विकास कार्यक्रमों के लिये दुर्लभ कच्चे माल, पूँजीगत सामान, तकनीकी ज्ञान आदि भारी मात्रा में आयात करना पड़ रहा है किन्तु इनके निर्यातों में इसी अनुपात में व द्विं नहीं हो पा रही है क्योंकि एक ओर तो निर्यात योग्य आधिक्य देरी से बढ़ता है दूसरी ओर बढ़ी हुई आय के कारण इन देशों में विभिन्न उत्पादों की खपत अधिक हो जाती है। अतः इन देशों के भुगतान संतुलन में संरचनात्मक घाटा युक्त असाम्य उत्पन्न हो जाता है।
- (3) **आय प्रभाव एवं कीमत प्रभाव-** आर्थिक विकास के फलस्वरूप विकासशील देशों में व्यक्तियों का आय-स्तर या प्रति व्यक्ति आय बढ़ जाती है। आय में व द्विं के कारण सीमान्त आयात प्रव ति (marginal propensity to import) अधिक हो जाती है। अतः आयातों में व द्विं हो जाती है। इसके साथ ही इन देशों में सीमान्त उपभोग की प्रव ति (marginal propensity to consume) भी ऊँची होती है। अतः आय बढ़ने के कारण घरेलू उपयोग वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है अतः निर्यात योग्य आधिक्य नहीं बढ़ पाता है। अतः आयात अधिक व निर्यात में कम होने की प्रव ति हो जाती है।

इसके अतिरिक्त विकासशील देशों में औद्योगीकरण के लिए भारी उद्योगों में अत्यधिक विनियोग किया जाता है जिनके प्रतिफल दीर्घकाल में प्राप्त होते हैं। अतः स्फीतिक दशायें उत्पन्न हो जाती हैं व्याँकि रोजगार में व द्वि के कारण मौद्रिक आय बढ़ जाती है किन्तु उत्पादन शीघ्र ही नहीं बढ़ पाता है। अतः कीमत स्तर में व द्वि के कारण आयातों में व द्वि हो जाती है किन्तु निर्यात उसी अनुपात में नहीं बढ़ पाते। इसलिए घाटा युक्त असाम्य उत्पन्न हो जाता है।

- (4) **निर्यात के लिए माँग की बेलोचकता-** विकासशील देशों में भुगतान संतुलन में असाम्य का प्रमुख उनके निर्यात की माँग का बेलोच होना है। इन देशों की निर्यात की माँग की लोच विदेशों में कम है। अतः निर्यातित वस्तुओं की अपेक्षाकृत कम कीमत होने के बावजूद निर्यातों में पर्याप्त मात्रा में व द्वि नहीं हो पाती है। विकासशील देश प्रायः प्राथमिक वस्तुओं एवं खनिज पदार्थ का अधिकांशतः निर्यात करते हैं जिनके निर्यात के लिये माँग की आय लोच व कीमत लोच कम रहती है। इसके विपरीत विकसित देश उद्योगों में विशिष्टीकरण अपनाये हुये हैं जिनकी आय व कीमत माँग लोच अधिक है। अतः विकासशील देशों में आय बढ़ने पर विकसित देशों में निर्मित औद्योगिक वस्तुओं की माँग पर्याप्त बढ़ जाती है। इस प्रकार विकासशील देशों के निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक बढ़ जाते हैं और भुगतान संतुलन में घाटा युक्त असाम्य हो जाता है।
- (5) **विकासशील देशों में अत्यधिक जनसंख्या व द्वि-** विकासशील देशों में जनसंख्या की व द्वि दर ऊँची है व्याँकि आर्थिक विकास के फलस्वरूप म त्यु-दर तो पर्याप्त मात्रा में घटा ली गई है किन्तु जन्म-दर में सामाजिक व धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन न होने के कारण कमी नगण्य ही रही है। जनसंख्या व द्वि के कारण एक ओर तो घरेलू स्तर बढ़ गया है और निर्यात योग्य आधिक्य बढ़ नहीं पा रहा और दूसरी ओर आयातों की माँग बढ़ती जा रही है। अतः भुगतान संतुलन में घाटा निरन्तर बना हुआ है।
- (6) **'प्रदर्शन प्रभाव'-** 'प्रदर्शन प्रभाव' (demonstration) के कारण भी विकासशील देशों भुगतान संतुलन में घाटा रहता है। 'प्रदर्शन प्रभाव' का विचार प्रो० रेगनर नक्से ने अपनी पुस्तक ('Problems of Capital Formation in Under-developed Countries') में प्रस्तुत किया है। जब अर्द्ध-विकसित देश के निवासी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति सामाजिक व आर्थिक कारणों से विकसित देशवासियों के सम्पर्क में आते हैं तो वे विकसित देशों के निवासियों की शान-शौकत से प्रभावित होकर उनकी उपभोग आदतों को अपनाते हैं अर्थात् अपनी आय का एक बड़ा भाग विलासिता की वस्तुओं पर व्यय करने लगते हैं। यह उपभोग पर 'प्रदर्शन प्रभाव' है। फलतः इन विदेशी वस्तुओं की माँग बढ़ती है और आयात प्रवृत्ति ऊँची हो जाती है जबकि निर्यात उसी मात्रा में बढ़ नहीं पाते हैं। परिणामस्वरूप इन अर्द्धविकसित देशों के भुगतान संतुलन में इस प्रदर्शन प्रभाव के कारण भी घाटा उत्पन्न हो जाता है।
- (7) **विकसित देशों में आयात प्रतिबन्ध या संरक्षणात्मक नीति-** अनेक विकसित देश आयातों पर प्रतिबन्ध की नीति अपनाये हुए हैं जिनके कारण विकासशील देशों के निर्यात इन देशों में वांछित स्तर तक नहीं बढ़ पा रहे हैं यद्यपि गॉट (General Agreement on Trade and Tariff) के अनेक सम्मेलनों में आयात शुल्कों को कम से कम करने की अनेक सिफारिश की गई है। किन्तु विकासशील देशों को इससे अधिक लाभ प्राप्त नहीं हुआ है। हाल ही में यूरोप के देशों विशेषतः यूरोपीय संझा बाजार ने संरक्षणात्मक नीति अपना ली हैं तर्क यह है कि उनके देशों में बेरोजगारी बढ़ रही है। यद्यपि अंकटाड (United Nations Conference on Trade & Development) के पंचम सम्मेलन में विकासशील देशों के निर्यातों पर इस नीति के प्रतिकूल प्रभावों का सही चित्र इन देशों के 77 के ग्रुप (group 77) ने प्रस्तुत किया। किन्तु अनेक बहानों को लेकर ये देश इस नीति में ढील देने को भी तैयार नहीं हैं। ऐसी स्थिति में विकासशील देशों की भुगतान संतुलन की स्थिति में घाटा है और सुधार की आशा क्षीण है।

- (8) **अन्तर्राष्ट्रीय ऋण-** अधिकांश विकासशील देशों ने अपने विकासात्मक कार्यक्रमों के लिये भारी मात्रा में विदेशी ऋण लिये हैं जिनके मूलधन व ब्याज का भुगतान करने के लिये उन्हें प्रतिवर्ष भारी मात्रा में विदेशी विनिमय व्यय करना पड़ता है। यह अनेक भुगतान संतुलन पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है।
- (9) **ऊर्जा संकट-** सन् 1973 के अक्टूबर मास से विश्व के तेल उत्पादक देशों (OPEC) ने अपने कच्चे तेल (crude oil) की कीमतों में भारी व द्वितीय कर दी है। इससे विश्व में ऊर्जा संकट उत्पन्न हो गया है। विकासशील देशों में भुगतान संतुलन पर इसका बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। लगभग सभी विकासशील देशों का तेल आयात बिल कई गुना बढ़ गया है।

उपर्युक्त कारण संसार के विभिन्न देशों विशेषतः विकासशील देशों के भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता या असाम्य के लिये उत्तरदायी हैं।

भुगतान संतुलन के असाम्य को दूर करने के उपाय (Measures to Correct Disequilibrium in Balance of Payments)

संसार के देशों का भुगतान संतुलन का दीर्घकाल तक असाम्य की स्थिति में बने रहना चारे वह घाटा युक्त असाम्य अर्थात् प्रतिकूल भुगतान संतुलन हो अथवा आधिक्य युक्त असाम्य अर्थात् अनुकूल भुगतान संतुलन हो विश्व अर्थव्यवस्था के लिये घातक है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों को सुचारू रूप से संचालन के लिये तथा एक प्रगतिशील अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना हेतु प्रत्येक देश के भुगतान संतुलन को यथा सम्भव साम्य की स्थिति में रखना समय की पुकार है।

भुगतान संतुलन के असाम्य को दूर करने या असंतुलन को ठीक करने हेतु अनेक उपाय सुझाये जाते हैं। इन उपायों को मोटे रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है- **(क) मौद्रिक उपाय, तथा (ख) अमौद्रिक उपाय।**

(क) मौद्रिक उपायों में निम्न उपाय महत्वपूर्ण हैं-

- मुद्रा-संकुचन (Deflation),
- विनिमय मूल्य घास (Exchange Depreciation),
- अवमूल्यन (Devaluation), तथा
- विनिमय नियंत्रण (Exchange Control)।

(ख) अमौद्रिक उपायों में निम्न उपाय महत्वपूर्ण हैं-

- आयातों पर मात्रात्मक प्रतिबंध या आयात अभ्यंश (quotas),
- आयात प्रशुल्क (Tariffs), तथा
- निर्यात प्रोत्साहन कार्यक्रम (Export Promotion)।

इन समस्त उपायों की विस्तृत विवेचना निम्न प्रकार है-

(क) मौद्रिक उपाय (Monetary Measures)

भुगतान संतुलन के घाटा युक्त असाम्य या असंतुलन को ठीक करने के लिये आयातों में कमी करने तथा निर्यातों को बढ़ाने हेतु निम्न मौद्रिक उपाय उल्लेखनीय हैं-

- मुद्रा-संकुचन-** एक देश में ही मुद्रा व साथ नीति अपनाते हुए मुद्रा संकुचन करके भुगतान संतुलन के असाम्य या प्रतिकूलता को दूर कर सकता है। मुद्रा संकुचन के फलस्रूप मुद्रा की मात्रा में कमी हो जाती है। जिसके कारण साधन व अन्य सामान की कीमतों में कमी हो जाती

है जिसके फलस्वरूप उत्पादन लागत और इस प्रकार की कीमतें गिर जाती हैं जिसके फलस्वरूप विदेशों में इस देश की वस्तुयें अपेक्षाकृत सस्ती हो जायेंगी और निर्यातों में व द्वितीय हो जायेगी।

मुद्रा-संकुचन के कारण आय-स्तर में भी कमी हो जाती है। परिणामस्वरूप घरेलू उपभोग स्तर भी गिर जाता है। अतः निर्यात योग्य आधिकार्य बढ़ जाता है।

किन्तु मुद्रा-संकुचन आयातों को बढ़ाने में कितना प्रभावकारी हो सकता है यह आयातों व निर्यातों के लिए माँग की लोच पर निर्भर होता है। यदि आयातों के लिए, माँग लोचदार है तो संकुचन के द्वारा आयातों को घटाया जा सकता है किन्तु यदि आयातों के लिए माँग बेलोचदार है या इकाई से कम लोच है तो आयातों में कमी करने हेतु भारी मात्रा में संकुचन करना होगा किन्तु ऐसा होने पर देश की आय व रोजगार स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

एक विकासशील अर्थव्यवस्था मुद्रा-संकुचन का उपाय उचित नहीं है क्योंकि इससे आय व रोजगार स्तर गिरता है। विनियोग हतोत्साहित होते हैं तथा बेरोजगारी फैलती है।

- (ii) **विनिमय मूल्य हास-** जब एक देश अपनी मुद्रा के बाह्य मूल्य को कम कर देता है तो इसे विनिमय मूल्य हास कहते हैं यह स्वतन्त्र विनिमय दर की स्थिति में होता है। यह बाजार की शक्तियों के फलस्वरूप स्वतः ही होता है। उदाहरण के लिये माना कि भारत के रूपये व अमेरिकन डॉलर की स्वतन्त्र विनिमय दर $1\text{₹}0 = 21$ सैण्ट है। अब यदि अमेरिका के साथ भारत का भुगतान संतुलन प्रतिकूल है तो अमेरिकन डॉलर के लिए भारतीय माँग अपेक्षाकृत अधिक हो जायेगी। परिणामस्वरूप अमेरिकन डॉलर का रूपया मूल्य बढ़ जायेगा अर्थात् रूपये के विनिमय मूल्य में हास हो जायेगा। ऐसी स्थिति में माना कि नवीन विनिमय दर $1\text{₹}0 = 18$ सैण्ट हो जायेगी। इस नवीन विनिमय दर के फलस्वरूप भारतीय निर्यात अमेरिका में सस्ते हो जायेंगे जबकि अमेरिका से आयात महँगे हो जायेंगे। अतः भारत के निर्यातों में व द्वितीय होगी तथा आयात कम होंगे और भुगतान संतुलन का घाटा दूर होने लगेगा।

किन्तु विनिमय हास की इस सन्दर्भ में सफलता आयात व निर्यात के लिए माँग की लोच पर निर्भर है। विनिमय मूल्य हास वाले देश की आयात व निर्यात दोनों के दिये माँग की लोच इकाई से अधिक होने चाहिये। यदि दोनों ही अथवा किसी एक की माँग की लोच इकाई से कम है तो या तो आयात नहीं घट पायेंगे अथवा, और निर्यातों में व द्वितीय नहीं हो पायेगी और भुगतान संतुलन में घाटा बना रहेगा।

- (iii) **अवमूल्यन-** भुगतान संतुलन के असाम्य को दूर करने के लिए अवमूल्यन का भी सहारा लिया जाता है। अवमूल्यन में देश की मुद्रा के बाह्य मूल्य को सरकारी घोषणा के द्वारा कम कर दिया जाता है। अवमूल्यन के फलस्वरूप अवमूल्यन करने वाले देश की मुद्रा की एक इकाई के बदले विदेशी मुद्रा को पहले की अपेक्षा कम मात्रा प्राप्त होने लगती है। अवमूल्यन के कारण आवश्यक रूप से मुद्रा का आन्तरिक मूल्य कम नहीं होता है। अवमूल्यन सामान्यतः विश्व के सभी देशों की मुद्राओं के सन्दर्भ अथवा किसी एक देश की मुद्रा के सन्दर्भ में अपनाया जा सकता है। अवमूल्यन व विनिमय मूल्य हास दोनों में ही मुद्रा का बाह्य मूल्य कम हो जाता है। किन्तु दोनों में अन्तर है। विनिमय हास में मुद्रा का बाह्य मूल्य स्वतन्त्र विनिमय दर की स्थिति में बाजार की शक्तियों द्वारा स्वाभाविक रूप से होता है जबकि अवमूल्यन में मुद्रा के बाह्य मूल्य में कमी क त्रिम रूप से सरकारी घोषणा के द्वारा किया जाता है। सामान्यतः अवमूल्यन करने वाले देश अपनी मुद्रा के स्वर्ण मूल्य को कम कर देते हैं। दोनों के प्रभाव समान होते हैं। विनिमय हास की भाँति अवमूल्यन के कारण देश के निर्यात सस्ते तथा आयात महँगे हो जाते हैं। अतः निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है जबकि आयातों में कमी हो जाती है और घाटा युक्त असाम्य दूर होने में मदद मिलती है।

किन्तु भुगतान असंतुलन को ठीक करने में अवमूल्यन की सफलता निम्न शर्तों पर निर्भर रहती है -

(अ) आयात व निर्यात की लोचपूर्ण माँग- अवमूल्यन करने वाले देशों की आयात व निर्यात दोनों के लिये लोचपूर्ण माँग होनी चाहिए। यदि आयात व निर्यात के लिये माँग बेलोचदार होगी तो न तो निर्यात ही अपेक्षित मात्रा में बढ़ पायेंगे और न ही आयातों में पर्याप्त कमी होगी। परिणामस्वरूप कुल आयात मूल्य बढ़ जायेंगे तथा कुल निर्यात मूल्य घट जायेंगे जिसका भुगतान संतुलन पर और अधिक प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

(ब) आन्तरिक कीमत स्तर में स्थिरता- अवमूल्यन करने वाले देश में आन्तरिक कीमत स्तर नहीं बढ़ना चाहिये। यदि ऐसा होता है तो निर्यात वस्तुओं की उत्पादन लागत बढ़ जायेगी जिससे उनके मूल्य बढ़ेंगे और निर्यात होत्साहित होंगे। किन्तु प्रायः अवमूल्यन के कारण आन्तरिक कीमत-स्तर बढ़ जाता है क्योंकि आयातित वस्तुओं की कमी हो जाती है तथा पूँजीगत वस्तु उद्योगों का आवश्यक आयातित माल के मूल्य बढ़ जाने पर इनकी लागत बढ़ जाती है। अतः अवमूल्यन के साथ आन्तरिक मूल्य नियन्त्रित अपनाना आवश्यक होता है।

(स) व्यापार करने वाले देशों द्वारा सहयोग- अवमूल्यन की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि अन्य देश जिनकी मुद्रा के साथ अवमूल्यन किया गया और इस कारण उनकी मुद्रायें अधिमूल्यन की स्थिति में हो गयी हैं, इस सम्बन्ध में सहयोग करें अर्थात् वे देश प्रतिकार में अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन न करें अन्यथा अवमूल्यन करने वाला देश अपने उद्देश्य में सफल नहीं होगा।

(iv) विनिमय नियन्त्रण- भुगतान संतुलन के असाम्य को दूर करने के लिए विनिमय नियन्त्रण एक अन्तिम मौद्रिक अस्त्र है। यदि मुद्रा-संकुचन राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिये घातक है तो अवमूल्यन दूसरों का मुँह देखता है। इसलिये इन उपायों के प्रयोग से बचा जाता है।

हैबरलर के अनुसार, ‘‘विनिमय नियन्त्रण वह सरकारी नियमन है जो विदेशी विनिमय बाजार में आर्थिक शक्तियों के स्वतन्त्र कार्यकरण पर रोक लगाता है।’’ इस रीति में व्यापारियों द्वारा अर्जित विदेशी मुद्रा सरकार के मौद्रिक अधिकारी (केन्द्रीय बैंक) को समर्पित करनी पड़ती है। इसी विदेशी मुद्रा को लाइसेन्सधारी आयातकर्ताओं में वैज्ञानिक रीति से बॉट दिया जाता है। ये लाइसेन्सधारी आयातकर्ता ही निश्चित सीमाओं में आवश्यक वस्तुओं का आयात कर सकते हैं। इस प्रकार विनिमय दर एक उचित स्तर पर स्थिर रखी जाती है। इस प्रकार निर्यात व आयात दोनों को बराबर रखकर संतुलन में साम्य स्थापित किया जाता है।

विनिमय नियन्त्रण भुगतान संतुलन की सुसाम्यता को ठीक करने में तो प्रभावशाली है किन्तु यह प्रतिकूल भुगतान संतुलन के कारणों को समाप्त नहीं कर पाता है। पी०टी० एल्सवर्थ के अनुसार, ‘‘विनिमय नियन्त्रण भुगतान संतुलन के घाटे का तो समाधान प्रस्तुत करता है किन्तु उसके कारणों पर ध्यान नहीं देता तथा उन कारणों को और सक्रिय कर सकता है जिससे भुगतान संतुलन का घाटा ओर अधिक बढ़ सकता है।’’

विनिमय नियन्त्रण के द्वारा पूँजी के बहिर्गमन के कारण भुगतान संतुलन के घाटे की पूँजी बहिर्गमन पर रोक लगाकर दूर किया जा सकता है किन्तु इस असंतुलन के मूलभूत कारण जैसे राजनैतिक व आर्थिक अनिश्चितता, युद्ध का भय तथा अवमूल्यन आदि पर नियन्त्रण नहीं कर पाता है। इतना होते हुए भी यह ऐसे देशों के लिये प्रभावशाली उपाय है जो विनिमय दर को स्थिर रखने में असमर्थ हैं तथा विदेशी विनिमय बाजार की शक्तियाँ अनुकूल नहीं हैं।

इस प्रकार आधुनिक युग में इन चारों मौद्रिक उपायों में भुगतान संतुलन के घाटायुक्त असाम्य को दूर करने के लिये विनिमय नियन्त्रण एक अस्थायी हल के रूप में महत्त्वपूर्ण है।

जहाँ तक भुगतान संतुलन में आधिक्य युक्त असाम्य का सम्बन्ध है। यदि यह अल्पकालीन है तो राष्ट्रीयता अर्थव्यवस्था की सुदृढ़ता का परिचायक है और इसलिये स्वागत योग्य है किन्तु यदि यह दीर्घकालीन हो जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अस्थायित्व आता है तो निश्चित ही इस आधिक्य को ठीक किया जाना चाहिये। नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत जिसमें कि विश्व व्यापार में विकासशील देशों या अधिकाधिक भाग की माँग की जा रही है इसी बात पर विशेष जोर है। ऐसी स्थिति में आधिक्य युक्त भुगतान संतुलन वाले देशों को विकासशील देशों से अधिकाधिक आयात प्रोत्साहित करने तथा निर्यातों को और अधिक न बढ़ने देने के लिए सर्ती मुद्रा नीति, अपनी मुद्राओं का अधिमूल्यन आदि अपनाना चाहिये।

(ख) अमौद्रिक उपाय (Non-Monetary Measures)

प्रतिकूल भुगतान संतुलन को ठीक करने के लिये मौद्रिक उपायों की अपेक्षा अमौद्रिक उपाय जिनसे विदेशी व्यापार पर प्रत्यक्षतः नियन्त्रण होता है अधिक महत्वपूर्ण हैं। इन उपायों में आयातों को नियन्त्रित करने के लिये आयात अभ्यंश (import quota), आयात-कर (tariffs) निर्यात प्रोत्साहन कार्यक्रम, विदेशी पर्यटकों को प्रोत्साहन आदि महत्वपूर्ण हैं। इसके विस्त त विवरण हेतु सम्बन्धित अध्याय पढ़ा जाये।

विकासशील देशों में भुगतान संतुलन की असाम्यता (Disequilibrium of the Balance of Payment in Developing Countries)

विश्व के विकासशील देशों को अपने भुगतान संतुलन में गम्भीर घाटे का सामना करना पड़ रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा इन देशों को इस समस्या के समाधान हेतु तथा इससे उत्पन्न आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के लिये समय-समय पर अनेक प्रयास किये गये हैं जिनमें स्थाई ऋण समझौते (stand by agreements), तेल सुविधा (oil facility), ट्रस्ट कोष (trust fund) की स्थापना, क्षतिपूरक सुविधा इत्यादि उल्लेखनीय हैं। किन्तु इनके भुगतान संतुलन का घाटा व्यापक ही होता जाता है। इन विकासशील देशों के भुगतान संतुलन में निरन्तर घाटे के कारण विश्व व्यापार में अस्थिरता उत्पन्न हो गयी है। इसलिये एक नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना की माँग की गयी है जिससे इन देशों का निर्यात बढ़ाकर इस घाटे को कम किया जा सके तथा इनके आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त हो।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के वार्षिक प्रतिवेदनों में प्रकाशित ऑँकड़ों से स्पष्ट है कि विदेशी विनियम में संसार के बहुसंख्यक विकासशील देशों की अपेक्षा सीमित संख्या वाले विकसित देशों का हिस्सा काफी अधिक है। जबकि विकासशील देशों को अपने आर्थिक विकास कार्यक्रमों के आवश्यक आयातों के कारण बढ़ती हुई अन्तर्राष्ट्रीय तरल कोषों की आवश्यकता है। विकासशील देशों की व्यापार शर्तें निरन्तर प्रतिकूल होती जा रही हैं। उनके निर्यातों की अपेक्षा आयातों की मात्रा बढ़ती जा रही है। अतः भुगतान संतुलन का घाटा बढ़ता ही जा रहा है।

विकासशील देशों में प्रतिकूल भुगतान संतुलन के कारण

इन विकासशील देशों में प्रतिकूल भुगतान संतुलन या घाटा युक्त भुगतान संतुलन असाम्य के अनेकानेक कारण हैं। इन प्रमुख कारणों में विकास कार्यक्रम, आय प्रभाव व कीमत प्रभाव, आयात व निर्यात के लिए माँग की बेलोचकता, जनसंख्या में तेजी से व द्वितीय प्रदर्शन प्रभाव आदि प्रमुख हैं। इनकी विस्त त व्याख्या पिछले प ष्ठों में की जा चुकी है। इन कारणों के अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी हैं जिन्होंने इनके भुगतान संतुलन के घाटे को हाल ही में और अधिक बढ़ा दिया है। ये कारण निम्न हैं:-

- (1) **प्राथमिक उत्पादों (क बि एवं खनिज उत्पादन)** की कीमतों में अस्थिरता- विकासशील देशों के निर्यात व्यापार में अधिकांशतः प्राथमिक वस्तुओं अर्थात् क बि व खनिज उत्पादन शामिल होते हैं। विश्व के बाजारों के विकसित देशों की औद्योगिक माल की अपेक्षा इन प्राथमिक वस्तुओं की कीमतें अस्थिर होती हैं। यदि विकसित देशों में इन वस्तुओं की माँग अधिक होती है तो इनकी कीमतें बढ़ जाती हैं और निर्यात व्यापार बढ़ जाता है। अच्छे निर्यात के कारण ये पर्याप्त मात्रा में आयात करने लगते हैं। किन्तु यदि किसी कारण इनकी प्राथमिक वस्तुओं की माँग गिर जाती है तो इनकी कीमत गिर जाती है और इन वस्तुओं के उत्पादन व पूर्ति पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इन देशों के निर्यात तो गिर जाते हैं जबकि आयातों में कमी नहीं हो पाती। फलतः भुगतान संतुलन का घाटा व्यापक हो जाता है।
- (2) **निर्यातों के लिये माँग की आय लोच का कम होना-** विकासशील देश प्राथमिक उत्पादकों के निर्यात में विशिष्टीकरण अपनाते हैं जबकि विकसित देश औद्योगिक वस्तुओं के निर्यात में विशिष्टीकरण अपना लेते हैं। प्राथमिक वस्तुओं के निर्यातों की माँग की आय लोच अपेक्षाक त कम होती है जबकि औद्योगिक वस्तुओं की अधिक। अतः विकासशील देशों में जैसे ही आय-स्तर बढ़ता है विकसित देशों की वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है जिसके कारण इनके आयात तो बढ़ जाते हैं जबकि निर्यात नहीं बढ़ पाते हैं। अतः भुगतान संतुलन का घाटा बढ़ गया है।
- (3) **विकसित देशों में आयात प्रतिस्थापन-** हाल ही में विश्व विकसित देशों ने विकासशील देशों से आयात होने वाली वस्तुओं के अनेक प्रतिस्थापक वस्तुओं को बनाना प्रारम्भ कर दिया है जिसके कारण इन देशों के निर्यातों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अमेरिका ने भारत के जूट के स्थान पर पोलिथिन को ईजाद कर लिया है जिसका हमारे जूट के निर्यात पर बुरा प्रभाव पड़ा है।
- (4) **विश्व बाजारों में विज्ञापन व प्रचार का अभाव-** विकसित देशों की औद्योगिक वस्तुओं की विशेष प्रतिष्ठा बना ली है। उनके विज्ञापन व प्रचार तन्त्र ने इस सम्बन्ध में विशेष योगदान दिया है किन्तु अभी विकासशील देश अपने निर्यातों के लिये बाजारों की खोज में लगे हैं। उनकी वस्तुओं का प्रचार-प्रसार भी कम है।

विकासशील देशों के भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता के सुधार के उपाय

किसी भी देश के भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता को ठीक करने के लिए मौद्रिक व अमौद्रिक उपायों को अपनाया जाता है। इन उपायों की विवेचना विगत प ष्ठों में की जा चुकी है। विकासशील देश के द्वारा इन उपायों को अपनाने के अतिरिक्त निम्न अन्य महत्वपूर्ण कारण उपाय अपनाने चाहिये-

- (1) **अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में व द्वि-** विकासशील देशों के प्रतिकूल भुगतान संतुलन के स्थायी हल हेतु यह आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में सुधार करके अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में व द्वि की जाये। इस सम्बन्ध में विशेष आहरण अधिकारों (SDRs) की योजना की विकासशील देशों के विशेष हित में पुर्नगठित किये जाने तथा मुद्रा-कोष की बचत के द्वारा तरल कोषों के निर्माण करने का सुझाव दिया जाता है।
- (2) **विनिमय-दरों की स्थिरता-** 1971 तथा 1973 में डॉलर के स्वर्ण-मूल्य की कमी या अवमूल्यन के बाद ब्रेटनवुड्स पद्धति ध्वस्त हो गई। संसार के विभिन्न देशों की मुद्राओं के स्वर्ण पर आधारित समता मूल्य छिन्न-भिन्न हो गये। ऐसी स्थिति में विभिन्न देशों ने या तो एकाकी रूप में अथवा सामूहिक रूप से ग्रेट के रूप में परिवर्तनशील या तैरती हुई विनिमय-दरों को अपनाया है जो कि विनिमय बाजार में माँग व पूर्ति की शक्तियों के द्वारा स्वतः ही निर्धारित हो जाती हैं। अनुकूल भुगतान संतुलन वाले विकासशील देशों के लिये परिवर्तनशील विनिमय-दरें घातक

हैं। विकासशील देश पर्याप्त तरल कोषों के साथ स्थिर विनिमय-दरों के द्वारा ही ये अपने विकास कार्यक्रमों को पूरा कर सकते हैं। परिवर्तनशील विनिमय-दरें इनके भुगतान संतुलन के घाटे को और बढ़ा देंगी।

- (3) **विदेशी पूँजी विनियोग को प्रोत्साहन-** भुगतान संतुलन पर दबाव न डालते हुए देश के आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने के लिये यह आवश्यक है कि इन देशों में अधिकाधिक विदेशी पूँजी विनियोगों को बढ़ावा दिया जाय तथा इन विनियोगों में अर्जित लाभ का पुनर्विनियोग किया जाय। विदेशी पूँजी विनियोग बढ़ाने के लिये संयुक्त राष्ट्र औद्योगिक विकास संगठन (UNIDO-III) की फरवरी, 1980 में दिल्ली सम्मेलन में विकासशील देशों द्वारा 'उत्तर-दक्षिण विश्व-कोष' जिसमें विकसित देशों द्वारा अपनी राष्ट्रीय आय के अनुपात में योगदान का प्रस्ताव है, अति महत्वपूर्ण है।
- (4) **पूँजी बर्हिंगमन पर रोक-** इन देशों में आर्थिक व राजनैतिक स्थिरता की भी अति आवश्यकता है ताकि पूँजी के बर्हिंगमन पर रोक हो क्योंकि पूँजी बर्हिंगमन इन देशों के प्रतिकूल भुगतान संतुलन के लिये उत्तरदायी रहा है।
- (5) **अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षित भण्डार-** विकासशील देशों द्वारा निर्यातित प्राथमिक वस्तुओं, कच्चे माल के बफर स्टॉक बनाये जायें ताकि इन वस्तुओं की कीमतों के उच्चावचन को रोका जा सके और इन देशों के निर्यात मूल्य बढ़ सकें। यह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन द्वारा किया जाये। संयुक्त राष्ट्र संघ के व्यापार व विकास सम्मेलन के पंचम अधिवेशन (UNCTAD-V) ने इस उद्देश्य की वित्त पूर्ति हेतु एक सामान्य कोष (common fund) बनाने की सिफारिश की थी। हर्ष का विषय है कि जून, 1981 में इस कोष की स्थापना कर ली गई।
- (6) **जनसंख्या पर नियन्त्रण-** विकासशील देशों में बढ़ती हुई जनसंख्या उनकी समरत आर्थिक समस्याओं की जड़ है। इन देशों में बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण खाद्य पदार्थों का भारी आयात करना पड़ता जिसका भुगतान संतुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अतः परिवार नियोजन के व्यापाक प्रचार प्रसार द्वारा जन्म-दर को कम करना अति आवश्यक है।
- (7) **प्रदर्शन प्रभाव पर नियन्त्रण-** विकसित देशवासियों के ऊँचे उपभोग स्तर की नकल इन देशों के निवासियों द्वारा की जाती है। जिसके कारण एक ओर बचत स्तर कम रहता है तथा दूसरी ओर अनावश्यक उपभोग की वस्तुओं का भारी मात्रा में आयात करना पड़ता है। इस प्रदर्शन प्रभाव को रोकने के लिये आयातों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण, ऊँचे प्रशुल्क लगाये जायें।
- (8) **निर्यातों का विविधीकरण व नये बाजारों की खोज-** निर्यात सम्बद्धन कार्यक्रम को सफल बनाने के लिये यह आवश्यक है कि ये देश गैर-परम्परागत वस्तुओं के उत्पादन पर जोर दें। इस प्रकार निर्यात बाजार में विविधता लायें। विश्व मेलों, द्वि-पक्षीय समझौतों, विदेशों फर्मों के ठेके लेने आदि उपायों के द्वारा अपनी नई-नई निर्यात वस्तुओं के लिए नये बाजारों की खोज करें।

उपर्युक्त उपायों के द्वारा विकासशील देश अपने भुगतान संतुलन के घाटे को दूर कर सकते हैं।

भुगतान संतुलन के सिद्धान्त (Theories of Balance of Payments)

भुगतान संतुलन के असाम्य तथा इसके समायोजन के सम्बन्ध में निम्न चार सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है-

- (1) कीमत सिद्धान्त या प्रतिष्ठित सिद्धान्त,

- (2) केन्जीयन या आय सिद्धान्त,
- (3) प्रदर्शन-प्रभाव सिद्धान्त, तथा
- (4) उत्पादकता व द्विं में असमानता का सिद्धान्त।

(1) कीमत सिद्धान्त या प्रतिष्ठित सिद्धान्त

यह सिद्धान्त भुगतान संतुलन के असाम्य की व्याख्या तुलनात्मक लागतों एवं कीमतों के संदर्भ में करता है। यह सिद्धान्त बताता है कि यदि किसी देश की लागत व कीमतें शेष विश्व की तुलना में अधिक हो जायेंगी तो देश का भुगतान संतुलन प्रतिकूल हो जायेगा।

इस सिद्धान्त के अनुसार भुगतान संतुलन में यदि असाम्य होता है तो आर्थिक शक्तियाँ इस प्रकार कार्य करने लगती हैं कि असाम्य दूर होने लगता है और पुनः संतुलन स्थापित हो जाता है। यदि किसी देश की कीमतें अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों से ऊँची हो जाती हैं तो आयात बढ़ेगे तथा निर्यात कम हो जायेंगे। फलतः स्वर्ण विदेशों को जाने लगेगा और विदेशी विनिमय कोष घट जायेगा। स्वर्णमान के नियम के अनुसार चलन में मुद्रा की मात्रा कम हो जायेगी और कीमतें गिरने लगेंगी।

व्यापार करने वाले दूसरे देशों में ठीक इसके विपरीत दशायें उत्पन्न हो जायेंगी। इस प्रकार आयात व निर्यात बराबर हो जायेंगे और भुगतान संतुलन में पुनः-साम्य स्थापित हो जायेगा।

सिद्धान्त की आलोचना- कीमत सिद्धान्तों की निम्न आलोचनायें हैं-

- (i) यह सिद्धान्त पूर्ण प्रतियोगिता की अवास्तविक मान्यता पर आधारित है।
- (ii) यह सिद्धान्त भुगतान संतुलन के केवल एक तत्त्व सापेक्षिक कीमतों पर ही ध्यान देता है। अन्य महत्वपूर्ण तत्त्वों यथा आय में परिवर्तन, पूँजी की गतिशीलता, उत्पादन आदि तत्त्वों पर ध्यान नहीं देता है।
- (iii) यह सिद्धान्त स्वतन्त्र बाजार की अवास्तविक मान्यता पर भी आधारित है।
- (iv) यह सिद्धान्त पूर्ण रोजगार अर्थात् उत्पादन के सभी साधनों का पूर्णतः काम में लगे होने की मान्यता पर आधारित है जो कि अवास्तविक दशा है।
- (v) प्रो० मुकर्जी के अनुसार जिस वस्तु का देश में उत्पादन सम्भव नहीं है उस वस्तु के आयात की व्याख्या सापेक्षिक कीमतों में भिन्नता नहीं कर सकती है। यह भी सम्भव है कि वस्तु विशेष देश के अन्दर उत्पन्न तो की जा सके उसकी लागत व कीमत ऊँची रहती हो। ऐसी स्थिति में ऊँची कीमत पर ही आयात किया जाता है।
- (vi) सापेक्षिक कीमतों के परिवर्तन के फलस्वरूप आयात व निर्यात में शीघ्र ही परिवर्तन नहीं होते जैसा कि सिद्धान्त बताता है यह बात विशेष रूप से विकासशील देशों के सम्बन्ध में लागू होती हैं जिनके आयात व निर्यात की लोच कम होती है। इनके आयात व निर्यात कीमतों से प्रभावित न होकर विकास आवश्यकताओं से निर्धारित होते हैं।

(2) केन्जीयन या आय सिद्धान्त

यद्यपि कीन्स ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया किन्तु इसमें केन्सियन तकनीकी (terminology) का प्रयोग किया गया है। यह सिद्धान्त बताता है कि भुगतान संतुलन में असाम्य दो देशों की सापेक्षिक कीमतों में भिन्नता के कारण उत्पन्न नहीं होता बल्कि सापेक्षिक आय में भिन्नता के कारण होता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार आयात आय का फलन (function) है। इसलिये क्रिया स्वरूप प्रभावित करते हैं। कीमत प्रभाव क्रिया आय प्रभाव को पैदा करती है। इसी प्रकार आय प्रभाव की क्रिया कीमत प्रभाव को पैदा करती है।

प्र०० मीड ने आय प्रभाव के तीन स्वरूप बताये हैं-

(क) स्वजात प्रेरित व्यवधान (Spontaneous Induced Disturbances),

(ख) प्रेरित व्यवधान (Induced Disturbances), तथा

(ग) नीति विषयक व्यवधान (Policy Disturbances)।

(क) स्वजात प्रेरित व्यवधान- इसके अन्तर्गत प्रभावों का अध्ययन किया जाता है न कि इसके कारणों का। अर्थव्यवस्था में व्यय के फलस्वरूप परिवर्तन का क्या स्वरूप होता है इसकी व्याख्या स्वजात प्रेरित व्यवधानों के अन्तर्गत की जाती है। प्र०० मीड कहते हैं कि स्वजात प्रेरित व्यवधान चार प्रकार के परिवर्तन करते हैं- (i) स्वजात व्यय में परिवर्तन, (ii) उत्पादकता में परिवर्तन, (iii) माँग में स्वजात परिवर्तन, (iv) पूँजी हस्तांतरण में स्वजात परिवर्तन। इन्हीं परिवर्तनों के कारण भुगतान संतुलन में असाम्य पैदा होता है। इन परिवर्तनों की विस्तृत व्याख्या निम्न प्रकार है-

(i) **स्वजात व्यय में परिवर्तन-** व्यय में परिवर्तन के फलस्वरूप भुगतान संतुलन पर पड़ने वाले प्रभाव की व्याख्या विदेशी व्यापार गुणक (foreign trade multiplier) द्वारा की जाती है। अर्थव्यवस्था के दो स्वरूप होते हैं- बन्द अर्थव्यवस्था जबकि विदेशी व्यापार न हो तथा खुली अर्थव्यवस्था जबकि विदेशी व्यापार हो रहा हो। माना कि A व B देश हैं। बन्द अर्थव्यवस्था की स्थिति में A देश में 100 करोड़ रु० व्यय किये जाते हैं यदि सीमान्त उपभोग की प्रवृत्ति $\frac{3}{4}$ है अर्थात् $\frac{1}{4}$ आन्तरिक क्षरण (home leakage- H.L.) कर इत्यादि के कारण हो जाता है तो विनियोग गुण 4 होगा और A देश की राष्ट्रीय आय 400 करोड़ रुपये हो जायेगी। अब A देश खुली अर्थव्यवस्था के रूप में आयातों पर व्यय करता है। A देश में राष्ट्रीय आय बढ़ने पर उसकी आयात की सीमान्त प्रवृत्ति (marginal propensity to import) बढ़ जायेगी। अतः बढ़ी हुई आय का कुछ भाग विदेशों में चला जायेगा। यह आय प्रवाह में बाह्य क्षरण (E.L.) हुआ। इस प्रकार A देश की राष्ट्रीय आय में वास्तविक व द्वितीय कम हो जायेगी। माना कि A देश B देश से आयात करता है तो B देश के नियांत बढ़ जायेंगे। अतः B देश की आय बढ़ जायेगी और जब B देश की आय बढ़ेगी तो उसकी भी सीमान्त आयात प्रवृत्ति बढ़ जायेगी। इस प्रकार स्वजात प्रेरित व्यवधान के कारण अर्थव्यवस्था में व्यय में परिवर्तन होता है और इसके बाद गुणक के माध्यम से भुगतान संतुलन में भी परिवर्तन हो जाता है।

यहाँ भी यह स्पष्ट है कि प्रतिचित सिद्धान्त की भौति आय सिद्धान्त के अनुसार भी भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता खत: ही ठीक हो जाती है।

(ii) **उत्पादकता में परिवर्तन-** उत्पादकता में परिवर्तन के कारण भी भुगतान संतुलन में असाम्य हो जाता है। माना कि A देश में उत्पादकता में 5% की व द्वितीय हो जाती है। ऐसी स्थिति में कीमतें, रोजगार व उत्पादन में 5% की कमी हो जायेगी और जीवन-निवाह लागत भी 5% घट जायेगी अर्थात् असल मजदूरी 5% बढ़ जायेगी। यदि A देश का B देश में व्यापार होता है तथा B देश में आयातों की माँग की लोच इकाई से अधिक है तो A देश के नियांत बढ़ेंगे (क्योंकि उत्पादकता में 5% व द्वितीय हो गयी है) तथा B देश के आयात बढ़ेंगे। अतः B देश के भुगतान संतुलन में घाटा तथा A देश के भुगतान संतुलन में अतिरेक होगा। किन्तु B देश की आयातों के लिए माँग की लोच इकाई से कम है तो स्थिति बिल्कुल विपरीत होगी।

- (iii) **माँग में स्वजात परिवर्तन-** अपने पूर्व उदाहरण को लेते हुए यदि A देश की वस्तु की माँग B देश में फैशन, रूचि, आय आदि बढ़ने के कारण बढ़ जाती है तो भी A देश का भुगतान संतुलन अनुकूल तथा B देश का भुगतान संतुलन प्रतिकूल हो जायेगा।
 - (iv) **पूँजी हस्तान्तरण में स्वजात परिवर्तन-** स्वतन्त्र व्यापार की स्थिति को मानते हुए यदि A देश से B देश में पूँजी का हस्तान्तरण (बहिंगमन) होता है तो भुगतान संतुलन A देश के प्रतिकूल तथा B देश के अनुकूल होगा।
- (ख) प्रेरित व्यवधान-** प्रेरित व्यवधान स्वजात व्यवसधान का ही परिणाम होता है। माना कि A देश के किसी उद्योग विशेष में उत्पादन व उत्पादकता बढ़ जाती है तो इस उद्योग को आवश्यक माल व मशीनरी उत्पन्न करने वाले उद्योगों की वस्तुओं की माँग बढ़ जोयगी और इन उद्योगों का उत्पादन भी बढ़ेगा। अतः A देश में स्वजात व्यय होगा परिणामस्वरूप भुगतान संतुलन A देश के प्रतिकूल तथा B देश के अनुकूल हो जायेगा।
- (ग) नीति सम्बन्धी व्यवधान-** नीति सम्बन्धी व्यवधान स्वजात व प्रेरित व्यवधानों को नियंत्रित करने के उद्देश्य से किया जाता है उदाहरण के लिए यदि देश में विदेशी विनियोग किसी उद्योग विशेष में बढ़ रहा हो तो संतुलित विकास के उद्देश्य से सरकार अन्य क्षेत्रों में सार्वजनिक विनियोग बढ़ा सकती है। इसी प्रकार यदि स्वजात व्यय व द्विंदि के कारण आय बढ़ती है जिसके फलस्वरूप उपभोग वस्तुओं की माँग बढ़ती है तो सरकार उपभोग वस्तुओं पर कर तथा इन वस्तुओं के आयात पर ऊँचा प्रशुल्क लगा सकती है। अतः भुगतान संतुलन की स्थिति परिवर्तित हो जायेगी।

सिद्धान्त की आलोचना-

- (i) यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि मात्रा की आय लोच अधिक होती है। अतः आय के परिवर्तन का आयात व निर्यात पर शीघ्र प्रभाव पड़ता है। किन्तु वास्तव में माँग की आय लोच इकाई से अधिक नहीं होती। इसलिए भुगतान संतुलन का असाम्य स्वतः ठीक नहीं हो पाता है।
- (ii) भुगतान संतुलन को केवल आय तत्त्व ही नहीं बल्कि कीमत तथा अन्य तत्त्व भी प्रभावित करते हैं।
- (iii) यह सिद्धान्त केवल यह बताता है कि आय परिवर्तन का भुगतान संतुलन पर प्रतिकूल प्रभाव ही पड़ता है। वास्तव में किसी देश की वास्तविक आय में (वस्तुओं व सेवाओं के रूप में) व द्विंदि के फलस्वरूप भुगतान संतुलन पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है क्योंकि वास्तविक आय में व द्विंदि देश की निर्यात क्षमता को बढ़ा सकती है अथवा आयातों की प्रव ति को घटा सकती है क्योंकि जिन वस्तुओं का उत्पादन बढ़ जाता है उन वस्तुओं का विदेशों से आयात कम हो जायेगा।
- (iv) यह सिद्धान्त लागतों व कीमतों के तुलनात्मक अन्तर की शक्ति की उपेक्षा करता है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार है। यदि एक देश की वस्तुओं की उत्पादन लागत व कीमतें दूसरे देश की वस्तुओं की लागत व कीमतों के समान हैं तो आय बढ़ने पर भी आयात नहीं होंगे।

(3) प्रदर्शन प्रभाव सिद्धान्त

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रो० रेगनर नक्से द्वारा किया गया है। प्रो० नक्से कहते हैं कि विकसित देश में आय-स्तर अपेक्षाकृत ऊँचा होता है। अतः इन देशों के निवासियों का जीवन-स्तर भी ऊँचा होता है। आर्थिक विकास के फलस्वरूप विकासशील देशों में जब आय-स्तर बढ़ने लगता है। विकासशील देश के निवासी यातायात व संचार के साधनों के माध्यम से विकसित देशवासियों के सम्पर्क में आते हैं तो वे विकसित देशवासियों के ऊँचे स्तर से प्रभावित होते हैं और वे भी अपनी आय को आधुनिक विलासिता की वस्तुओं के उपभोग (conspicuous consumption) पर व्यय करने लगते हैं।

है। अतः उपभोग की प्रवति में व द्वितीय होने के कारण इन वस्तुओं का विदेशों से आयात करना पड़ता है और भुगतान संतुलन प्रतिकूल हो जाता है।

सिद्धान्त की आलोचना-

- (i) यह सिद्धान्त एकपक्षीय है। यह भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता की व्याख्या केवल आयात पक्ष के संदर्भ में ही करता है, निर्यात पक्ष को बिल्कुल छोड़ देता है।
- (ii) इस सिद्धान्त के अनुसार विकसित देशों का भुगतान संतुलन सदैव अनुकूल तथा विकासशील देशों का प्रतिकूल होता है। किन्तु यह तथ्यानुकूल नहीं है। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अनेक विकसित देशों का भुगतान संतुलन प्रतिकूल तथा विकासशील देशों का भुगतान संतुलन अनुकूल रहा था।
- (iii) प्रदर्शन प्रभाव का भुगतान संतुलन पर प्रतिकूल प्रभाव ही नहीं पड़ता है। जैसा कि यह सिद्धान्त बताता है बल्कि अनुकूल प्रभाव भी पड़ता है। विकासशील देशों पर विकसित देशों का केवल उपभोग सम्बन्धी प्रभाव ही नहीं पड़ता है बल्कि उत्पादन सम्बन्धी प्रभाव भी पड़ता है। उत्पादन की नवीन विधियाँ तथा तकनीकी ज्ञान प्राप्त होता है जिससे देश का उत्पादन व उत्पादकता बढ़ती है। इसका भुगतान संतुलन पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।
- (iv) विकासशील देशों में आजकल विनियम नियंत्रण तथा अन्य प्रतिबंधात्मक उपायों के कारण विलासितादायक वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध लगे हुए हैं। अतः प्रदर्शन प्रभाव निष्क्रिय हो गया है।

(4) उत्पादक व द्वितीय में असमानता का सिद्धान्त

व्यापार करने वाले देशों के निर्यात व आयात उद्योगों की उत्पादकता में भिन्नता होती है। यह उत्पादकता सम्बन्धी भिन्नता भुगतान संतुलन की कीमत प्रभाव तथा आय प्रभाव के द्वारा प्रभावित करती है।

कीमत प्रभाव- यदि दो देशों के निर्यात उद्योगों में उत्पादकता सम्बन्धी भिन्नता है अर्थात् एक देश के निर्यात उद्योगों में तुलनात्मक रूप से उन्नत तकनीकी का प्रयोग किया जाता है तो उस देश में निर्यात वस्तुओं की कीमत कम हो जायेगी। यदि निर्यात वस्तु की माँग की लोच इकाई से कम है तो कुल निर्यात मूल्य कम हो जोयगा और उस देश के भुगतान संतुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। किन्तु यदि निर्यात की माँग की लोच इकाई से अधिक है तो निर्यातकर्ता देश के निर्यातों में व द्वितीय होगी और उसके भुगतान संतुलन पर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा।

आय प्रभाव- निर्यातकर्ता देश के निर्यात उद्योगों में ऊँची उत्पादकता के कारण निर्यात वस्तुओं की कीमत कम हो जायेगी। ऐसी स्थिति में आयातकर्ता देश की वास्तविक आय में व द्वितीय हो जायेगी क्योंकि कम कीमत पर वस्तुयें आयात कर सकेगा। अतः उसकी आयातों में व द्वितीय होगी जिसका उसके (आयातकर्ता देश) भुगतान संतुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। यदि निर्यातकर्ता देश के निर्यात उद्योग में उत्पादकता बढ़ने पर भी उत्पादन की कीमतें न घटें बल्कि बढ़ी हुई उत्पादकता के द्वारा मजदूरी, लाभ आदि बढ़ा दिये जायें तो देश में वास्तविक आय बढ़ेगी और इसका निर्यातकर्ता देश के भुगतान संतुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

अब हम आयात उद्योगों में उत्पादकता व द्वितीय का भुगतान संतुलन पर प्रभाव का अध्ययन करते हैं। यदि आयात उद्योग में अपेक्षक त उत्पादकता बढ़ जाती है तो कीमत प्रभाव के कारण निर्यातकर्ता देश के भुगतान संतुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा किन्तु आय प्रभाव के कारण आयातकर्ता देश के भुगतान संतुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार भुगतान संतुलन पर शुद्ध प्रभाव, आय प्रभाव व कीमत प्रभाव की सापेक्षित शक्ति पर निर्भर करेगा।

एक विकासशील देश के भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता की व्याख्या इन चारों सिद्धान्तों के द्वारा ही हो सकती है कि एक सिद्धान्त के द्वारा नहीं।

अध्याय-17

स्वर्णमान प्रणाली में समायोजन की प्रक्रिया

(The Process of Adjustment under System of Gold Standard)

जब दो देश स्वर्णमान पर आधारित होते हैं तो उनमें निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं:-

- (i) देश में स्वर्ण के सिक्के वास्तविक चलन में होते हैं तथा उनमें स्वर्ण का भार विधान द्वारा निश्चित कर दिया जाता है।
- (ii) चलन में स्वर्ण के सिक्के पूर्णकाय होते हैं अर्थात् उनका वास्तविक मूल्य अंकित मूल्य के बराबर होता है, उनका स्वतन्त्र टंकण होता है तथा वे असीमित विधिग्राह्य होते हैं।
- (iii) स्वर्ण की बचत के लिए स्वर्ण मुद्रा के साथ-साथ सांकेतिक मुद्रा व पत्र-मुद्रा भी चलन में रह सकती है किन्तु इनका स्वर्ण मुद्रा से एक निश्चित सम्बन्ध होता है और वे हर समय स्वर्ण अथवा पूर्णकाय सिक्कों में परिवर्तनशील होती है।
- (iv) सरकार अथवा सरकार द्वारा अधिक त मौद्रिक संस्था एक निश्चित दर पर स्वर्ण का कुछ क्रय-विक्रय करती है।
- (v) स्वर्ण के आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।

स्वर्णमान वाले देशों में विनिमय-दर के निर्धारण का आधार दोनों देशों की मुद्राओं में निहित पूर्ण का अनुपात होता है। दो देशों की मुद्राओं में स्वर्ण की मात्रा के आधार पर जो विनिमय-दर निर्धारित होती है उसे 'विनिमय की टकसाली दर' या 'टंक समता दर' (Mint Par of Exchange) अथवा 'स्वर्ण समता दर' (Gold Par Exchange) कहते हैं। यह वह दर होती है जिस पर एक देश की मुद्रा की सोना खरीदने की शक्ति दूसरे देश की सोना खरीदने की शक्ति के बराबर होती है। टॉमस के शब्दों में, "विनिमय की टकसाली दर वह अनुपात है, जो एक ही धातु पद्धति वाले देशों की प्रामाणिक मुद्राओं की वैधानिक धातु मात्रा के साम्य से व्यक्त होती है।"

उपर्युक्त परिभाषा में 'वैधानिक' शब्द से अभिप्राय यह है कि स्वर्णमान पर आधारित देशों की मुद्रा के 'वैधानिक विशुद्ध स्वर्ण मूल्य' से ही टकसाली दर निश्चित की जाती है, न कि उसके वास्तविक मूल्य से। अतः टंक समता में तब तक परिवर्तन नहीं होता जब तक कोई वैधानिक परिवर्तन नहीं किया जाता।

क्लेचर व क्रम्प के शब्दों में, "विनिमय की टकसाली दर सिक्के के वास्तविक रूप पर निर्भर न रहकर उसकी वैधानिक व्याख्या पर निर्भर करती है। जब तक विधान में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता, टकसाली दर में भी कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।"

हैबरलर के शब्दों में, "यदि दो या दो से अधिक देश स्वर्णमान पर हों और यदि स्वर्ण के आयात व निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध न हो तो विभिन्न मुद्राएं सुदृढ़ ढंग से सम्बन्धित होती हैं। उदाहरण के लिए,

यदि 1 औंस स्वर्ण को पौण्ड की निश्चित मात्रा में तथा मार्क की 20 गुनी मात्रा में बनाया जा सके-यह मान्यता ली गई कि मुद्रा ढालने में कोई अतिरिक्त व्यय नहीं होता- कोई भी व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक 20 मार्क के बदले 1 पौण्ड या 1 पौण्ड के बदले 20 मार्क प्राप्त कर सकता है।"

उदाहरण- मान लीजिए, अमेरिका व भारत स्वर्णमान पर हैं। अमरीकी डालर की एक इकाई में 5 ग्रेन शुद्ध स्वर्ण है व भारतीय रूपए की एक इकाई में 2.5 ग्रेन शुद्ध स्वर्ण है, इन देशों की विनिमय-दर इस प्रकार होगी-

$$5 \text{ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण} = \text{अमरीकी डालर की 1 इकाई}$$

$$5 \text{ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण} = \text{भारतीय रूपए की 2 इकाई}$$

अतः टकसाली समता-

$$1 \text{ डालर} = 2 \text{ रूपए}$$

अर्थात् अमेरिकी का 1 डालर भारत के लिए 2 रूपए के बराबर होगा।

यदि स्वर्णमान का रूप ऐसा है कि दोनों देशों में पत्र-मुद्रा चलन में है तथा उन दोनों मुद्राओं का मूल्य स्वर्ण में निश्चित किया गया है तो उन मुद्राओं की स्वर्ण तुल्यता का अनुपात ले लिया जाता है। यह अनुपात टकसाली समता है व इसे ही विनिमय-दर कहेंगे।

उदाहरण- यदि अमेरिका 20 डालर के बदले 1 औंस सोना देता है और ब्रिटेन 12 पौण्ड के बदले में 1 औंस सोना देता है तो

$$20 \text{ अमेरिका डालर} = 1 \text{ औंस शुद्ध स्वर्ण}$$

$$12 \text{ पौण्ड} = 1 \text{ औंस शुद्ध स्वर्ण}$$

टकसाली समता-

$$12 \text{ पौण्ड} = 20 \text{ डालर}$$

$$1 \text{ पौण्ड} = 1.67 \text{ डालर}$$

टकसाली विनिमय-दर सामान्य अथवा दीर्घकालीन विनिमय-दर होती है। यद्यपि विदेशी विनिमय की माँग व पूर्ति में परिवर्तन होने के कारण समय-समय पर बाजार विनिमय-दर में भी उच्चावचन होते रहते हैं परन्तु जिस प्रकार बाजार-मूल्य सामान्य-मूल्य के चारों ओर चक्कर काटता रहता है उसी प्रकार बाजार विनिमय-दर भी स्वर्ण समता दर के समीप विदेशी विनिमय बाजार में विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है।

विदेशी विनिमय-दरों में उच्चावचन की सीमाएं- स्वर्ण बिन्दु (Limits of Fluctuations in Exchange Rate- Gold to Specie Point)

विदेशी विनिमय की टंक समता पर विदेशी विनिमय की दीर्घकालीन समता को सूचित करती है। वास्तविक विदेशी विनिमय-दर साधारणतः इस आदर्श दर से कम या अधिक होती है। चूंकि विनिमय की माँग व पूर्ति में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, इसलिए इन परिवर्तनों के अनुसार विनिमय-दर से भी उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। इस प्रकार स्वर्णमान वाले देशों में विनिमय-दर की दीर्घकालीन प्रवृत्ति टंक समता के बराबर होने की होती है, किन्तु व्यवहार में विनिमय-दर टंक समता के कभी ऊपर व कभी नीचे रहती है। ये उतार-चढ़ाव असीमित नहीं होते अपितु इसकी एक निश्चित निर्धारित सीमा होती है जो स्वर्णमान देशों के बीच स्वर्ण की निर्यात तथा आयात लागत द्वारा निर्धारित होती है।

विदेशी विनिमय-दर के उच्चावचन की सीमाएं स्वर्ण-बिन्दु द्वारा निश्चित होती हैं और उच्चतम स्वर्ण-बिन्दु (Upper Gold Point) तथा निम्नतम स्वर्ण-बिन्दु (Lower Gold Point) के बीच सीमित रहते हैं।

उच्चतम स्वर्ण-बिन्दु (Upper Gold Point or Upper Specie Point)- यह बिन्दु विनिमय-दर की उच्चतम सीमाओं को निश्चित करता है। विनिमय-दर इस बिन्दु से ऊपर कभी नहीं जा सकती। इस बिन्दु को स्वर्ण-निर्यात बिन्दु (Gold Export Point) भी कहते हैं क्योंकि इसके बाद स्वर्ण देश से बाहर जाने लगता है।

सूत्र रूप में,

उच्चतम स्वर्ण बिन्दु = विनिमय दर की टकसाली दर-स्वर्ण आयात व्यय

निम्नतम स्वर्ण-बिन्दु (Lower Gold Point or Lower Specie Point)

उदाहरण- इसे निम्न उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है-

मान लीजिए, इंगलैंड व अमेरिका के बीच विनिमय टकसाली दर 1 पौण्ड = 4.87 डालर है व 1 पौण्ड मूल्य के स्वर्ण को ब्रिटेन से अमेरिका भेजने में 0.1 डालर व्यय होता है, अतः

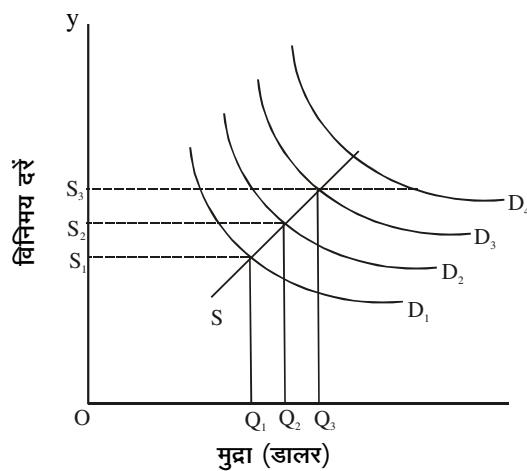
$$\text{उच्चतम स्वर्ण-बिन्दु} = 1 \text{ पौण्ड} = 4.87 + 0.1 = 4.88 \text{ डालर}$$

$$\text{निम्नतम स्वर्ण-बिन्दु} = 1 \text{ पौण्ड} = 4.87 - 0.1 = 4.86 \text{ डालर}$$

अब, मान लीजिए, अमेरिका का भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल हो जाता है अर्थात् अमेरिका के आयात निर्यात से अधिक हो जाते हैं तो अमेरिका के लिए पौण्ड की माँग उसकी पूर्ति की तुलना में अधिक हो जाएगी। अतः डालरों के रूप में पौण्ड का मूल्य बढ़ जाएगा। दूसरे शब्दों में, अब 1 पौण्ड प्राप्त करने के लिए अमेरिका को 4.87 डालर से अधिक देना पड़ेगा। यदि 4.87 डालर के स्वर्ण को इंगलैंड भेजने में 0.1 डालर व्यय होता है, तो ब्रिटेन में 1 पौण्ड का भुगतान करने के लिए अधिक से अधिक $4.87 + 0.1$ अर्थात् 4.88 डालर देने को तैयार होगा। यदि बाजार में 1 पौण्ड का मूल्य 4.88 डालर से अधिक माँगा जाता है, तो अमेरिकी आयातकर्ता आयतित माल का भुगतान पौण्ड में न करके स्वर्ण के रूप में करेगा क्योंकि स्वर्ण भेजने में उसे 4.88 डालर ही व्यय करने पड़ेंगे, अधिक नहीं। इस प्रकार ब्रिटेन के 1 पौण्ड का मूल्य 4.87 डालर से अधिक होने पर अमेरिका से सोने का निर्यात आरम्भ हो जाएगा।

अतः $1 \text{ पौण्ड} = 4.88 \text{ डालर}$ अमेरिका के लिए स्वर्ण-निर्यात बिन्दु (gold export point) या उच्चतम स्वर्ण-बिन्दु (upper gold point) है। यह बिन्दु विनिमय-दर बढ़ने की अधिकतम सीमा है। यदि वास्तविक विनिमय-दर इससे अधिक हो जाती है तो स्वर्ण देश से बाहर जाने लगेगा।

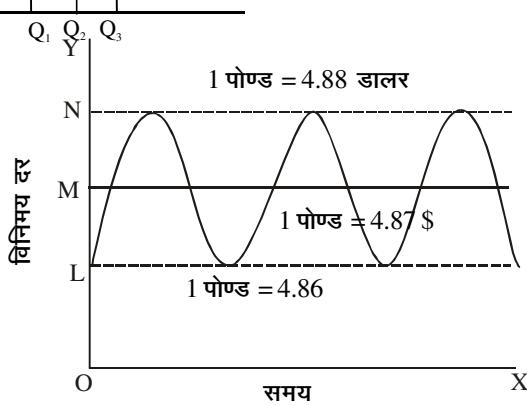
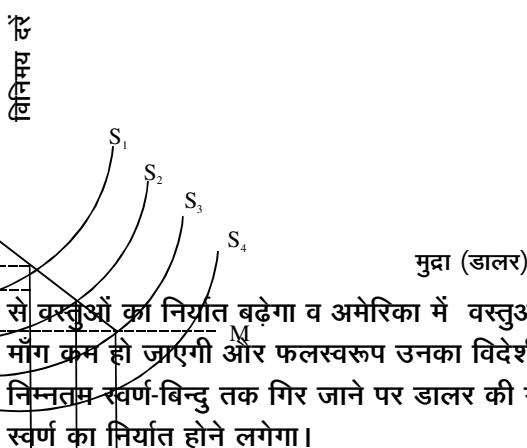
इसी प्रकार विनिमय-दर गिरने की एक न्यूनतम सीमा होती है जिससे नीचे विनियम-दर नहीं गिरने पाती और यदि गिर जाती है तो स्वर्ण का आयात आरम्भ हो जाता है। मान लीजिए, इंगलैण्ड का भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल और अमेरिका का भुगतान सन्तुलन अनुकूल हो जाता है। इसका अर्थ है कि इंगलैंड के आयात निर्यात की अपेक्षा अधिक हो जाते हैं। इस कारण इंगलैंड में अमेरिकी डालर की माँग बढ़ जाएगी। डालरों की माँग अधिक होने के कारण उसका विदेशी मूल्य बढ़ जाएगा और पौण्ड का विदेशी मूल्य कम हो जाएगा। दूसरे शब्दों में, अब इंगलैण्ड के व्यापारी को 1 पौण्ड के बदले में पहले से कम डालर प्राप्त होंगे अर्थात् अब 1 पौण्ड के बदले 4.87 डालर से कम डालर मिलेंगे परन्तु विनिमय-दर $1 \text{ पौण्ड} = 4.86 \text{ डालर}$ से कम नहीं होगी। यही निम्नतम स्वर्ण-बिन्दु (lower specie point) है अर्थात् $1 \text{ पौण्ड} = 4.87 - 0.1 = 4.86 \text{ डालर}$ है। यदि 1 पौण्ड का मूल्य 4.86 डालर से कम हो जाता है तो इंगलैंड का आयातकर्ता अपने आयतित माल का भुगतान स्वर्ण के रूप में करना चाहेगा और इस प्रकार अमेरिका में स्वर्ण का आयात होने लगेगा।



विनिमय-दर SQ_3 हो जाएगी। डालर की माँग इससे अधिक बढ़ने पर विनिमय-दर अपने आयत करता है। अब मान लीजिए, इंगलैंड अमेरिका से कुछ वस्तुएं आयात करता है जिनके भुगतान के लिए इंगलैंड को डालरों की आवश्यकता पड़ेगी। अतः इंगलैंड में डालरों की माँग बढ़ जाएगी। मान लीजिए, माँग वक्र बढ़कर D_2D_2 हो जाता है तो विनिमय-दर भी बढ़कर P_2Q_2 हो जाएगी, जहाँ पर बढ़ी हुई पूर्ति बढ़ी हुई माँग के बराबर हो जाती है। यदि और बढ़ने पर माँग वक्र बढ़कर D_3D_3 हो जाता है तो विनिमय-दर SQ_3 से अधिक नहीं बढ़ेगी, अतः डालरों की पूर्ति भी इससे अधिक नहीं बढ़ेगी।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण- चित्र में SS पूर्ति वक्र और DD माँग वक्र है। OX उच्चतम स्वर्ण-बिन्दु है। P_1Q_1 साम्य बिन्दु है। अब मान लीजिए, इंगलैंड अमेरिका से कुछ वस्तुएं आयात करता है जिनके भुगतान के लिए इंगलैंड को डालरों की आवश्यकता पड़ेगी। अतः इंगलैंड में डालरों की माँग बढ़ जाएगी। मान लीजिए, माँग वक्र बढ़कर D_2D_2 हो जाता है तो विनिमय-दर भी बढ़कर P_2Q_2 हो जाएगी, जहाँ पर बढ़ी हुई पूर्ति बढ़ी हुई माँग के बराबर हो जाती है। यदि और बढ़ने पर माँग वक्र बढ़कर D_3D_3 हो जाता है तो विनिमय-दर SQ_3 से अधिक नहीं बढ़ेगी।

इस बढ़ी हुई डालर की माँग की पूर्ति स्वर्ण भेजकर की जाएगी। दूसरे शब्दों में, इंगलैंड के आयातकर्ता स्वर्ण भेजकर अपने आयात किए हुए माल का भुगतान करेंगे। फलस्वरूप इंगलैंड का स्वर्ण कम हो जाएगा, स्वर्ण की कमी से मुद्रा का संकुचन होगा और मुद्रा संकुचन से इंगलैंड में आंतरिक मूल्य- स्तर गिर जाएगा। इसके विपरीत, अमेरिका में स्वर्ण के आयात के कारण मुद्रा-प्रसार होगा जिसके परिणामस्वरूप अमेरिका के सामान्य मूल्य-स्तर बढ़ जाएगा। इस प्रकार इंगलैंड



निम्नतम स्वर्ण-बिन्दु 4.86 डालर व टंक समता दर 4.87 डालर है।

इस प्रकार स्वर्ण का नियात अपने विदेशी व्यापार को सन्तुलित कर देता है। इन स्वर्ण बिन्दुओं को एक अन्य चित्र द्वारा भी समझाया जा सकता है।

चित्र में MP रेखा टंक समता दर को व्यक्त करती है। NS उच्चतम स्वर्ण-बिन्दु व LT निम्नतम स्वर्ण-बिन्दु है। RR बाजार विनिमय-दर को प्रकट करती है जो NS व LT इन दोनों सीमाओं के मध्य घूमती है। चित्रानुसार उच्चतम स्वर्ण-बिन्दु 4.88 डालर,

चूंकि स्वर्ण-निर्यात बिन्दु पर स्वर्ण के बदले में असीमित मात्रा में विदेशी मुद्राएँ प्राप्त की जा सकती हैं इसलिए इस बिन्दु पर विदेशी विनिमय की पूर्ति पूर्णतया लोचदार होती है। इसी प्रकार स्वर्ण-आयात बिन्दु पर विदेशी विनिमय की माँग पूर्णतया लोचदार होती है। स्वर्ण-निर्यात बिन्दु पर पूर्ति वक्र के पूर्णतया लोचदार होने के कारण माँग वक्र के दाहिनी ओर विवर्तित होने से विदेशी मुद्रा के मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

चित्र के अनुसार एक देश में दूसरे देश की मुद्रा की माँग बढ़ जाने पर विनिमय-दर सन्तुलन बिन्दु E से हटकर उच्चतम अथवा स्वर्ण-निर्यात बिन्दु (T) की ओर बढ़ने लगता है। विदेशी मुद्रा के मूल्य की उच्चतम सीमा T से अधिक नहीं हो सकती। इस बिन्दु पर माँग व पूर्ति में पूर्ण अन्तर को स्वर्ण-निर्यातों द्वारा पूरा कर लिया जाता है।

विनिमय-दर

विदेशी विनिमय की मात्रा

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि स्वर्णमान स्वचालित मान होता है। जब कभी व्यापार असन्तुलन या विदेशी विनिमय की अतिरिक्त माँग के कारण स्वर्ण का देश से निर्यात होने लगता है तो देश में स्वर्ण की मात्रा कम हो जाने के कारण मुद्रा-संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसके फलस्वरूप सामान्य मूल्य-स्तर कम हो जाता है, आयात गिर जाते हैं और निर्यात बढ़ जाते हैं। साथ संकुचन के कारण व्याज-दर ऊँची हो जाती है। दूसरी ओर, स्वर्ण आयात करनेवाले देशों में मुद्रा-प्रसार होता है जिससे सामान्य मूल्य-स्तर में व द्विः हो जाती है, वस्तु के आयात बढ़ जाते हैं और व्याज-दर नीची हो जाती है। इस प्रकार दोनों देशों में स्वर्ण के आयात-निर्यात से विदेशी विनिमय की माँग व पूर्ति में अपने आप सन्तुलन स्थापित हो जाता है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने इस क्रिया को 'कीमत स्वर्ण प्रवाह क्रिया' (Price Specie Flow Mechanism) कहा था।

स्पष्ट है कि स्वर्णमान व्यवस्था के अन्तर्गत विनिमय-दरें तो लगभग स्थिर रहती हैं परन्तु विदेशी विनिमय-दर की इस व्यवस्था को बनाए रखने के लिए आन्तरिक स्थिरता का त्याग करना पड़ता है।

अध्याय-18

व्यय घटानेवाली तथा व्यय स्थिरण नीतियां (Expenditure Reducing and Expenditure Switching Policies)

व्यापार घाटे को सन्तुलित करने के लिए व्यय घटाने तथा व्यय परिवर्तन नीतियों का प्रयोग किया जाता है। व्यय घटानेवाली नीतियां मौद्रिक नीति तथा राजकोषीय नीतियों के नाम से जानी जाती हैं। 1930 से पूर्व इस कार्य के लिए केवल मौद्रिक नीति का प्रयोग किया जाता रहा है। परन्तु उसके बाद मौद्रिक तथा राजकोषीय दोनों नीतियों का प्रयोग किया जाने लगा है। इनके प्रयोग से भुगतान सन्तुलन तथा अन्य समस्ति चरों को प्रभावित किया जाता है।

मौद्रिक नीति की भूमिका Role of Monetary Policy

व्यय के मुख्य घटक निवेश तथा उपभोग घटक हैं इन दोनों प्रकार के व्ययों को परिवर्तित करने के लिए मौद्रिक नीति व्याज दरों तथा खुले बाजार की प्रक्रियाओं का प्रयोग करती रही है। व्याज दर (r) में व द्वितीय का प्रथम प्रभाव निवेश पर पड़ता है। व्याज दर बढ़ने से उधार लेने की लागत बढ़ जाती है। इसलिए उत्पादक कम उधार लेते हैं तथा कम निवेश करते हैं। व्याज दर में व द्वितीय से निवेश पर कितना प्रभाव पड़ता है यह वस्तुतः अर्थव्यवस्था में विद्यमान सामान्य परिस्थितियों पर निर्भर करता है। यदि अर्थव्यवस्था में तेजी का दौर है जिसमें निवेशक कीमतों में निरन्तर व द्वितीय की आशा करते हैं तो व्याज दर में व द्वितीय निवेश को कम घटा पाएगी या इसको बिल्कुल प्रभावित नहीं करेगी। इसके विपरीत यदि अर्थव्यवस्था में सामान्य परिस्थितियाँ हैं जिनमें कीमत व द्वितीय की आशा नहीं है तो व्याज दर में व द्वितीय निवेश व्यय को काफी हद तक कम कर देगी।

मौद्रिक नीति के माध्यम से खुले बाजार की प्रक्रियाएँ अपनाकर भी व्यय को कम किया जा सकता है। किसी देश का केन्द्रीय बैंक खुले बाजार में बांड तथा प्रतिभूतियों को बेच सकता है जिनको अन्य बैंक तथा जनता खरीदती है। इससे बैंकों की जमाएँ कम हो जाती हैं जिससे साख का निर्माण कम हो जाता है तथा निवेशकों तथा उपभोक्ताओं को कम उधार दिया जाने लगता है। इससे भी परिणामतः कुल व्यय कम हो जाता है।

इस प्रकार किए गए उपभोग तथा निवेश व्यय में कमी गुणक के माध्यम से राष्ट्रीय आय को कम कर देता है। आय में कमी होने से आयात कम हो जाते हैं। परन्तु निर्यात स्थिर रहते हैं। इससे भुगतान शेष का घटा समाप्त हो जाता है।

राजकोषीय नीति की भूमिका

Role of Fiscal Policy

राष्ट्रीय व्यय कम करने के लिए राजकोषीय नीति का भी प्रयोग किया जाता है। राजकोषीय नीति द्वारा प्रयोग में लाए गए उपकरणों को दो मुख्य समूहों में बाँटा जा सकता है। ये दो समूह सरकारी बजट के आय पक्ष तथा व्यय पक्ष हैं।

लोगों की स्वायत्त आय (disposal income) को प्रभावित करने के लिए एक महत्वपूर्ण साधन है। प्रत्यक्ष कर में व द्विसे लोगों की स्वायत्त आय कम हो जाती है जिससे आयात (Imports) कम हो जाते हैं। इसी प्रकार अप्रत्यक्ष कर में व द्विसे भी लोगों की स्वायत्त आय को कम कर देती है, जिसका भी वैसा ही प्रभाव होता है। जैसे बिक्री कर (Sales tax) में व द्विसे वस्तुओं की कीमतों को बढ़ा देते हैं तथा लोगों को वस्तुओं पर व्यय बढ़ा जाता है। लोग अपनी आय से अब पहले की तुलना में कम वस्तुएं खरीद पाते हैं। इस प्रकार उनका कुल व्यय कम हो जाना माना जाता है।

व्यय घटानेवाली राजकोषीय नीति का दूसरा रूप सरकारी व्यय में कमीवाला होता है। सरकारी व्यय का एक भाग पेंशन, बेरोजगारी भत्ता आदि हस्तान्तरित व्यय के रूप में होता है। हस्तान्तरित भुगतान को प्राप्त करनेवाले लोगों की सीमान्त उपभोग प्रवति (MPC) अपेक्षाकृत अधिक होती है। इसलिए इन लोगों का उपभोग व्यय काफी कम हो जाता है। इसी प्रकार सरकारी निवेश में कमी गुणक द्वारा आय को कम कर देता है। आय में कमी से आयात कम हो जाते हैं।

इसलिए हम कह सकते हैं कि राजकोषीय नीति व्यय घटाने की नीति का एक प्रभावी साधन है। व्यय घटाने में मौद्रिक नीति का प्रभावीपन संदेह वाला हो सकता है परन्तु राजकोषीय नीति के प्रभावीपन पर निश्चितरूप से कोई संशय नहीं हो सकता। राजकोषीय नीति को सरकार कितना लागू कर पाती है, जैसे कर दरों में परिवर्तन आदि, यह इस नीति की सीमा (Limitation) बन जाती है।

इस प्रकार उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि एक कसी हुई (tight) मौद्रिक नीति का संकुचनात्मक राजकोषीय नीति अर्थव्यवस्था में मुद्रा विस्फीति उत्पन्न करेगी। वस्तु तथा सेवाओं की कीमतों में कमी हो जाएगी। इसका आयातों पर नकारात्मक प्रभाव होगा तथा निर्यातों पर सकारात्मक प्रभाव होगा। इससे स्वतः भुगतान सञ्चुलन सञ्चुलित हो जाएगा।

व्यय स्विचिंग नीति

Expenditure Switching Policy

व्यय स्विचिंग नीति वह नीति होती है जिसके माध्यम से आयातों पर किए गए व्यय प्रवाह को अन्तर्राष्ट्रीय सापेक्षिक कीमतों में परिवर्तन करके परिवर्तित कर दिया जाता है। ऐसा घरेलू मुद्रा का अवमूल्यन या मूल्य बढ़ाकर (Overvaluation) किया जाता है। विदेशी विनियम या आयातों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण (direct control) भी स्विचिंग उपायों में सम्मिलित होता है।

घरेलू मुद्रा के अवमूल्यन का अर्थ है कि घरेलू वस्तुओं की कीमतें विदेशी मुद्राओं की तुलना में गिर या कम हो जाती है। घरेलू मुद्रा के मूल्य में व द्विसे (Overvaluation) इसके विपरीत प्रभाव छोड़ती है। Devaluation तथा Depreciation जो एक-दूसरे के स्थान पर प्रयोग किए जाते रहते हैं वस्तुतः इनमें अन्तर होता है: Devaluation से अभिप्राय है कि घरेलू मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में कम करना जबकि Depreciation से अभिप्राय घरेलू मुद्रा के मूल्य को किसी विदेशी करेन्सी में कम करना। इसके ठीक विपरीत appreciation तथा revaluation का अर्थ होती है।

यदि कोई अकेला देश अपनी घरेलू करेन्सी का अवमूल्यन करता है तो इसका तुरंत प्रभाव यह होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतें परिवर्तित हो जाती हैं। इससे उस देश की आयातों की कीमतें बढ़ेंगी तथा उसके निर्यातों की कीमतें गिरेंगी। यह कीमतों में परिवर्तन अवमूल्य के अनुपात में होगा। यदि devaluation 10 प्रतिशत से हुआ है तो आयातों की कीमतें 10 प्रतिशत से बढ़ेंगी तथा निर्यातों की कीमतें 10% से घटेंगी। इससे आयातों तथा निर्यातों की मात्रा कितनी घटती तथा बढ़ती हैं यह आयातों तथा निर्यातों की मांग की मूल्य सापेक्षता पर निर्भर करती हैं। इसके अनुसार ही अवमूल्यन करनेवाले देश के भुगतान-सन्तुलन पर प्रभाव पड़ेगा। आजकल इस तथ्य की व्याख्या अवशोषण विधि (absorption approach) के अन्तर्गत की जाती है।

अतः स्पष्ट है कि अवमूल्यन का प्रभाव इस बात पर निर्भर करता है कि वह देश किस प्रकार की वस्तुओं का आयात तथा निर्यात करता है। यदि अनिवार्य वस्तुओं का आयात करता है तो इनकी माँग की मूल्य सापेक्षता काफी कम होगी तथा अवमूल्यन से आयातों में बहुत कम गिरावट आएगी। भुगतान सन्तुलन में सुधार कम होगा। इसके विपरीत यदि आयातित वस्तुएं विलास की वस्तुएं हैं तो इसका प्रभाव भुगतान सन्तुलन पर अच्छा पड़ेगा। इसी प्रकार की व्याख्या निर्यात की जानेवाली वस्तुओं पर लागू होती है।

अध्याय-19

आन्तरिक तथा बाह्य संतुलन प्राप्त करने सम्बन्धी नीतियाँ

(Policies for Achieving Internal and External Equilibrium)

भुगतान शेष सन्तुलन तथा असन्तुलन के अर्थों का अध्ययन किया जा चुका है। हम यह भी अध्ययन कर चुके हैं कि किसी देश की आयातों, निर्यातों तथा उस देश की राष्ट्रीय आय तथा कीमतों में क्या सम्बन्ध होता है। परन्तु इन सबके अतिरिक्त बहुत से देश एक अन्य समस्या से ग्रस्त पाए गए हैं। यह समस्या है कि बाह्य सन्तुलन (External equilibrium or balance) के साथ-साथ एक देश पूर्ण रोजगार या आन्तरिक सन्तुलन कैसे बनाए रखे।

वालरा के सिद्धान्त अनुसार यदि सभी कीमतें, जिसमें साधन कीमतें भी सम्मिलित हैं, तथा विनिमय दरें लोचशील हों तो सभी बाजारों में स्वतः सन्तुलन होगा। इस प्रकार सामान्य सन्तुलन की अवस्था में बाह्य सन्तुलन के साथ-साथ पूर्ण रोजगार तथा आन्तरिक सन्तुलन भी प्राप्त होंगे। ऐसी स्थिति को बेहतर समझा जाता है क्योंकि इसके लिए कोई अन्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नीति अपनाना आवश्यक होगा। परन्तु केन्जीयन व्यवस्था में उदाहरणतः पूर्ण रोजगार का अर्थ यह नहीं है कि बाह्य सन्तुलन स्वतः प्राप्त होगा। इस अवस्था में आन्तरिक सन्तुलन के साथ-साथ बाह्य सन्तुलन प्राप्त नहीं होगा। यहां पर दोनों उद्देश्य प्राप्त करने के लिए विशेष नीतियों को अपनाना आवश्यक हो जाता है। पूर्ण रोजगार या आन्तरिक सन्तुलन प्राप्त करने के लिए राजकोषीय नीति तथा बाह्य सन्तुलन प्राप्त करने के लिए उपयुक्त व्यापारिक नीति (Commercial Policy) जैसे विनिमय दरों में परिवर्तन को अपनाना अनिवार्य बन जाता है।

लोचशील आय तथा कीमतों की नीतियों के साथ

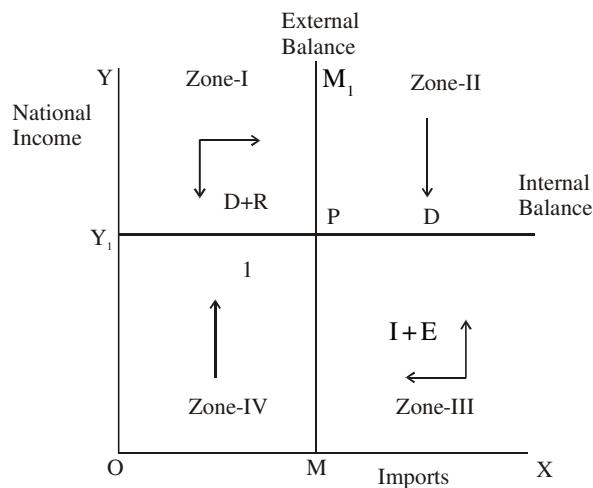
आन्तरिक तथा बाह्य सन्तुलन

(External and Internal Equilibrium with Flexible Income and Prices)

पूर्ण-रोजगार के साथ भुगतान सन्तुलन प्राप्त करना या आन्तरिक सन्तुलन के साथ बाह्य सन्तुलन प्राप्त करना आज भी बहुत देशों की विकट समस्या बनी हुई है। लोचशील आय तथा कीमतों की नीतियों का पालन करते हुए इस समस्या का विश्लेषण किया जा सकता है। हम जानते हैं कि आयात राष्ट्रीय आय तथा सापेक्षिक कीमतों का फलन होते हैं। किसी देश की राष्ट्रीय आय को राजकोषीय तथा मौद्रिक नीतियों में परिवर्तन करके बदला या प्रभावित किया जा सकता है। यदि विस्तारवादी

राजकोषीय तथा मौद्रिक-नीतियां अपनाई जाती हैं तो आय के स्तर में व द्विः होगी। इसके विपरीत यदि ये नीतियां संकुचनात्मक अपनाई जाती हैं तो राष्ट्रीय आय के स्तर में कमी होगी। ऐसा करते समय विनियम दर को स्थिर रहने की कल्पना की गई है। कभी-कभी भुगतान-सन्तुलन को सन्तुलित करने के लिए अवमूलन (devaluations) तथा अतिमूल्यन (over-valuation) किया जा सकता है। पूँजी के आवागमन (capital movements) को स्थिर रखते हुए आन्तरिक तथा बाह्य सन्तुलन को साथ-साथ निम्न चित्र की सहायता से दर्शाया जा सकता है।

निम्न चित्र में x -अक्ष पर आयात तथा y -अक्ष पर राष्ट्रीय आय दर्शाई गई है। y_1 आय के निश्चित स्तर पर मान लें कि पूर्ण रोजगार स्तर प्राप्त होता है जिसको आन्तरिक सन्तुलन कहा गया है। क्षेत्र रेखा MM' पर राष्ट्रीय आयात (M_0) व निर्यात बराबर होते माने गए हैं जो बाह्य सन्तुलन (external equilibrium) को दर्शा रही है। क्षेत्र रेखा MM' उन आयातों को दर्शाती है जो अल्पकाल में बाह्य सन्तुलन को दर्शाती है।



Policy Problems of Fixed Exchange Rate Countries

चित्र में P बिन्दु पर आन्तरिक तथा बाह्य सन्तुलन के दोनों उद्देश्य अर्थव्यवस्था में साथ-साथ प्राप्त हो रहे हैं। P बिन्दु पर दोनों रेखाएं परस्पर काट रही हैं। इन दोनों उद्देश्यों से सम्बन्धित दो प्रकार की नीतियां प्रयोग की जाती हैं। इनमें से एक राजकोषीय नीति तथा मौद्रिक नीति व दूसरी विनियम दर में परिवर्तन की नीति है।

चित्र में दर्शाया गया है कि अर्थव्यवस्था चार प्रकार की समस्याओं का सामना कर सकती है जिनको Zone-I, Zone-II, Zone-III व Zone-IV में दर्शाया गया है। इनके लिए अलग-अलग नीतियों का प्रयोग किया जा सकता है, जिससे दोनों उद्देश्य साथ-साथ सन्तुष्ट हो सकते हैं। चित्र में D =Deflation, I = Inflation, E = Devluation तथा R = Revaluation को दर्शा रहे हैं। यदि अर्थव्यवस्था Zone-II के किसी बिन्दु पर स्थित है तो अत्यधिक रोजगार (Over full employment) तथा भुगतान सन्तुलन में घाटे (deficit) की समस्या का सामना कर रही होती है। इन हालातों में मुद्रा विस्फीति (Deflationary Policy) की नीति अपनानी होगी। अर्थात् संकुचनात्मक मौद्रिक तथा संकुचनात्मक राजकोषीय नीति अकेली आन्तरिक तथा बाह्य सन्तुलन दोनों समस्याओं का हल कर सकेगी। ऐसी नीति मौद्रिक आय को कम करेगी तथा मुद्राविस्फीति को रोकेगी। ज्यो आय गिरती है तो आयात भी गिर जाते हैं। कीमतें गिरने से निर्यात बढ़ेगे तथा बाह्य सन्तुलन में सुधार आता है या बाह्य सन्तुलन प्राप्त होने लगता है। Zone-II में तीर का निशान नीचे की ओर इशारा करता है कि मुद्राविस्फीति

अर्थव्यवस्था के लिए सही नीति है। Zone-IV में बेरोजगारी तथा भुगतान सन्तुलन में बचत (Surplus in the Balance of Payments) की समस्या है। इस स्थिति में मुद्रास्फीति उत्पन्न करना ही सही नीति होगी। विस्तारवादी मौद्रिक व विस्तारवादी राजकोषीय नीतियाँ राष्ट्रीय आय में व द्विं करेंगी जिससे आयात बढ़ेंगे (आयात बढ़ने से कोई हानि नहीं क्योंकि यहाँ भुगतान सन्तुलन बचत वाला है)। इस प्रकार अकेली मुद्रास्फीति दोनों उद्देश्यों को साथ-साथ प्राप्त करने में मदद करेगा। ऊपर की ओर इशारा करता हुआ Zone-IV में तीर दर्शाता है कि मुद्रास्फीति ही एकमात्र सही नीति होगी।

Zone-I में मुद्रास्फीति तथा भुगतान सन्तुलन में बचत की स्थिति को दर्शाया गया है। मुद्रास्फीति तथा अत्यधिक रोजगार को खत्म करने के लिए मुद्राविस्फीति की नीति की आवश्यकता होगी, जो भुगतान सन्तुलन में स्वतः बचत (Surplus) उत्पन्न कर डालेगी। बाह्य सन्तुलन के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए विनिमय दर में व द्विं (revaluation) अति आवश्यक है। इससे आयात बढ़ेंगे तथा निर्यात कम हो जाएंगे जिससे भुगतान शेष में सन्तुलन प्राप्त हो सकेगा।

परन्तु इनमें से सबसे विकट समस्या Zone-III में उत्पन्न होती है। इसमें देश एक ओर तो बेरोजगारी तथा दूसरी ओर भुगतान सन्तुलन में घाटे का साथ-साथ सामना कर रहा होता है। पूर्ण रोजगार प्राप्त करने के लिए मुद्रास्फीति की नीति चाहिए परन्तु इससे भुगतान शेष का घाटा और अधिक खराब हो जाएगा। बाह्य सन्तुलन प्राप्त करने के लिए अवमूल्यन (E) (devaluation) की आवश्यकता होगी क्योंकि इससे निर्यात बढ़ते हैं तथा आयात कम हो जाते हैं।

Zone-III में व्यय व द्विं (Expenditure increasing policy) (पूर्ण रोजगार प्राप्त करने के लिए) तथा व्यय विवर्तन (Expenditure switching policy) की नीति अपनानी होगी ताकि बाह्य सन्तुलन प्राप्त किया जा सके। परन्तु हो सकता है कि व्यय विवर्तन की नीति ज्यादा सफल न हो क्योंकि यहाँ यह व्यय व द्विं नीति के साथ संयुक्त रूप से लागू की जा रही है। तब यह कैसे कार्य करेगी। यदि बेरोजगारी काफी गहरी है तथा बार-बार किया गया अवमूल्यन अकेला आन्तरिक सन्तुलन नहीं ला सकता जब तक इसके साथ मुद्रास्फीति की नीति लागू न की जाए। इनको किस स्थान पर लागू करना है यह बात अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है।

इस प्रकार किसी अर्थव्यवस्था में आन्तरिक तथा बाह्य सन्तुलन साथ-साथ प्राप्त करने के लिए राजकोषीय, मौद्रिक तथा विनिमय दर नीतियों का सोच-विचार करके प्रयोग किया जा सकता है।

अध्याय-20

भुगतान संतुलन सिद्धान्त की तल्लीनता तथा मौद्रिक पद्धतियाँ

(Absorption and Monetary Approaches to the Theory of Balance of Payments)

भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त की तल्लीनता तथा मौद्रिक पद्धतियाँ महत्वपूर्ण पद्धतियाँ समझी जाती हैं। इन पद्धतियों की कुछ आलोचनाएं होते हुए भी ये भुगतान सन्तुलन का अभिन्न अंग बन गई हैं। इनका अध्ययन निम्न प्रकार किया गया है:

तल्लीनता पद्धति (Absorption Approach)

पीछे के अध्यायों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि अवमूल्यन करके एक देश अपने भुगतान शेष के घाटे को लोचशीलता पद्धति के माध्यम से कैसे दूर कर सकता है। इस विश्लेषण में अवमूल्यन भुगतान शेष पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालता है क्योंकि इसका सीधा प्रभाव निर्यात तथा आयातों पर पड़ता है।

$$B = X - M$$

अर्थात् व्यापार शेष (B) निर्यात (X) तथा आयात (M) के मूल्यों के अन्तर पर निर्भर करता है। परन्तु यह विश्लेषण अंशिक सन्तुलन प्रणाली (Microeconomic Analysis) पर आधारित होने के कारण अनेक सीमाओं (Limitations) पर निर्भर करता है।

सिडनी एलेकजेंडर (Sydney Alexander) नामक अर्थशास्त्री ने 1952 में एक वैकल्पिक पद्धति (Alternative Approach) का आविष्कार किया जिस तल्लीनता पद्धति (Absorption Approach) के नाम से जाना गया। तल्लीनता पद्धति लोचशीलता पद्धति (जो व्यष्टि अर्थशास्त्र पर आधारित थी) के विपरीत सामूहिक या समष्टि अर्थशास्त्र पर आधारित है। तल्लीनता पद्धति के अनुसार किसी देश का व्यापार सन्तुलन उस देश की राष्ट्रीय आय (Y) तथा उस देश के कुल व्यय (E) या तल्लीनता के अन्तर पर निर्भर करता है।

$$B = Y - E \quad \dots(1)$$

कुल व्यय (E) या कुल माँग को तल्लीनता (A) का पद देने पर समीकरण (1) को निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

$$B = Y - A \quad \dots(2)$$

क्योंकि कुल व्यय या तल्लीनता (A) विभिन्न उद्देश्य के लिए वस्तुओं की माँग, जैसे कि कुल उपभोग के लिए माँग, कुल निवेश के लिए माँग तथा सरकार द्वारा खरीदी जाने वस्तुओं की माँग, को व्यक्त करती है, इसलिए तीन क्षेत्रीय मॉडल में तल्लीनता को निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है:

$$A = C + I + G \quad \dots(3)$$

अवमूल्यन व्यापार शेष को या तो राष्ट्रीय आय (Y) को प्रभावित करके करता है या तल्लीनता को प्रभावित करके करता है। इसलिए व्यापार शेष में परिवर्तन को निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है।

$$dB = dY - dA \quad \dots(4)$$

कुल तल्लीनता को दो अलग-अलग भागों में बांटा जा सकता है। (1) वास्तविक आय (Y) में परिवर्तन के कारण कुल तल्लीनता (उपभोग माँग) में परिवर्तन होता है जो कुल आय में परिवर्तन (dY) गुणा तल्लीनता की प्रव त्ति (c) के समान (cdY) होता है। (2) दूसरे अवमूल्यन तल्लीनता (माँग) को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है जो उस समय की वास्तविक आय पर निर्भर करता है। तल्लीनता के इस प्रत्यक्ष प्रभाव को D द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। अतः

$$dA = cdY + dD \quad \dots(5)$$

समीकरण (4) में dA के लिए समीकरण (5) को प्रतिस्थापित करने पर

$$dB = (1 - c) dY - dD \quad \dots(6)$$

अवमूल्यन के परिणाम को निर्धारित करने के लिए समीकरण (6) तीन महत्वपूर्ण तत्त्वों को व्यक्त करती हैं। इस समीकरण के अनुसार अवमूल्यन पर व्यापार शेष पर प्रभाव (i) अवमूल्यन का वास्तविक आय पर प्रभाव (dY) (ii) तल्लीनता की प्रव त्ति (c) तथा (iii) तल्लीनता पर प्रत्यक्ष प्रभाव (dD)

वस्तुतः तल्लीनता प्रभाव बेरोजगार पड़े साधनों की मात्रा पर निर्भर करता है। यदि इनकी मात्रा अधिक है तो अवमूल्यन के परिणामस्वरूप निर्यातों का उत्पादन बढ़ाया जा सकेगा जो गुणक के द्वारा राष्ट्रीय आय (Y) में व द्विकरण इसके साथ ही यह प्रभाव इस बात पर भी निर्भर करता है कि निर्यात वस्तुओं की कीमत अवमूल्यन करनेवाले देश में किस हद तक बढ़ती है तथा विदेशी किस हद तक अवमूल्यन करनेवाले देश के निर्यातों को खरीदने या तल्लीन (absorb) करने के लिए तैयार है।

वास्तविक राष्ट्रीय आय में व द्विकरण का व्यापार शेष पर प्रभाव वास्तविक आय या उत्पादन में कुल व द्विकरण के रूप में नहीं होता, बल्कि यह वास्तविक आय तथा कुल तल्लीनता में प्रेरित व द्विकरण के मध्य अन्तर के रूप में होता है। वास्तविक उत्पादन में व द्विकरण तथा कुल व्यय या तल्लीनता के मध्य यह अन्तर वास्तविक संग्रह (real hoarding) या बचत (Saving) कहा जा सकता है। इसलिए अवमूल्यन का व्यापार शेष पर प्रभाव वास्तविक संग्रह की राशि, जो संग्रह की प्रव त्ति ($1 - C$) से निर्धारित होता है, पर निर्भर करता है। जब तक तल्लीनता की प्रव त्ति (C) धनात्मक तथा इकाई से कम है तब तक संग्रह की प्रव त्ति भी धनात्मक तथा इकाई से कम होगी। अतः कुछ संग्रह अवश्य किया जाएगा जिससे शब्द निर्यात सम्भव हो जाते तथा इसका व्यापार शेष पर धनात्मक प्रभाव पड़ता है।

किसी देश में यदि तल्लीनता की प्रव त्ति इकाई से अधिक है तब किया गया अवमूल्यन उस देश के

व्यापार शेष पर नकारात्मक प्रभाव डालेगा तल्लीनता में प्रेरित व द्विवास्तविक राष्ट्रीय आय में हुई प्रारम्भिक व द्विवास्तविक होंगी। इस तथ्य की अवहेलना नहीं की जा सकती है। इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि अपूर्ण रोजगार की अवस्था में अवमूल्यन राष्ट्रीय आय पर धनात्मक प्रभाव डालता है। यदि किसी देश में तल्लीनता की प्रवत्ति इकाई से कम है तो अवमूल्यन करना ऐसे देश की अच्छी नीति मानी जाएगी क्योंकि यह राष्ट्रीय आय तथा व्यापार दोनों पर धनात्मक प्रभाव डालता है। मुद्रा-स्फीति की अवस्था में रोजगार प्राप्त श्रमिकों की सीमान्त उपभोग प्रवत्ति ऊँची होती है। इतना ही नहीं आय में व द्विवास्तविक होती है। ये सभी तत्त्व मिलकर तल्लीनता की प्रवत्ति को इकाई से अधिक बना देते हैं। इसके परिणामस्वरूप अवमूल्यन राष्ट्र के व्यापार शेष पर नकारात्मक प्रभाव डालेगा।

लेकिन पूर्ण रोजगार की स्थिति में अवमूल्यन के परिणामस्वरूप उत्पादक कारकों के अधिक कुशल आबंटन की सम्भावना बनी रहती है जिसके परिणामस्वरूप विद्यमान कारकों से अधिक उत्पादन प्राप्त करना सम्भव होता है। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप कारकों के अधिक कुशल आबंटन की सम्भावना ऐसे अर्द्धविकसित राष्ट्रों में अधिक बनी रहती है जिनमें मुद्रा का अधिमूल्यन बने रहने के कारण विभिन्न प्रकार के विनियम व आयात नियंत्रण लगे हुए होते हैं एवं अन्ततः अवमूल्यन करने पर इन नियंत्रणों को समाप्त करने के साथ साधनों का अधिक कुशल उपयोग सम्भव होता है, लेकिन औद्योगिक राष्ट्रों में ऐसा नहीं होता है।

इस प्रकार पूर्ण रोजगार की स्थिति में अवमूल्यन के परिणामस्वरूप भुगतान सन्तुलन में सुधार इस पर निर्भर करेगा कि अर्थव्यवस्था में अवशोषण घटाने की क्षमता है अथवा नहीं। पूर्ण रोजगार में अवशोषण में कटौती ही अवमूल्यन में लाभान्वित होने हेतु निर्यात व आयात प्रतिस्थापन वस्तुओं के उत्पादन के लिए अन्यत्र कार्यरत साधन उपलब्ध कराएगी। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप अवशोषण में कुछ कटौती की आशा तो की जा सकती है। अवमूल्यन के अवशोषण पर पड़नेवाले प्रभावों को हम निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित करके स्पष्ट कर सकते हैं।

(a) वास्तविक जमा (b) मुद्रा भ्रमजाल (c) ब्याज दर का प्रभाव, तथा (d) आय पुनर्वितरण प्रभाव

- (a) **वास्तविक जमा प्रभाव (Real balances effect):** वास्तविक जमा प्रभाव के अनुसार मुद्रा की कुल पूर्ति स्थिर रहने की स्थिति में अवमूल्यन से जब कीमत स्तर में व द्विवास्तविक होती है तो व्ययकर्ता अपनी नगदी जमाओं का वास्तविक मूल्य बनाए रखने हेतु बचत में व द्विवास्तविक करते हैं, अतः उनका व्यय घट जाता है। यद्यपि एक व्यक्ति विशेष के लिए तो कीमत व द्विवास्तविक के साथ अपनी परिसम्पत्तियों का विक्रय करके अपने नकदी कोषों को बढ़ाकर भी कुल व्यय अपरिवर्तित बनाए रखना सम्भव है, लेकिन जब तक मुद्रा की कुल पूर्ति स्थिर बनी रहती है तब तक सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के दस्तिकोण से ऐसा करना सम्भव नहीं है।
- (b) **मुद्रा भ्रमजाल (Money Illusion):** यह वास्तविक कोष प्रभाव का विपरीत है, भिन्न व्ययकर्ता इकाइयाँ मौद्रिक आय की व द्विवास्तविक को साथ कीमत स्तर की व द्विवास्तविक को मद्देनजर रखे बिना बचत में व द्विवास्तविक कर देती है।
- (c) **ब्याज दर का प्रभाव (Changes in interest rates):** मुद्रा की दी हुई पूर्ति की स्थिति में कीमतों व मौद्रिक आय में व द्विवास्तविक से ब्याज दरों में व द्विवास्तविक हो सकती है जिसके परिणामस्वरूप अवशोषण घटेगा।
- (d) **आय पुनर्वितरण प्रभाव:** लेकिन इस ओर ध्यान दिया जाना चाहिए कि अवशोषण में से केवल

उपभोग पर व्यय घटा है। यह सम्भव है कि निर्यात व आयात प्रतिस्थापन क्षेत्र के उत्पादक अपने बढ़े हुए लाभों का विनियोग कर दें तो पुनः अवशोषण बढ़ जाएगा क्योंकि विनियोग भी अवशोषण का एक तत्त्व है। अतः एलेकजेण्डर ने अवशोषण घटने के इस स्रोत को विशेष महत्त्व नहीं दिया था। इसी प्रकार एलेकजेण्डर ने वास्तविक कोष प्रभावी दर प्रभावों को भी अधिक महत्त्व नहीं दिया था। लेकिन मौद्रिक अर्थशास्त्री इन प्रभावों को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। अतः एलेकजेण्डर के विश्लेषण में मुद्रा भ्रमजाल, वास्तविक कोष प्रभाव व आय पुनर्वितरण प्रभावों को समान व सीमित महत्त्व बना दिया गया है। लेकिन इनमें आय पुनर्वितरण प्रभाव महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त एलेकजेण्डर ने साधनों के प्रभाव की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया जबकि प्रो० एफ० मैचलप व सोहमेन इसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अवशोषण विश्लेषण के द्वारा प्रथम तो हम भुगतान संतुलन को समग्र आय-व्यय के रूप में देखते हैं तथा समष्टि संदर्भ में इसे समझते व इससे सम्बन्धित नीति की स्थिति में है। द्वितीय भुगतान संतुलन को नियंत्रित करनेवाली नीतियों में कुल व्यय स्तर अथवा अवशोषण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चर है। इस प्रकार भुगतान संतुलन की नीति को हम समस्त माँग नियंत्रक विधियों-राजकोषीय, मौद्रिक तथा प्रत्यक्ष-से समष्टि स्तर पर जुड़ा पाते हैं। त तीय, व्यय की जाँच की प्रक्रिया में हम भुगतान संतुलन के समायोजन में मुद्रा की भूमिका को भी महत्त्वपूर्ण पाते हैं।

मौद्रिक पद्धति या उपागम (Monetary Approach)

अवमूल्यन का एक अन्य उपागम मौद्रिक कोषों पर ध्यान केन्द्रित होता है अतः इसे मौद्रिक उपागम कहते हैं।

मौद्रिक अर्थशास्त्रियों का विश्वास है कि व्यापार संतुलन का घाटा मुद्रा के अति निर्गमन का एवं व्यापार संतुलन का अतिरेक मुद्रा की कमी का परिणाम है।

इस उपागम के अनुसार वस्तुओं, सेवाओं एवं प्रतिभूतियों की आधिक्य माँग-जो कि भुगतान संतुलन में घाटा उत्पन्न करती है-मुद्रा की अति पूर्ति का घोतक है। अवमूल्यन मुद्रा की पूर्ति एवं अन्य वित्तीय परिसम्पत्तियों जिनको कि घरेलू मुद्रा में व्यक्त किया है-के मूल्य में कमी के समकक्ष है यदि हम इन्हें विदेशी मुद्रा में मापते हैं तो अवमूल्यन के परिणामस्वरूप पूर्ति की गई मुद्रा व वास्तविक मूल्य घट जाएगा क्योंकि प्रारम्भ में तो व्यापार में शामिल होनेवाली उन वस्तुओं और सेवाओं की स्थानीय कीमतें बढ़ेंगी जिनकी माँग में व द्वि हुई है तथा गौण रूप में व्यापार में शामिल न होने वाली उन वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें बढ़ेंगी जिनकी और माँग पलटी है अतः लोग अपनी मुद्रा तथा अन्य वित्तीय परिसम्पत्तियों की जमा का वास्तविक मूल्य बनाए रखने हेतु अपना व्यय घटाएंगे तथा व्यय की यह कमी भुगतान संतुलन में आवश्यक सुधार उत्पन्न करेंगी। इस प्रकार मौद्रिक उपागम अवमूल्यन को प्रमुखतया मौद्रिक प्रपञ्च (Monetary Phenomenon) मानता है। अवमूल्यन के प्रभाव इसके परिणामस्वरूप मुद्रा शेषों के वास्तविक मूल्य में परिवर्तन तथा इस परिवर्तन के व्यय पर पड़नेवाले प्रभावों से प्राप्त होते हैं।

अवमूल्यनकर्ता राष्ट्रों में कीमतें बढ़ती हैं तथा शेष विश्व में घटती हैं; प्रत्येक परिवर्तन (प्रतिशत के रूप में) मुद्रा के प्रतिशत अवमूल्यन से कम रहता है इसके परिणामस्वरूप अवमूल्यनकर्ता राष्ट्र में मुद्रा शेषों का वास्तविक मूल्य घट जाता है। तथा शेष विश्व में इनका मूल्य बढ़ता है और जब लोग अपने मौद्रिक शेषों एवं अन्य वित्तीय परिसम्पत्तियों का वास्तविक मूल्य पुनः स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं तो

व्यय में कमी होती है एवं इसके परिणामस्वरूप अवमूल्यनकर्ता राष्ट्र के भुगतान संतुलन में अतिरेक उत्पन्न होता है जबकि शेष विश्व में व्यय में व द्विः होती है एवं भुगतान संतुलन में घाटा उत्पन्न होता है। प्रारम्भ में भुगतान संतुलन में घाटे वाले राष्ट्र के लिए उचित अवमूल्यन मुद्रा के वार्तविक मूल्य में ठीक उचित कमी उत्पन्न करेगा एवं भुगतान संतुलन में घाटा समाप्त हो जाएगा। आरक्षित निधियों की हानि की पूर्ति करने हेतु राष्ट्र को उचित से कुछ अधिक अवमूल्यन करना होगा। लेकिन लोगों द्वारा एक बार वांछित वित्तीय संग्रह पुनः प्राप्त कर लेने के बाद, व्यय में पुनः व द्विः होगी एवं नया अतिरेक समाप्त हो जाएगा। इस द स्टिकोण से साम्य बिन्दु से अधिक अवमूल्यन का केवल एक बार अस्थायी प्रभाव होता है।

इस उपागम का प्रमुख आशय (Implication) यह है कि मुद्रा के उत्पन्न माँग पूरी करने हेतु अवमूल्यन के तुरन्त बाद यदि मौद्रिक अधिकारी घरेलू साख का विस्तार करते हैं तो अवमूल्यन का अन्तराष्ट्रीय भुगतानों पर प्रभाव कम हो जाएगा।

अध्याय-21

विदेशी व्यापार तथा राष्ट्रीय आय

(Foreign Trade and National Income)

केन्ज़ का सबसे बड़ा योगदान इस बात की व्याख्या करना था कि राष्ट्रीय आय का सन्तुलित स्तर कैसे उत्पन्न किया जा सकता है। केन्ज़ का यह विश्लेषण एक बन्द अर्थव्यवस्था (Closed Economy) तक सीमित था। केन्ज़ के अनुसार राष्ट्रीय आय में सन्तुलन उस समय स्थापित होता है जब नियोजित बचत तथा निवेश एक दूसरे के समान ($S=I$) होते हैं। सन्तुलन की अवस्था में जब निवेश में व द्विकरण दी जाती है तो सरल गुणज (Simple Multiplier) के माध्यम से आय में व द्विकरण होती है। आय में हुई व द्विकरण की यह प्रक्रिया जब तक बनी रहती है जब तक बचत बढ़कर दोबारा निवेश के बराबर नहीं हो जाती। परन्तु आधुनिक अर्थव्यवस्थाएँ खुली अर्थव्यवस्थाएँ (Open Economy) हैं। इसमें वस्तुओं का आयात (Import) तथा निर्यात (Export) किया जाता है। आयात तथा निर्यात भी राष्ट्रीय आय को प्रभावित करते हैं। इतना ही नहीं विदेशी व्यापार गुणक, का मूल्य भी सरल गुणक के मूल्य से भिन्न होता है। इसमें केन्ज़ के आय सिद्धान्त का विस्तार इस प्रकार किया गया ताकि एक खुली अर्थव्यवस्था में सन्तुलित आय तथा विदेशी व्यापार गुणक की व्याख्या की जा सके।

बन्द अर्थव्यवस्था की तरह खुली अर्थव्यवस्था में यह प्रमुख पूर्व कल्पना की गई कि कीमतों में परिवर्तन नहीं होता। दूसरी पूर्व कल्पना यह है कि विनिमय दर (Exchange Rate) भी परिवर्तित नहीं होता है। तीसरी पूर्व कल्पना की गई है किसी प्रकार का कर (Taxes) तथा सरकारी व्यय (Government Expenditure) नहीं होता है।

आयात फलन (Import Function)

उपभोक्ता अपनी आय को उपभोग वस्तुओं पर खर्च कर सकते हैं या बचत कर सकते हैं। केन्ज़ के अनुसार कुल उपभोग तथा कुल बचत राष्ट्रीय आय के बढ़ते फलन है अर्थात् राष्ट्रीय आय (Y) में व द्विकरण से कुल उपभोग (C) तथा कुल बचत (S) दोनों बढ़ते हैं। हम जानते हैं कि $Y=C+S$ होता है और आय में परिवर्तन (ΔY) से उपभोग (C) तथा बचत (S) दोनों में परिवर्तन होता है। इसलिए ($\Delta Y = \Delta C + \Delta S$ होगा)। अतः इस समीकरण को दोनों ओर से ΔY से भाग देने पर

$$\Delta Y = \Delta C + \Delta S$$

$$\frac{\Delta Y}{\Delta Y} = \frac{\Delta C}{\Delta Y} + \frac{\Delta S}{\Delta Y}$$

$$1 = b + s \quad [b = MPC, s = MPS]$$

इससे स्पष्ट होता है कि $b < 1$ तथा $s < 1$ है।

एक खुली अर्थव्यवस्था में उपभोक्ताओं की कुल आय का एक भाग वस्तुओं के आयात पर भी खर्च

किया जाता है। आयात माँग (Import Demand) राष्ट्रीय आय (Y) पर निर्भर होने के कारण इसको आय के बढ़ते फलन के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। आयात फलन (Import Function) को निम्न प्रकार से व्यक्त किया जाता है।

$$M = M_0 + mY \quad \dots(1)$$

$$m = \frac{M}{Y} \quad 0 < M < 1$$

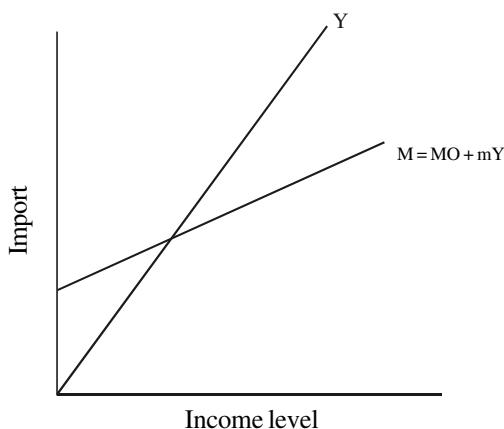
Where M_0 = आयात का वह भाग जो आय पर निर्भर करता है।

mY = आय प्रेरित आयात

समीकरण (1) से स्पष्ट है कि ज्यों ही आय बढ़ती है, आयात भी बढ़ते हैं। आय तथा आयात के इस सम्बन्ध को आयात फलन (Import Function) कहा जाता है।

$$M = f(Y)$$

इसको निम्न चित्र की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।



चित्र से स्पष्ट है कि आय के शून्य स्तर पर M_0 के समान आयात किए जाते हैं। ऐसा एक देश अपनी पूँजी स्टॉक को निर्यात के बदले या विदेशी से उधार लेकर कर सकता है। ज्यों-2 आय शून्य से बढ़ती है तो आयात भी बढ़ते जाते हैं। आय के बढ़ने से आयात कितने बढ़ते हैं? यह किसी देश की सीमान्त आयात प्रवृत्ति (MPI) जिसको आयात फलन के ढाल $\Delta M / \Delta Y$ द्वारा दर्शाया गया है, के समान होती है। सरल रेखीय आयात फलन (Linear Import Function) से निम्न दो आयात प्रवृत्तियां स्पष्ट होती हैं:

(i) **सीमान्त आयात प्रवृत्ति (MPI):** सीमान्त आयात प्रवृत्ति राष्ट्रीय आय में परिवर्तन के परिणामस्वरूप आयात में जो परिवर्तन होता है, उसका माप सरल रेखीय आयात फलन पर यह हमेशा स्थिर रहती है, जैसा कि चित्र में दर्शाया गया है। अर्थात्

$$MPI = \frac{\Delta M}{\Delta Y}$$

(ii) **औसत आयात प्रवृत्ति (API):** API आयात तथा राष्ट्रीय आय के अनुपात का माप है। चित्र में दर्शाए गए आयात फलन पर औसत आय प्रवृत्ति आय में व द्विके साथ कम होती जाती है।

$$API = \frac{M}{Y}$$

विभिन्न देशों की API में काफी अन्तर पाया जाता है। वे देश जिनके पास अधिक साधन हैं या जो देश आयात पर प्रतिबन्ध लगाते हैं, उन देशों की आयात प्रव ति कम होती है जैसे U.S.A. तथा भारत जैसे देशों की API काफी कम है।

API तथा MPI की सहायता से आयात मॉग की आय सापेक्षता (Income elasticity) ज्ञात की जा सकती है। यदि MPI को API से भाग कर दिया जाए तो वह आयात मॉग की आय सापेक्षता प्राप्त हो जाती है।

$$e_m = \text{Income elasticity of demand for Import}$$

$$\begin{aligned} e &= \frac{\Delta M / \Delta Y}{M / Y} \\ &= \frac{\Delta M \cdot Y}{\Delta Y M} = \frac{\Delta M / M}{\Delta Y / Y} \\ \text{or } e &= \frac{\Delta M / \Delta Y}{M / Y} = \frac{MP_1}{AP_1} \end{aligned}$$

यदि आय में 10% की व द्विः होने के कारण आयात 5% बढ़ते हैं तो आयात मॉग की आय सापेक्षता .5 के बराबर होगी। यदि किसी देश की $MPI=API$ तो आयात मॉग की आय सापेक्षता इकाई के समान होगी। इससे स्पष्ट होता है ज्यों एक देश की आय बढ़ती है तो उस देश के आयात भी उसी अनुपात में बढ़ते हैं अर्थात् राष्ट्रीय उत्पादन में विदेशी व्यापार का भाग स्थिर रहता है।

यदि $API < MPI$ है तो राष्ट्रीय उत्पादन में विदेशी व्यापार का भाग बढ़ेगा तथा यह देश की विदेशी व्यापार पर बढ़ती निर्भरता का सूचक है। इसके विपरीत होने पर यह निर्भरता कम होती है परन्तु ऐसे निष्कर्ष निकालना अनुचित भी हो सकता है क्योंकि MPI और API दोनों समय-2 पर बदलती रहती है।

विदेशी व्यापार गुणक

एक बन्द अर्थव्यवस्था में गुणक का मूल्य एक खुली अर्थव्यवस्था के गुणक के मूल्य से भिन्न होता है। इसका क्या कारण है?

एक बन्द अर्थव्यवस्था में सन्तुलित आय का स्तर उस समय निर्धारित होता है जब राष्ट्रीय बचत (S) राष्ट्रीय निवेश (I) के बराबर ($S=I$) होता है। निवेश व्यय करने से राष्ट्रीय आय में व द्विः होती है परन्तु बचत करने से राष्ट्रीय आय में कमी होती है। निवेश व्यय का रूप होने के कारण आय प्रजनन में व द्विः करता है क्योंकि कुछ व्यक्तियों द्वारा किया गया व्यय अन्य व्यक्तियों की आय होती है परन्तु बचत आय का वह भाग है जो व्यय का रूप नहीं ले पाता और आय को नहीं बढ़ाता इसलिए बचत आय प्रजनन में स्राव (Lack) का कार्य करता है। ऐसी स्थिति में यदि आयात तथा निर्यात को भी शामिल कर लिया जाए तो आय प्रजनन पर क्या प्रभाव पड़ेगा? निर्यात विदेशी लोगों द्वारा घरेलू वस्तुओं पर किए गए व्यय को दर्शाता है इसलिए निर्यात से घरेलू देश की आय में व द्विः होती है। इसके विपरीत आयात घरेलू आय को विदेशी वस्तुओं पर व्यय करने को प्रकट करता है अर्थात् घरेलू आय का एक भाग घरेलू वस्तुओं पर खर्च न होकर विदेशी वस्तुओं के आयात पर खर्च कर दिया जाता है। आय का यह भाग घरेलू देश की आय में व द्विः नहीं करेगा तथा यह आय प्रजनन में स्राव का कार्य करता है। विदेशी व्यापार के कारण राष्ट्रीय आय में शुद्ध व द्विः निर्यात (X) तथा आयात (M) के अन्तर ($X-M$) के समान होगा। अतः एक खुली अर्थव्यवस्था में निवेश तथा निर्यात ($I+X$) आय में व द्विः करते हैं और बचत तथा आयात ($S+M$) आय के स्राव है। इसलिए खुली अर्थव्यवस्था में

सन्तुलित आय का स्तर वहाँ निर्धारित होगा जहाँ $I + X = S + M$ बराबर होगा। जैसे:

$$Y = a_o + by + I + X - M \quad \dots(2)$$

$$Y = a_o + by + I + X - (M_o + My)$$

$$Y = a_o + by + I + X - M_o - My$$

$$Y - by + my = a_o + I + X - M_o$$

$$Y (1 - b + m) = a_o + I + X - M_o$$

$$(a_o + I + X - M_o)$$

$$Y = \frac{1}{1 - b + m}$$

Foreign Trade multiplier	Autonomous Expenditure
--------------------------	------------------------

एक खुली अर्थव्यवस्था में समीकरण (2) के अनुसार जब कभी निवेश या निर्यात में व द्विकी जाती है तो विदेशी व्यापार गुणक ($1/(1-b+m)$) के द्वारा आय में व द्विकी होगी। विदेशी व्यापार गुणक को प्रायः K_f द्वारा प्रकट किया जाता है।

$$K_f = Y = \frac{1}{1 - b + m} \quad \dots (4)$$

विदेशी व्यापार गुणक को स्मार्वों के अनुसार $\{ (i-b) \text{ के स्थान पर सीमान्त बचत प्रवति } s \text{ को रखते हुए } \}$ व्यक्त किया जा सकता है।

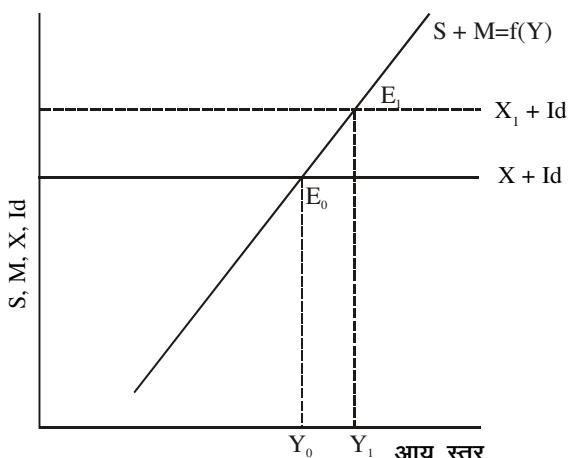
$$K_f = \frac{1}{s + m} \quad \dots (5)$$

अतः स्पष्ट है कि आव जितना कम होगा या सीमान्त बचत प्रवति (s) तथा सीमान्त आयात प्रवति (m) जितने कम होंगे विदेशी व्यापार गुणक का मूल्य उतना ही अधिक होगा। उदाहरणतया यदि $s = 0.3$ तथा $m = 0.2$ हो तो गुणक का मूल्य

$$K_f = \frac{1}{0.3 + 0.2} = \frac{1}{0.5} = 2$$

विदेशी व्यापार का रेखाक त्रिद्वारा प्रदर्शन

(Diagrammatical Representation of Foreign Trade Multiplier)



किसी भी देश के निर्यात (X) घरेलू देश की राष्ट्रीय आय पर निर्भर नहीं करते हैं अर्थात् राष्ट्रीय आय के विभिन्न स्तरों पर निर्यात की मात्रा स्थिर रहती है। इसी प्रकार घरेलू निवेश (Id) भी आय पर निर्भर नहीं करता। अतः निर्यात और घरेलू निवेश स्वतन्त्र व्यय (Autonomous Expenditure) हैं जो वाह्य तत्वों पर निर्भर करते हैं। इसके विपरीत बचत (Saving) तथा आयात (Import) दोनों

घरेलू आय में व द्विके साथ बढ़ते रहते हैं या आय का बढ़ता फलन है। इसी कारण ($S+M$) फलन निम्न चित्र में आय के बढ़ते फलन के रूप में प्रकट किए गए हैं तथा निर्यात और घरेलू निवेश ($X+Id$) फलन के रूप में XX^1 के समानान्तर दर्शाया गया है।

इस चित्र में ($S+M$) फलन ($X+Id$) फलन को E_0 बिन्दु पर काटता है तथा Y_0 आय का सन्तुलित स्तर निर्धारित होता है। इसके बाद किसी कारण निर्यात (X) में व द्विके (ΔX) हो जाती है तथा घरेलू निवेश (Id) स्थिर रहते हुए ($X+Id$) फलन उपर की ओर सरक कर (X_1+Id_1) हो जाता है जो ($S+M$) फलन के साथ बिन्दु E_1 पर सन्तुलित आय का Y_1 स्तर निर्धारित करता है। इस प्रकार आय में व द्विके (ΔY) निर्यात में हुई व द्विके (ΔX) की तुलना में कई गुणा अधिक है, इसका कारण विदेशी व्यापार गुणक (Foreign Trade Multiplier) है जो सीमान्त बचत प्रव ति (s) तथा सीमान्त आयात प्रव ति (m) के योगफल Inverse (व्युत्क्रम) $1/s+m$ के समान है।

विदेशी व्यापार गुणक किस प्रकार कार्य करता है

विदेशी व्यापार गुणक केन्ज के सरल गुणक के अनुसार व्यय पर निर्भर करता है। अब निर्यात में व द्विकी होती है तो विदेशी लोग घरेलू वस्तुओं पर व्यय बढ़ा देते हैं जिससे निर्यातकों की आय में व द्विकी होती है। निर्यातक अपनी बढ़ी हुई आय का कुछ भाग बचाकर रखेंगे तथा कुछ भाग आयात पर खर्च करेंगे तथा बढ़ी हुई बाकी आय को घरेलू उपभोग वस्तुओं पर व्यय करेंगे। आयात में हुई व द्विकी उन विदेशी लोगों की आय में व द्विकी करती है, जिन देशों से वस्तुएँ आयात की जाती हैं। परन्तु निर्यातों में व द्विकी से बढ़ी हुई घरेलू आय का जो भाग घरेलू वस्तुओं पर खर्च किया जाता है। वह घरेलू राष्ट्र की आय को बढ़ा देता है। जिसका कुछ भाग बचत तथा आयात के रूप में विभक्त हो जाता है। निर्यात व द्विकी के परिणामस्वरूप घरेलू वस्तुओं पर बढ़ा हुआ व्यय विभिन्न अगली समय अवधियों में तब तक आय में निरन्तर व द्विकी करता जाएगा जब तक विदेशी व्यापार गुणक अपना कार्य पूर्ण रूप में खत्म नहीं कर लेता है।

निर्यात में व द्विकी केवल निर्यात उद्योगों में ही आय तथा रोजगार में व द्विकी नहीं करती है बल्कि उन सभी उद्योगों में आय तथा रोजगार बढ़ता है जिन उद्योगों के पदार्थों की माँग निर्यात में व द्विकी के कारण बढ़ी हुई आय के परिणामस्वरूप बढ़ती है। निर्यात में व द्विकी का कारण विदेशी लोगों की घरेलू वस्तुओं की रुचि में व द्विकी होना हो सकता है, इस प्रकार निर्यात में व द्विकी से सारी अर्थव्यवस्था की आय तथा रोजगार में व द्विकी होती है।

विदेशी व्यापार गुणक की विपरीत क्रियाशीलता (The Reverse Working of Foreign Trade Multiplier)

निर्यात में व द्विकी तथा आयात में कमी के अन्तर्गत विदेशी व्यापार गुणक राष्ट्रीय आय में व द्विकी करता है अथवा आय पर सकारात्मक प्रभाव छोड़ता है। इसके विपरीत निर्यात में कमी तथा आयात में व द्विकी होने पर विदेशी व्यापार गुणक राष्ट्रीय आय में कमी करता है अथवा आय पर नकारात्मक प्रभाव छोड़ता है। विदेशी व्यापार गुणक की विपरीत क्रियाशीलता इस प्रकार होती है, जिस प्रकार एक सरल गुणक की विपरीत क्रियाशीलता कार्य करती है। इसको निम्न चित्र की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।

मान लीजिए आयात में व द्विकी हो जाती है जिससे राष्ट्रीय आय का पहले से अधिक भाग विदेशी वस्तुओं की आयात पर तथा कम भाग घरेलू वस्तुओं की खरीद पर व्यय किया जाता है, इससे बचत फलन बाई ओर सरक जाएगा जो राष्ट्रीय आय को विदेशी व्यापार गुणक द्वारा कम कर देता है।

S+M

I+X

चित्र दर्शा रहा है कि प्रारम्भिक राष्ट्रीय आय का सन्तुलन E_0 बिन्दु पर स्थापित होता है तथा Y_0 सन्तुलित आय निर्धारित होती है। अब यदि आयात में व द्वि होने के कारण आयात फलन M से सरक कर M₁ हो जाता है तो सन्तुलन E₀ से सरककर E₁ पर स्थापित हो जाता है तथा राष्ट्रीय आय Y₀ से विदेशी व्यापार गुणक द्वारा कम होकर Y₁ हो जाती है इसको ही विदेशी व्यापार गुणक की विपरीत क्रियाशीलता कहते हैं। यह क्रियाशीलता निर्यात X₀ से कम करके भी दर्शाई जा सकती है।

एक छोटी खुली अर्थव्यवस्था में राष्ट्रीय आय का निर्धारण

एक छोटी खुली अर्थव्यवस्था की राष्ट्रीय आय के निर्धारण में महत्वपूर्ण धारणा यह है कि घरेलू देश की आय में परिवर्तन विदेशी देश जिसके साथ व्यापार किया जा रहा है, की आय पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता है। घरेलू निवेश (Id) तथा निर्यात (X) दोनों आय स्वतन्त्र माने गए हैं। निर्यात विदेशी देश की आय के स्तर पर निर्भर करते हैं।

एक बन्द अर्थव्यवस्था में सन्तुलन प्राप्त करने के लिए आयोजित निवेश को आयोजित निवेश को आयोजित बचत के बराबर होना होता है। इसको प्रायः व्यक्त किया जाता है कि राष्ट्रीय आय में इन्जेक्शन जैसे स्वतन्त्र निवेश आदि, राष्ट्रीय आय से स्राव (Leakages), जैसे बचत आदि के समान अवश्य होने चाहिए। एक खुली अर्थव्यवस्था की सन्तुलित आय के लिए भी बिल्कुल नहीं शर्त लागू होती है, परन्तु इसमें दो इन्जेक्शन (घरेलू निवेश तथा निर्यात) तथा दो स्राव (बचत और आयात) होते हैं।

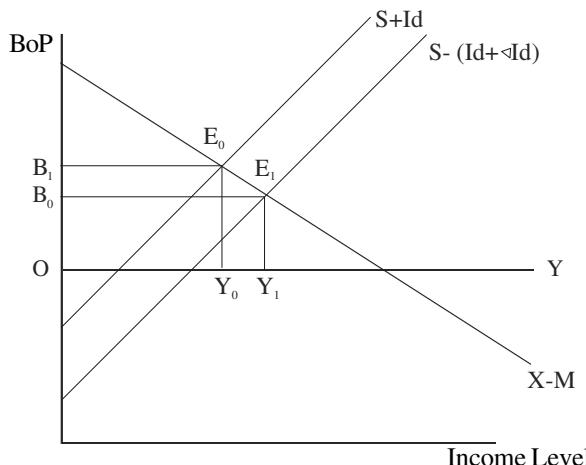
एक खुली अर्थव्यवस्था में सन्तुलन की शर्त को निम्न प्रकार से लिखा जा सकता है:

$$Id + X = X + M \quad \dots(6)$$

Y_1 समीकरण (6) को दोबारा लिखते हुए

$$X - M = S - Id \quad \dots(7)$$

समीकरण (7) बताता है कि सन्तुलन की अवस्था में बचत (S) तथा घरेलू निवेश (Id) का अन्तर व्यापार शेष (Balance of Trade), जिसको X - M द्वारा दर्शाया गया है, के समान होता है। अब हम सन्तुलित राष्ट्रीय आय तथा व्यापार शेष के बीच सम्बन्ध को निम्न रेखाचित्र की सहायता से दर्शाते हुए सन्तुलित आय का निर्धारण कर सकते हैं। इस चित्र में X - M वक्र का ढाल नकारात्मक होता है। (सीमान्त आयात प्रवत्ति) आय में व द्वि से X स्थिर रहता है परन्तु आयात (M) बढ़ते जाते हैं, जिसके परिणामस्वरूप X - M कम होता जाता है तथा यह वक्र नीचे की ओर झुकता जाता है।



इसके विपरीत $S - Id$ का ढाल आय (Y) में व द्विके साथ बढ़ता जाता है क्योंकि आय में व द्विके साथ Id स्थिर रहता है परन्तु बचत बढ़ती जाती है। अतः $S - Id$ का ढाल सीमान्त बचत प्रवृत्ति के समान है। दोनों वक्र E_0 बिन्दु पर परस्पर काटते हैं तथा Y_0 सञ्चुलित आय का निर्धारण करते हैं तथा B_f के समान व्यापार शेष स्थापित करते हैं। जो यहाँ सकारात्मक (Surplus balance of payment) है।

एक देश चालू खाते (Current A) पर जब सकारात्मक व्यापार शेष दर्शाता है तो वह विदेशी देश से अपनी लेनदारी (claims) बढ़ा रहा होता है तथा देनदारी (Indebtedness) कम कर रहा होता है अर्थात् वह विदेशी निवेश कर रहा होता है इसको निम्न प्रकार से लिख सकते हैं:

$$X - M = If \quad \dots(8)$$

समीकरण (8) में If शुद्ध विदेशी निवेश (Net investment) को प्रकट करता है। अब हम राष्ट्रीय आय में सन्तुलन की शर्त को दोबारा निम्न प्रकार से लिख सकते हैं।

$$S = I = Id + If \quad \dots(9)$$

समीकरण (9) व्यक्त करता है कि बचत (S) कुल निवेश (I), जो घरेलू निवेश (Id) तथा विदेशी निवेश (If) का जोड़ होता है, के समान होने चाहिए ताकि सन्तुलित राष्ट्रीय आय प्राप्त की जा सकें।

खुली छोटी अर्थव्यवस्था की राष्ट्रीय आय में परिवर्तन (Change in Income of an Open Small Economy)

खुली छोटी अर्थव्यवस्था की आय में परिवर्तन के लिए दो तत्त्व महत्वपूर्ण हैं।

1. घरेलू निवेश में परिवर्तन (dId) तथा निर्यात में परिवर्तन (dx)।
2. खुली छोटी अर्थव्यवस्था में गुणक।

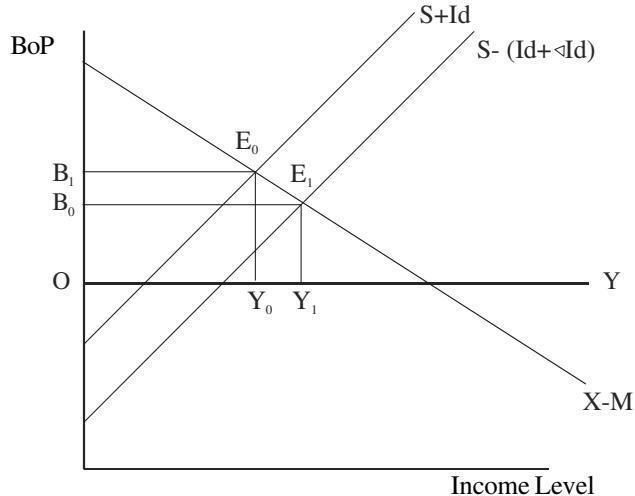
अतः राष्ट्रीय आय में परिवर्तन के समीकरण को निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है।

$$dy = 1/s+m (dId + dx) \quad \dots(10)$$

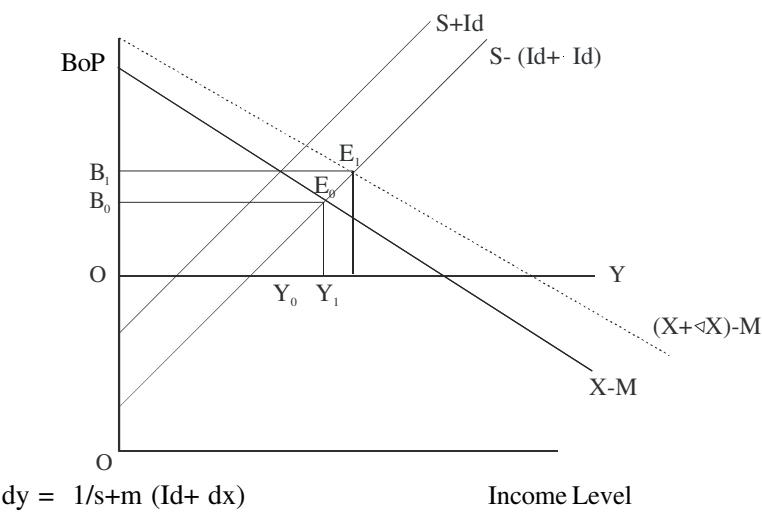
$1/s+m = K_f$ अर्थात् विदेशी व्यापार गुणक है तथा dId और dx क्रमशः घरेलू निवेश में परिवर्तन तथा निर्यात में परिवर्तन को व्यक्त करते हैं। एक खुली छोटी अर्थव्यवस्था में गुणक इसी प्रकार कार्य करता है जैसे कि यह बन्द अर्थव्यवस्था में कार्य करता है।

यद्यपि घरेलू निवेश में व द्विके (dId) या निर्यात में व द्विके (dx) राष्ट्रीय आय पर समान प्रभाव छोड़ते हैं, व व्यापार शेष (Balance of trade) पर अलग-2 प्रभाव छोड़ते हैं। निम्न चित्र में घरेलू (Id) में व द्विके

करने से भुगतान शेष पर पड़ने वाले प्रभाव को स्पष्ट किया गया। चित्र में प्रारम्भिक सन्तुलन E_0 पर दिखाया है जिस Y_0 सन्तुलित आय तथा B_0 व्यापार शेष निर्धारित होता है। इसके बाद ज्यों घरेलू निवेश में व द्वि (dId) कर दी जाती है तो $S-Id$ वक्र नीचे सरककर $S- (Id + \Delta Id)$ हो जाता है जो $X-M$ फलन को E_1 पर काटकर सन्तुलन स्थापित करता है।



E_1 सन्तुलन बिन्दु पर Y_1 सन्तुलित आय तथा B_1 धनात्मक व्यापार शेष निर्धारित होता है। अतः घरेलू निवेश में व द्वि करने से गुणक द्वारा आय का स्तर Y_0 से बढ़ कर Y_1 तथा धनात्मक व्यापार शेष कम होकर B_0 से B_1 हो जाता है। इसका कारण यह है कि घरेलू निवेश में व द्वि से आय का स्तर बढ़ता है, परन्तु बढ़ा हुआ आय का स्तर आयात बढ़ा देता है जिससे धनात्मक व्यापार शेष B_1 रह जाता है। अब मान लीजिए कि निर्यात में व द्वि की जाती है तथा घरेलू निवेश स्थिर रहता है, इसका आय तथा व्यापार शेष पर जो प्रभाव पड़ता है, उसको निम्न चित्र द्वारा दर्शाया गया है।



चित्र में प्रारम्भिक सन्तुलन E_0 पर स्थापित होकर Y_0 सन्तुलित आय स्तर तथा B_0 व्यापार शेष निर्धारित करता है। अब यदि निर्यात में व द्वि (dx) कर दी जाती है तो $X-M$ फलन ऊपर की ओर सरककर $(x+dx)-M$ बन जाता है जो $S-Id$ फलन के मिलकर E_1 पर सन्तुलन निर्धारित करता है। व्यय में व द्वि होने के कारण गुणक द्वारा आय बदली है तथा निर्यात में व द्वि होने के कारण धनात्मक भुगतान शेष बढ़कर B_1 निर्धारित होता है। यद्यपि आय में हुई व द्वि आयतों को भी बढ़ा देती है परन्तु इसका शुद्ध प्रभाव व्यापार शेष पर धनात्मक पड़ता है।

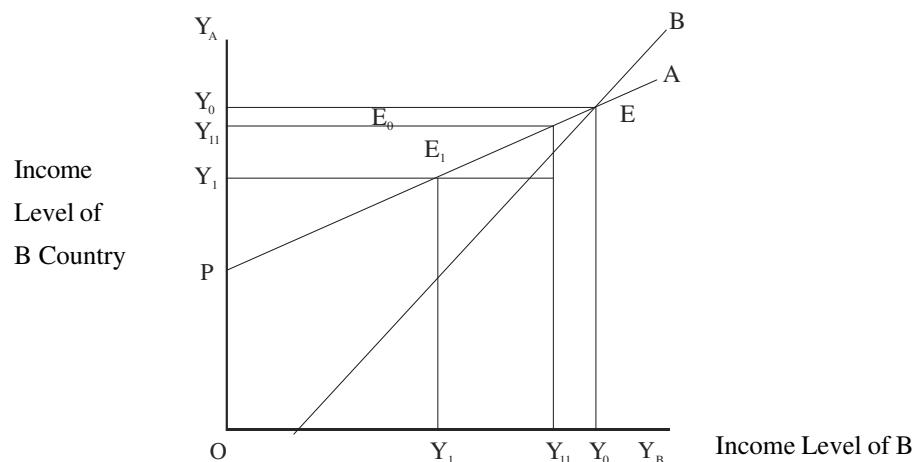
एक बड़ी खुली अर्थव्यवस्था में राष्ट्रीय आय का निर्धारण तथा प्रतिक्रिया (Determination of National Income in a Large Open Economy and Income Repercussion)

यह मान्यता कि आयातों में व द्विआयातक (निर्यातक) देशों की राष्ट्रीय आय को प्रभावित नहीं करती सही नहीं है विशेष रूप से जब बड़े देशों के बीच व्यापार हो रहा है। जब एक बड़े राष्ट्र, जैसे, अमेरिका की आय में व द्विहोने के कारण जब इसकी आयात बढ़ती है तो निर्यातक देश जैसे भारत के निर्यात बढ़ते हैं। इससे भारत की राष्ट्रीय आय में व द्विहोनी होगी। भारत की राष्ट्रीय आय में व द्विहोने के कारण इसके आयात बढ़ेंगे जो मान लीजिए जो अधिकतर अमेरिका से ही किए जाते हैं, इससे अमेरिका की राष्ट्रीय आय में व द्विहोती है जो इसके आयातों में व द्विकरके भारत की राष्ट्रीय आय में फिर व द्विकरेगी, इस प्रकार बड़े व्यापारिक राष्ट्रों की आय पर प्रतिक्रियात्मक प्रभाव (Repercussion effect) पड़ता रहता है।

ऐसी बड़ी अर्थव्यवस्थाओं की राष्ट्रीय आय का निर्धारण करने के लिए इन प्रतिक्रियात्मक प्रभावों को भी अवश्य शामिल किया जाना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि यह जाँच की जानी चाहिए कि सभी व्यापारिक राष्ट्रों की आय का निर्धारण एक साथ (Simultaneously) कैसे किया जाए?

यह निर्धारण हम कल्पना करके कर सकते हैं कि विश्व में दो ही देश A तथा B हैं। दोनों देशों में सम्पर्क इस प्रकार का है कि A देश के निर्यात है। अतः दोनों देशों की राष्ट्रीय आय एक दूसरे पर निर्भर (Interdependent) करती है।

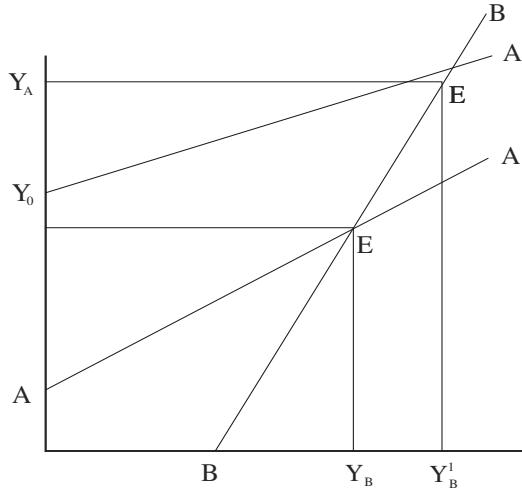
दोनों देशों के बीच आय प्रतिक्रिया निम्न चित्र की सहायता से दर्शाई जा सकती है। इस चित्र में AA रेखा A राष्ट्र की आय तथा B राष्ट्र की आय के बीच सम्बन्ध प्रकट करती है। A देश में OA राष्ट्रीय आय व्यापार से स्वतन्त्र है। इसी प्रकार BB रेखा B देश की राष्ट्रीय आय तथा A देश की राष्ट्रीय आय के बीच सम्बन्ध को प्रकट करती है। ए दोनों रेखाएँ एक दूसरों को E बिन्दु पर काटती है तथा A देश में सन्तुलित आय का स्तर Y_0 तथा B देश में सन्तुलित आय का स्तर Y_B जो एक साथ निर्धारित होती है। यदि B देश में आय Y_1 है तो A देश में भी आय Y_1 होगी जो B देश में आय बढ़ाकर Y_{11} करेगी। यह प्रक्रिया जारी रहेगी जब कि दोनों देश E को प्राप्त नहीं हो।



Simultaneous National Income Equilibrium for two large countries

अब यदि A देश में निवेश या सरकारी व्यय में व द्विकरने के कारण राष्ट्रीय आय बढ़ जाती है तो AA वक्र ऊपर की ओर सरक जाता है जो B देश की सन्तुलित आय स्तर को बढ़ा देता है। इस तथ्य को निम्न चित्र की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है: इस चित्र में प्रारम्भिक सन्तुलन बिन्दु E

है। अब यदि A देश में सरकारी व्यय (G) में व द्विकरने के परिणामस्वरूप दोनों देशों की आय में परस्पर सम्बन्ध A^1A^1 रेखा द्वारा स्थापित होता है जो BB रेखा के साथ मिलकर E₁ बिन्दु पर सन्तुलन स्थापित करता है।



Effect of Increase in Autonomous expenditure in Country A.

चित्र से स्पष्ट है कि A राष्ट्र की आय में B राष्ट्र की अपेक्षा अधिक व द्विक हुई है क्योंकि A राष्ट्र की आय में व द्विक $Y^0_A Y^1_A$ है तथा B राष्ट्र की आय में व द्विक $Y^0_B Y^1_B$ है तथा B राष्ट्र की आय में व द्विक $Y^0_B Y^1_B$ है। इस प्रकार दोनों देशों की सन्तुलित आय A देश में Y^1_A तथा B देश में Y^1_B स्थापित होता है। दोनों राष्ट्रों की राष्ट्रीय आय में एक साथ सन्तुलन पुनः E₁ बिन्दु पर स्थापित होता है।

अध्याय-22

स्थिर व लचीली विनिमय दरें (Fixed and Flexible Exchange Rates)

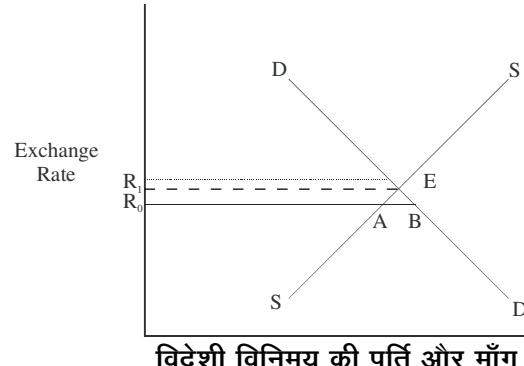
विदेशी विनिमय दर क्या है? घरेलू मुद्रा की कितनी इकाइयाँ विदेशी मुद्रा की एक इकाई का क्रय कर सकती है वह विदेशी विनिमय दर कहलाती है। विदेशी विनिमय दर का निर्धारण मुख्यतः दो प्रकार से होता है। इसके निर्धारण के आधार पर ही इसका विभाजन स्थिर विनिमय दर (Fixed Exchange Rate) और परिवर्तनशील विनिमय दर (Floating Exchange Rate) के रूप में किया जाता है।

स्थिर विनिमय दर के अन्तर्गत सभी देश अपनी-अपनी घरेलू मुद्राओं का स्वर्ण में मूल्य निर्धारण कर देती है इसके बाद स्वर्ण समता (Gold Parity) के आधार पर सभी मुद्राओं का विनिमय दर स्वतः निर्धारित हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि भारत में 10 ग्राम स्वर्ण का मूल्य 4 हजार रुपए है और अमेरिका में 10 ग्राम स्वर्ण का मूल्य 100 डॉलर है तो इसका अर्थ यह होगा कि

$$100 \text{ डॉलर} = 4000 \text{ रुपए} = 1 \text{ डॉलर} = 40 \text{ रुपए}$$

1946 में I.M.F. की स्थापना के बाद विभिन्न देशों की करेंसियों की विनिमय दर टकसाली समता (Mint Parity) के आधार पर निर्धारित किया गया है। इसको Bretton Wood Agreement कहा गया है। इस समझौते के अन्तर्गत कहा गया है कि सभी राष्ट्र इस समता दर को अपनाएंगे इसके फलस्वरूप यह विनिमय दर स्थिर विनिमय दर (fixed exchange rate) कहा जाने लगा। यदि कोई देश विनिमय दर में परिवर्तन के द्वारा भुगतान संतुलन (BOP) में असन्तुलन को दूर करना चाहता है तो ऐसा वह एक या दो प्रतिशत परिवर्तन विनिमय दर में करके कर सकता था।

परन्तु बाद में बहुत से देशों ने स्थिर विनिमय दर को त्याग दिया क्योंकि BOP में आधारभूत असन्तुलन का सामना कर रहे थे। इस प्रकार परिवर्तनशील विनिमय दर का प्रचलन हुआ जिसका निर्धारण विदेशी विनिमय बाजार में विदेशी विनिमय की पूर्ति तथा माँग द्वारा होता है जैसा कि निम्न चित्र से स्पष्ट है:



विदेशी विनिमय की पूर्ति और माँग

उपरोक्त चित्र से स्पष्ट है कि R_0 स्थिर विनिमय दर दर्शाया गया है जिससे अर्थव्यवस्था को AB के

समान विदेशी विनिमय का घाटा है जो BOP के घाटे को दर्शाती है। यह घाटा (Deficit) सरकार अपने या तो विदेशी विनिमय कोष को कम करके पूरा है या विदेशी पूँजी के आगमन द्वारा परन्तु यदि एक देश परिवर्तनशील विनिमय दर अपनाता है तो घरेलू मुद्रा का अवमूल्यन होकर R₁ विनिमय दर स्थापित होती है जिससे विदेशी विनिमय बाजार E बिन्दु पर सन्तुलन में होता है। परिवर्तनशील विनिमय दर प्रणाली के अन्तर्गत विनिमय दर में परिवर्तन के द्वारा विदेशी विनिमय बाजार तथा BOP स्वतः सन्तुलन प्राप्त करती है।

स्थिर विनिमय दर तथा परिवर्तनशील विनिमय दर के पक्ष तथा विपक्ष में तर्क निम्न प्रकार दिए जा सकते हैं।

Arguments in Favour and Against Fixed and Floating Exchange Rate

स्थिर विनिमय दर के पक्ष में दिए गए तर्क परिवर्तनशील विनिमय दर के विपक्ष में दिए जा सकते हैं। इसी प्रकार परिवर्तनशील विनिमय दर के पक्ष में तर्क स्थिर विनिमय दर के विपक्ष में होते हैं। इनकी बारी-बारी से व्याख्या निम्न प्रकार से की गई हैं।

स्थिर विनिमय दर के पक्ष में तर्क

(Arguments in Favour of Fixed Exchange Rate)

स्थिर विनिमय दर का अर्थव्यवस्था के लिए विशेष महत्व रहा है। स्थिर विनिमय दर के पक्ष में निम्न तर्क दिए जा सकते हैं:

1. स्थिर विनिमय दर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में व द्विकरता है, क्योंकि आयातकों तथा निर्यातकों को पूर्व अनुमान हो जाता है कि उनको घरेलू मुद्रा में कितना आयातों के लिए भुगतान करना है तथा निर्यातों के बदले घरेलू मुद्रा में उनको कितनी आय प्राप्त होती है। इसके विपरीत लचीली विनिमय दर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अड़चनें उत्पन्न करती है, क्योंकि यह निश्चित नहीं हो पाता कि उन्हें घरेलू मुद्रा में कितना खर्च करना अथवा प्राप्त होना है।
2. स्थिर विनिमय दर प्रणाली में विदेशी पूँजी का आवागमन बढ़ता है जिससे अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास में सहायता पहुँचती है। इसका कारण यह है कि विदेशी निवेशकों को ज्ञात रहता है कि विनिमय दर स्थिर रहने से पूँजी हानि की सम्भावना नहीं रहती।
3. पड़ोसी देश क्षेत्रीय संघ बना लेते हैं। स्थिर विनिमय दर इन संघों की सफलता में सहायक सिद्ध हुए हैं।
4. कुछ देशों का आकार काफी छोटा होता है। परन्तु इन देशों की अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भागीदारी अपेक्षाकृत अधिक होती है। अर्थात् कुछ देश अपनी GDP का अधिक भाग विदेशी व्यापार में लगा देते हैं। यदि ए देश स्थिर विनिमय प्रणाली न अपनाकर लोचशील विनिमय दर प्रणाली अपना लेते हैं तो इन अर्थव्यवस्था में अधिक उत्तार-चढ़ाव देखने को मिल सकते हैं। स्थिर विनिमय दर प्रणाली से स्थिरता को बढ़ावा मिलता है, जैसे कीमतों व आय में स्थिरता, भुगतान शेष में स्थिरता आदि।
5. स्थिर विनिमय दर से अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठन को बढ़ावा मिलता है। इससे बाजारों का विकास होता है। इससे सड़ेबाजी भी रुक जाती है। सड़ेबाजी से मुद्रा की विनिमय दर में अधिक उत्तार-चढ़ाव आता है जो व्यापार व निवेश के लिए हानिकारक सिद्ध होता है।
6. यदि विश्व में एक ही करेन्सी को अपना लिया जाता है तो इससे व्यापार व निवेश को बढ़ावा मिलता है। विश्व में आर्थिक संगठन (Economic Organisation) मजबूत होता है। स्थिर विनिमय दर प्रणाली एक करेन्सी प्रणाली का ही दूसरा रूप कहा जा सकता है। अतः यह विश्व आर्थिक कल्याण के हित में है।

7. कई बार अर्थव्यवस्थाएँ अधिक विस्तारवादी नीतियाँ अपना लेती हैं जिससे मुद्रास्फीति उत्पन्न हो जाती है तथा भुगतान शेष में घाटा बढ़ जाता है। इससे देश ऋणी होता जाता है। इसलिए स्थिर विनिमय दर इन देशों को सावधान करता है कि अधिक विस्तारवादी नीतियाँ हानिकारक सिद्ध हो सकती हैं।

लोचशील विनिमय दर के पक्ष में तर्क

(Arguments in Favour of Flexible Exchange Rate)

स्थिर विनिमय दर के विपक्ष में दिए गए तर्क वस्तुतः लोचशील विनिमय दर के पक्ष में समझे जा सकते हैं। लोचशील विनियम दर प्रणाली के अन्तर्गत विनिमय दर विनिमय बाजार में विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) या विदेशी मुद्रा की माँग व पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। यदि देश का भुगतान सन्तुलन सन्तुलित रहता है तो विदेशी विनिमय की माँग व पूर्ति बराबर होती है तथा विनिमय दर स्थिर रहता है। परन्तु ज्यों इनमें असमानता आती है तो लोचशील विनिमय दर प्रणाली में उसके अनुसार विनिमय दर तुरन्त बदल जाता है। इस प्रणाली के पक्ष में निम्न तर्क दिए जाते हैं।

1. लोचशील विनिमय दर प्रणाली के अन्तर्गत स्वाभाविक विनिमय दर (Natural Exchange Rate) प्राप्त किया जा सकता है जिस पर भुगतान शेष हमेशा सन्तुलन में रहता है। इससे बाह्य असन्तुलन की समस्या स्वतः हल हो जाती है।
2. इस प्रणाली में बार-बार उत्पन्न होनेवाले भुगतान असन्तुलन के संकर समाप्त हो जाते हैं। इस कारण यह विदेशी व्यापार को बढ़ावा देता है।
3. इस प्रणाली में सरकारी हस्तक्षेप समाप्त हो जाता है। आर्थिक शक्तियों को स्वतन्त्रता से कार्य करने का सुअवसर प्राप्त होता है।
4. भविष्य में होनेवाले विनिमय दर में उतार चढ़ाव से बचने के लिए आयातक व निर्यातक व्यापार सम्बन्धी भविष्य समझौते वर्तमान विनिमय दर पर करने शुरू कर देते हैं। इससे व्यापार को बढ़ावा प्राप्त होता है।
5. स्थिर विनिमय दर के अन्तर्गत लम्बे समय से चल रहे भुगतान शेष में घाटा विदेशी ऋण को अत्यधिक बढ़ा देता है। परन्तु लोचशील विनिमय दर प्रणाली में इस प्रकार की समस्या उत्पन्न नहीं होती है।

अध्याय-23

सीमा संघ का सिद्धान्त

(The Theory of Custom Union)

‘सीमा संघ प्रणाली’ रियायती प्रशुल्क-प्रणाली पर आधारित है। जब दो या अधिक राष्ट्र एक-दूसरे के क्षेत्र में बिना सीमा-शुल्क या रियायती शुल्क देकर आने-जाने की अनुमति देने का सम्प्रिलित निर्णय लेते हैं; तब यह माना जा सकता है कि इन देशों ने ‘सीमा संघ’ या ‘सीमा-शुल्क क्षेत्र’ का निर्माण कर लिया है। खतन्त्र व्यापार के समर्थकों ने रियायती प्रशुल्कों तथा उन पर आधारित सीमा संघों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा बढ़ाने तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन का विस्तार करने की दस्ति से उपयुक्त ठहराया है।

‘सीमा संघ’ दो प्रकार के हो सकते हैं- (i) वे सीमा-क्षेत्र, जिनमें प्रशुल्कों को पूर्णतया हटा लिया जाता है। (ii) वे सीमा-क्षेत्र, जिनमें रियायती दर पर प्रशुल्क लगाए जाते हैं। सीमा संघ या तो ‘सीमित’ हो सकता है या ‘पूर्ण’। सीमित सीमा संघ में एक या कुछ वस्तुओं के सम्बन्ध में व्यापार समझौता किया जाता है। पूर्ण सीमा संघ में समस्त रुकावटें दूर कर दी जाती हैं। सदस्य-देशों के बीच उत्पत्ति के साधन खतन्त्र रूप से गतिशील होते हैं। सदस्य-देशों की मौद्रिक एवं राजस्व नीतियों में समानता होती है। इस प्रकार के पूर्ण सीमा संघ को ‘आर्थिक संघ’ कहा जाता है।

एकीकरण के प्रकार

(Types of Integration)

राष्ट्रों में आर्थिक एकीकरण के लिए पाँच प्रकार की व्यवस्थाएँ हैं जो निम्न हैं:

- अधिमानी व्यापारिक प्रणाली (Preferential Trading System)** - यह 1732 में स्थापित ब्रिटिश राज्य के 48 राष्ट्रमंडल देशों के बीच आर्थिक एकीकरण का सबसे पहला रूप था। इसका उद्देश्य एक-दूसरे से आयात पर प्रशुल्क कम करके सदस्य राष्ट्रों को अधिमानी व्यवहार देना था, परंतु राष्ट्रमंडल अधिमानी प्रणाली के बाहर से आयात पर ऊंचे प्रशुल्क कायम रखना था। यह आर्थिक एकीकरण की ढीली किस्म थी जो गैट नियमों (GATT Rules) के बनने के बाद समाप्त हो गई।
- मुक्त व्यापार क्षेत्र (Free Trade Area)** - मुक्त व्यापार क्षेत्र आर्थिक एकीकरण का शिथिल रूप है। इसके अंतर्गत ग्रुप के सदस्य, आपस में तो प्रशुल्क तथा अन्य व्यापार बाधाएँ समाप्त कर देते हैं, पर प्रत्येक सदस्य देश गैर-सदस्य देशों के साथ अपना प्रशुल्क, व्यापार प्रतिबंध तथा वाणिज्यिक नीतियाँ बनाए रखता है। मुक्त व्यापार क्षेत्र में सदस्य देशों को आपस में सम्प्रिलित सीमा रखने की जरूरत नहीं। इसमें आर्थिक एकीकरण केवल अंतःक्षेत्र व्यापार (Intra-area Trade) पर आधारित है। यूरोपीय मुक्त व्यापार एसोसिएशन (European Free Trade Association - EFTA) तथा दक्षिणी अमेरिकी मुक्त व्यापार क्षेत्र (Latin American Free Trade Area-LAFTA) जिनका स्थान 1980 में लेटिन अमेरिकी एकीकरण एसोसिएशन (Latin

American Integration Association) ने ले लिया। ये प्रादेशिक आर्थिक एकीकरण के मुक्त व्यापार क्षेत्र के उदाहरण हैं।

3. **कस्टम यूनियन (Customs Union)** - कस्टम यूनियन में, भाग लेनेवाले देश बाहर की दुनिया से आयात पर एक साझा बाह्य प्रशुल्क और वाणिज्यिक नीति अपनाते हैं और आपस के सभी प्रशुल्क तथा व्यापार प्रतिबंध समाप्त कर देते हैं। इस प्रकार कस्टम यूनियन में, गैर-सदस्य देशों के साथ व्यापार संबंधों में यूनियन के सभी सदस्य एक इकाई के रूप में कार्य करते हैं। यूरोपीय समुदाय (European Community-EC) एक कस्टम यूनियन है। मुक्त व्यापार क्षेत्र तथा कस्टम यूनियन एक-दूसरे से इस बात से मिलते-जुलते हैं कि सदस्य देशों के बीच बिना प्रशुल्क वस्तुएँ लाई तथा ले जाती हैं। परंतु उनमें भिन्नता यह है कि जहाँ मुक्त व्यापार क्षेत्र में प्रत्येक देश गैर-सदस्य देशों के साथ अपना-अपना प्रशुल्क लगाता है, वहाँ कस्टम यूनियन गैर-सदस्य देशों पर साझा प्रशुल्क लगाती है।
4. **साझा बाजार (Common Market)** - साझा बाजार सदस्य राष्ट्रों का एकीक त बाजार क्षेत्र है जिसमें वस्तुएँ, सेवाएं तथा उत्पादन के साधन बेरोकटोक आ-जा सकते हैं। साझे बाजार में, उत्पादन तथा साधन बाजार एकीक त होते हैं। वास्तव में, साझा बाजार कस्टम यूनियम नियम को और आगे बढ़ाता है क्योंकि यह सदस्य देशों में वस्तुओं के साथ-साथ श्रम तथा पूँजी को भी बेरोकटोक आने-जाने की अनुमति देता है।
5. **आर्थिक यूनियन (Economic Union)** - राष्ट्रों में आर्थिक एकीकरण का उच्चतम रूप आर्थिक यूनियन है। जैसा साझे बाजार में होता है, वैसे ही आर्थिक यूनियन में भी उत्पादन तथा साधन बाजारों का एकीकरण तो होता ही है, परंतु इसके अतिरिक्त आर्थिक यूनियन ऐसी मौद्रिक, राजकोषीय तथा अन्य नीतियों में सामंजस्य स्थापित करती है जैसे विनिमय दर परिवहन, औद्योगिक, सामाजिक नीतियाँ, आदि। इस प्रकार साझा बाह्य प्रशुल्क तथा साझी घरेलू नीतियाँ अपनाने के संबंध में आर्थिक यूनियन के सदस्य देशों के बीच काफी तालमेल होता है। यूरोपीय समुदाय (EC) का उद्देश्य अंततः ऐसी ही आर्थिक यूनियन बनाना है।

एकीकरण के लाभ या उद्देश्य

(Benefits or Motives of Integration)

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एकीकरण के प्रादेशिक ग्रुप के सदस्यों को अनेक प्रकार से लाभ होता है:

- (1) इससे सदस्य राष्ट्रों में संसाधनों का बेहतर आवंटन होता है।
- (2) इससे प्रौद्योगिकीय परिवर्तन होते हैं और पूँजी का अन्तःप्रवाह बढ़ता है, जिसके परिणामस्वरूप साधन आगतों की क्वालिटी और मात्रा में सुधार होता है।
- (3) तुलनात्मक लाभों पर आधारित विशिष्टीकरण के कारण उत्पादन बढ़ता है।
- (4) आर्थिक एकीकरण से पैमाने की मितव्ययिताओं का लाभ प्राप्त होता है जिससे उत्पादन बढ़ता है।
- (5) इससे सौदा करने की स्थिति बेहतर होने से व्यापार की मात्रा बढ़ती है।
- (6) इससे बाकी दुनिया के साथ प्रादेशिक ग्रुप की व्यापार शर्तों में सुधार होता है।
- (7) क्योंकि सदस्यों में प्रतियोगिता बढ़ जाती है, इसलिए ग्रुप के भीतर आर्थिक कुशलता बढ़ती है।
- (8) सदस्य देशों के बीच साधन गतिशीलता बढ़ती है।
- (9) सदस्यों को समन्वित मौद्रिक और राजकोषीय नीतियों से लाभ प्राप्त होते हैं।

- (10) जब सत्ती और बढ़िया वस्तुएँ मिलती हैं, तो रोजगार के अवसर और आय बढ़ते हैं जिससे लोगों के जीवन स्तर बढ़ते हैं।

सदस्य राष्ट्र पूर्ण रोजगार, आर्थिक व द्वि की ऊँची दरें और आय असमानताओं के साझे लक्ष्य प्राप्त करते हैं।

कस्टम यूनियन अथवा सीमाशुल्क संघ का सिद्धान्त (The Theory of Customs Union)

प्रस्तावना

(Introduction)

कस्टम यूनियन (अथवा सीमाशुल्क संघ) सिद्धान्त का व्यवस्थित विकास पहलेपहल **जैकब वाइनर** (Jacob Viner) ने 1950 में किया था। कस्टम यूनियन के वाइनेरियन विश्लेषण को बेहतर बनाने में **मीड, लिप्से, जॉनसन, कूपर, वानेक, भगवती** आदि अन्य अर्थशास्त्रियों ने बहुत योगदान दिया। कस्टम यूनियन सिद्धान्त का विकास दो रूपों में किया गया है- आंशिक संतुलन सिद्धान्त तथा सामान्य संतुलन सिद्धान्त। यहाँ इन दोनों सिद्धान्तों का अध्ययन किया जा रहा है और साथ-साथ उन संशोधनों का भी अध्ययन किया जा रहा है जो हाल ही में इन सिद्धान्तों में किए गए हैं। इस अध्ययन से पहले कस्टम यूनियन की प्रमुख विशेषताओं पर एक बार नजर डाल लेना लाभदायक होगा।

हमारा विश्लेषण इसी द एटिकोण का अनुसरण करता है।

कस्टम यूनियन सिद्धान्त की विशेषताएँ

(Features of Customs Union Theory)

कस्टम यूनियन की प्रमुख विशेषताएँ हैं सदस्य देश बाकी दुनिया से आयात पर साझा बाह्य प्रशुल्क लगाएँ और आपसी आयात पर ये सभी प्रशुल्क तथा व्यापार प्रतिबंध समाप्त कर दें। कस्टम यूनियन की स्थापना के परिणामस्वरूप सदस्य देशों के घरेलू बाजारों में वस्तुओं की सापेक्ष कीमतों में परिवर्तन होता है जो आगे व्यापार, उत्पादन तथा उपभोग को प्रभावित करते हैं। कस्टम यूनियन का सिद्धान्त इन प्रभावों का विश्लेषण करता है और इस बात का विश्लेषण करता है कि संसाधनों के आंवटन पर, कस्टम यूनियन के सदस्यों के कल्याण पर, तथा बाकी दुनिया पर इन प्रभावों का क्या असर पड़ता है। यह सिद्धान्त वानेरियन व्यापार निर्माण तथा व्यापार विचलन के रूप में इन स्थैतिक प्रभावों का अध्ययन करता है। इसके अतिरिक्त, कस्टम यूनियन के कुछ गत्यात्मक प्रभाव भी हैं, जैसे पैमाने की मितव्ययिताएँ, बढ़ा हुआ निवेश, बढ़ी हुई प्रतियोगिता और तकनीकी परिवर्तनों के माध्यम से तीव्र आर्थिक व द्वि। यहाँ हम आंशिक तथा सामान्य संतुलन के सिद्धान्त के अंतर्गत कस्टम यूनियन के स्थैतिक प्रभावों का विश्लेषण कर रहे हैं।

कस्टम यूनियन का आंशिक संतुलन सिद्धान्त

(Partial Equilibrium Theory of Customs Union)

कस्टम यूनियन सिद्धान्त के प्रति आंशिक संतुलन द एटिकोण को **वाइनर** ने व्यापार निर्माण (trade creation) तथा व्यापार विचलन (Trade diversion) के रूप में विकसित किया था। वाइनर ने उनके केवल उत्पाद प्रभावों का अध्ययन किया और **लिप्से** तथा **मीड** ने उनके उपभोग प्रभावों पर बल दिया। परंतु **जॉनसन** ने आंशिक संतुलन विश्लेषण में इन दोनों सिद्धान्तों को व्यवस्थित रूप से मिलाया। वाइनर के व्यापार निर्माण तथा व्यापार विचलन प्रभावों का संबंध अंतःदेश प्रतिस्थापन (Inter-country Substitution) से है।

इसकी मान्यताएं (Its Assumptions)

कस्टम यूनियन का आंशिक संतुलन विश्लेषण निम्न मान्यताओं पर आधारित है:

1. दो देश हैं जिनमें से एक का नाम घरेलू (H) देश और दूसरे का साथी (Partner-P) देश है जो कस्टम यूनियन बनाते हैं।
2. एक और देश है जिसका नाम है बाकी दुनिया (W)।
3. कस्टम यूनियन साझा बाह्य प्रशुल्क लगाता है।
4. किसी और प्रकार का व्यापार प्रतिबंध नहीं है।
5. कस्टम यूनियन केवल एक विशेष प्रशुल्क ही लगाती है।
6. तीनों ही देश केवल एक वस्तु X का ही उत्पादन करते हैं।
7. इस वस्तु का निम्नतम लागत देश W है और उच्चतम लागत देश H है।
8. कीमतें लागत द्वारा निर्धारित होती हैं।
9. इस वस्तु का उत्पादन स्थिर लागतों के अंतर्गत होता है।
10. H तथा W देशों के प्रति वक्र पूर्णतया लोचदार हैं।
11. वस्तु तथा साधन बाजारों में पूर्ण प्रतियोगिता है।
12. देश में पूर्ण साधन गतिशीलता है तथा देश की सीमाओं के बाहर साधन पूर्णरूप से अगतिशील है।
13. परिवहन लागतें बिल्कुल नहीं हैं।
14. देश के कुल संसाधन स्थिर हैं।
15. संसाधन पूर्ण रोजगार में लगे हैं।
16. प्रौद्योगिकी दी हुई और स्थिर है।
17. घरेलू देश में संतुलित व्यापार है जिसके व्यापार परिणामस्वरूप निर्यात तथा आयात एक-दूसरे के बराबर हैं।

कस्टम यूनियन के प्रभाव (Effects of Customs Union)

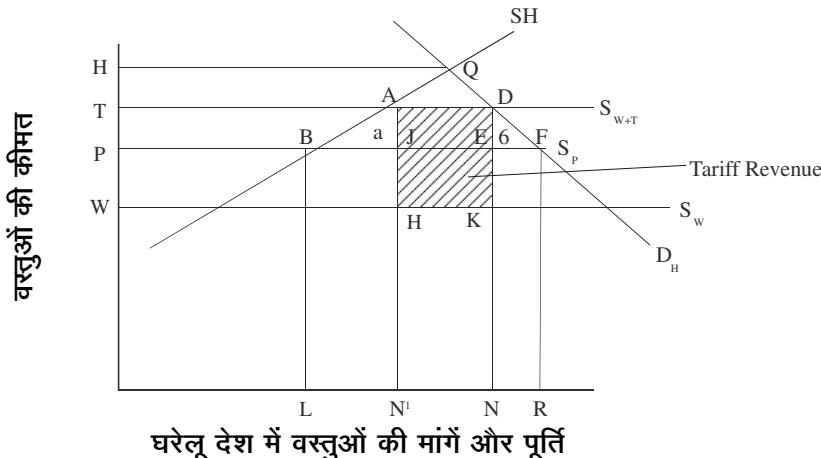
इन मान्यताओं के दिए हुए होने पर, कस्टम यूनियन का सिद्धान्त व्यापार निर्माण तथा व्यापार विचलन के रूप में उत्पादन, उपभोग तथा व्यापार पर कस्टम यूनियन के प्रभावों का विश्लेषण करता है।

जब दो देशों अर्थात् H तथा P के बीच कस्टम यूनियन बनाई जाती है, तो इन दोनों के आपसी आयातों पर से प्रशुल्क समाप्त कर दिए जाते हैं परंतु बाकी दुनिया (W) के आयातों पर प्रशुल्क लगे रहते हैं। घरेलू देश (P) अब साथी देश (P) से वस्तु का निःशुल्क आयात करता है। इसके परिणामस्वरूप व्यापार निर्माण तथा व्यापार विचलन होता है।

व्यापार निर्माण (Trade Creation)

व्यापार तब होता है जब घरेलू देश के उच्चतम लागत घरेलू वस्तु के उपभोग की जगह साथी देश (P) की निम्नतर लागत वस्तु का स्थानापन्न करती है। इससे आगे उत्पादन प्रभाव तथा उपभोग प्रभाव होता है। जब वस्तु X का उत्पादन घट जाता है या बिल्कुल समाप्त हो जाता है और उसकी बजाय साथी देश से वस्तु आयात की जाती है तो उसे उत्पादन प्रभाव कहते हैं। जब घरेलू वस्तु के स्थान पर साथी देश की स्थानापन्न वस्तु का उपभोग बढ़ जाता है, जो पहले ऊँची लागत पर मिलती थी तो यह उपभोग प्रभाव होता है। उत्पादन प्रभाव तथा उपभोग प्रभाव दोनों मिलकर कस्टम यूनियन

के व्यापार निर्माण प्रभाव को व्यक्त करते हैं। उत्पादन प्रभाव तथा उपभोग प्रभाव के अनुरूप, व्यापार निर्माण से दो प्रकार का लाभ होता है: पहला यह कि वस्तु की वास्तविक लागत में बचत होती है, जिसका पहले घरेलू वस्तु उत्पादन ऊँची लागत से होता था और अब वहीं वस्तु साथी देश से कम दामों पर आयात की जाती है; और दूसरा यह कि उपभोक्ता बेशी में लाभ होता है क्योंकि उच्चतर लागत वस्तु की जगह कम लागत वस्तु स्थानापन्न की जाती है।



इस प्रकार, व्यापार निर्माण विश्व कल्याण में सुधार करता है। कस्टम यूनियन का व्यापार निर्माण प्रभाव चित्र में दिखाया गया है, जहाँ D_H घरेलू देश H में वस्तु X का माँग वक्र है और S_H उसका पूर्ति वक्र है। बाकी दुनिया (W) का पूर्ति वक्र क्षेत्रिज रेखा WS_W के रूप में दिखाया गया है, जिसका मतलब है कि वह OW कीमत पर चाहे जितनी मात्रा में वस्तु X की पूर्ति दे सकता है। इस प्रकार, साथी देश का पूर्ति वक्र क्षेत्रिज रेखा PS_p रेखा के रूप में दिखाया गया है, जिसका मतलब है कि यह OP कीमत पर चाहे जितनी मात्रा में वस्तु X की पूर्ति दे सकता है। इस प्रकार वस्तु X की कीमत H देश में अधिकतम OH है तथा W देश में निम्नतम OW है, जबकि साथी देश P में कीमत मध्यवर्ती स्तर OP पर है।

कस्टम यूनियन बनने से पहले W देश से आयात पर H देश, WT प्रशुल्क लगा रहा है, इसलिए बाकी दुनिया W का पूर्ति वक्र $TS_W + t$ बन जाता है। प्रशुल्क शामिल कीमत OT पर H देश वस्तु X की ON मात्रा को उपभोग करता है जिसमें से OM मात्रा का उत्पादन घरेलू रूप से होता है और MN मात्रा W देश से आयात की जाती है। देश H को चतुर्भुज $ADKH$ के क्षेत्र के बराबर प्रशुल्क राजस्व प्राप्त होता है। इस कस्टम यूनियन-पूर्व स्थिति में, देश P व्यापार शामिल नहीं है, क्योंकि इसकी प्रशुल्क पूर्व कीमत OP है जो W देश की OW कीमत से अधिक है, और जब H देश इस देश P की वस्तु पर WT प्रशुल्क लगाता है, तो इसकी वस्तु की कीमत OT से अधिक बढ़ जाएगी। T तथा H के बीच एक क्षेत्रिज रेखा के विद्यमान होने की कल्पना कीजिए।

मान लीजिए कि H तथा T देश मिलकर कस्टम यूनियन बना लेते हैं और आपस में कोई प्रशुल्क नहीं रखते परन्तु W देश को आयात पर WT प्रशुल्क लगाते हैं। अब देश H केवल देश P से निःशुल्क (Duty Free) वस्तु X आयात करेगा और देश W से बिल्कुल आयात नहीं करेगा। इस स्थिति से H देश के लिए कस्टम यूनियन के निम्न व्यापार निर्माण प्रभाव उत्पन्न होंगे।

कीमत प्रभाव (Price Effect) - देश H वस्तु X को P देश से अपेक्षाकृत कम कीमत OP पर आयात करता है जबकि कस्टम यूनियन बनने से पहले वह इसे अधिक ऊँची कीमत OT पर आयात करता था तो यह व्यापार निर्माण का कीमत प्रभाव है।

उत्पादन प्रभाव (Production Effect) - यूनियन बनने के बाद जब देश H का घरेलू उत्पादन OM

से गिरकर OL रह जाता है और देश P से आयात MN से बढ़कर LR हो जाते हैं। वाइनर का विश्लेषण केवल इस व्यापार निर्माण उत्पादन प्रभाव से संबंधित है।

उपभोग प्रभाव (Consumption Effect)- जब देश H में वस्तु X की कीमत OT से गिरकर OP हो जाती है, तो उसका परिणाम यह होता है कि वस्तु X का उपभोग ON से बढ़कर OR पर पहुँच जाता है अर्थात् उपभोग की मात्रा NR अधिक हो जाती है जो उपभोग प्रभाव है। लिप्से और मीड इस प्रभाव का वर्णन करते हैं।

राजस्व प्रभाव (Revenue Effect)- कस्टम यूनियन बनने से पहले देश H का प्रशुल्क राजस्व ADEJ था। अब यह समाप्त हो जाता है क्योंकि वह देश H से वस्तु की कोई मात्रा आयात नहीं करता है।

कल्याण लाभ प्रभाव (Welfare Gain Effect)- उत्पादन, उपभोग और राजस्व प्रभावों से जॉनसन उपभोक्ता और उत्पादक बोशियों (Surpluses) का प्रयोग करके व्यापार निर्माण का कुल लाभ निम्न प्रकार से मापता है:

उपभोग प्रभाव के कारण उपभोक्ता की बेशी में लाभ

$$\text{माँग वक्र } D_H \text{ के नीचे मापा गया} = PTDF$$

$$\text{उत्पादक की बेशी में घरेलू उत्पादन में कमी के कारण कमी} = PTAB$$

$$\text{सरकार के प्रशुल्क राजस्व में कमी जो उपभोक्ताओं को वापस हस्तांतरित की गई} = ADEJ$$

$$\text{कुल कल्याण लाभ प्रभाव} = PTDF - PTAB - ADEJ = \Delta AJB + \Delta DEF$$

$$\text{अथवा छांयाकित त्रिभुज (a+b)}$$

इन दो त्रिभुजों के आकार का जोड़ जो कस्टम यूनियन के व्यापार निर्माण कल्याण प्रभाव को मापता है, तीन घटकों पर निर्भर करता है: (1) कस्टम यूनियन बनाने से पहले देश H द्वारा लगाए गए प्रारम्भिक प्रशुल्क WT की मात्रा; (2) यूनियन-पूर्व उत्पादन बिन्दु A पर पूर्ति वक्र S_H की लोच; और (3) यूनियन-पूर्व उपभोग बिन्दु D पर माँग वक्र D_H की लोच। कुल मिलाकर, प्रारम्भिक प्रशुल्क जितना अधिक होगा उतने ही माँग और पूर्ति वक्र अधिक लोचशील होते हैं तथा उतना ही व्यापार निर्माण से कुल कल्याण लाभ अधिक होता है।

व्यापार विचलन (Trade Diversion)

व्यापार विचलन तब होता है जब साथी देश पर से प्रशुल्क हटा लेने पर घरेलू देश निम्नतर लागत वाले बाकी दुनिया देश (W) की बजाय अधिक लागत वाले साथी देश से वस्तु को आयात करता है। इस व्यापार विचलन के दो पहलू हैं: पहला वस्तु X की लागत बढ़ जाती है, क्योंकि पहले तो यह वस्तु बाकी दुनिया (W) से आयात की जाती थी और अब साथी देश P से आयात की जाती है; और दूसरा, उपभोक्ता बेशी में कमी हो जाती है क्योंकि बाकी दुनिया की निम्नतम लागत वस्तु की जगह उच्चतर लागत साथी देश की वस्तु स्थानापन्ह होती है। ये दोनों प्रभाव मिलकर कस्टम यूनियन का व्यापार विचलन प्रभाव व्यक्त करते हैं। इससे विश्व उत्पादन की कुशलता घटती है, क्योंकि उतनी ही मात्रा के उत्पादन के लिए अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में संसाधनों की जरूरत पड़ती है। वाइनर के मतानुसार, यही कारण है कि व्यापार विचलन के परिणामस्वरूप विश्व का कल्याण घटता है।

व्यापार विचलन प्रभाव चित्र में दिखाया गया है। कस्टम यूनियन बनाने से पहले देश H सर्वाधिक कुशल देश W से OW कीमत पर वस्तु X की MN मात्रा आयात करता है। अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में भाग नहीं लेता। MN मात्रा के लिए H देश के उपभोक्ता ADNM भुगतान करते हैं। परंतु इस मात्रा को निर्यात करने के लिए W देश की कुल लागत HKNM है। क्षेत्रफल ADNM तथा HKNM का अंतर जो चतुर्भुज ADKH के बराबर है, देश H की सरकार को प्रशुल्क राजस्व के रूप में प्राप्त होता है।

मान लीजिए देश H तथा देश P कर्स्टम यूनियन बना लेते हैं जिसके परिणामस्वरूप व्यापार निर्माण के अतिरिक्त व्यापार विचलन होता है। व्यापार विचलन तब होता है जब देश H यही MN मात्रा OP कीमत पर साथी देश P से आयात है और देश W से समस्त आयात बंद कर देता है। कर्स्टम यूनियन बनने के बाद देश H उसी MN मात्रा के लिए साथी देश P को क्षेत्रफल JENM के बराबर भुगतान करता है। परंतु कर्स्टम यूनियन बनने से पहले यह क्षेत्रफल HKNM के बराबर W देश को भुगतान कर रहा था। क्षेत्रफल JENM तथा HKNM का अंतर, जो छायांकित चतुर्भुज JEKH के बराबर है, व्यापार विचलन का परिणाम है। इस प्रकार छायांकित चतुर्भुज c (अर्थात् JEKH) देश H की कल्याण हानि को व्यक्त करता है।

निवल कल्याण प्रभाव (Net Welfare Effect)- हम ऊपर यह देख चुके हैं कि जब कर्स्टम यूनियन बनती है, तो उसके परिणामस्वरूप देश H को व्यापार निर्माण से कल्याण लाभ और व्यापार विचलन से कल्याण हानि होती है। कल्याण लाभ तथा कल्याण हानि का अंतर **निवल कल्याण प्रभाव** होता है। इसे चित्र पर दो त्रिभुजों के योग (a+b) तथा चतुर्भुज c के अंतर द्वारा इस प्रकार मापा गया है:

1. यदि $(a+b)=c$ तो कर्स्टम यूनियन से देश H के निवल कल्याण में न लाभ होता है और न ही हानि।
2. यदि $(a+b)>c$, तो H का निवल कल्याण बढ़ता है।
3. यदि $(a+b)<c$, तो देश H के निवल कल्याण में हानि होती है।

इस प्रकार निवल कल्याण प्रभाव के रूप में यदि व्यापार निर्माण प्रभाव अधिक प्रबल है, तो निवल कल्याण के रूप में कर्स्टम यूनियन से देश की स्थिति बेहतर हो जाती है। यदि व्यापार विचलन प्रभाव अधिक प्रबल है, तो कर्स्टम यूनियन से देश का निवल कल्याण अधिक खराब हो जाता है। यदि दोनों प्रभाव बराबर हों तो कल्याण लाभ तथा कल्याण हानि यूनियन के सदस्यों में बराबर-बराबर बँट जाते हैं। निष्कर्ष यह कि कर्स्टम यूनियन का निवल कल्याण प्रभाव इस बात पर निर्भर करता है कि इन दोनों में से कौन-सा प्रभाव अधिक प्रबल है।

अन्य बातें समान रहने पर देश H को अधिक लाभ की सम्भावना होती है यदि: (i) यूनियन की वस्तु कीमत, विश्व कीमत के बराबर है, (ii) यूनियन के बनने से पहले आयात की मात्रा कम है; और (iii) घरेलू मांग और पूर्ति कीमत के प्रति अधिक अनुकूल है।

आंशिक संतुलन विश्लेषण की सीमाएँ

(Limitations of Partial Equilibrium Analysis)

कर्स्टम यूनियन के आंशिक संतुलन विश्लेषण की निम्न सीमाएँ हैं:

1. यह अपूर्ण विश्लेषण है क्योंकि यह एकल वस्तु मॉडल पर आधारित है। वास्तव में, जब कर्स्टम यूनियन बनती है, तो वह एक नहीं अपितु बहुत-सी वस्तुओं को प्रभावित करती है।
2. यह विश्लेषण स्थिर व्यापार की शर्तों की मान्यता पर आधारित है ताकि व्यापार संतुलित रहे।
3. यह विश्लेषण बाकी दुनिया पर पड़ने वाले कर्स्टम यूनियन के प्रभाव का अध्ययन नहीं करता। वास्तव में, जब कर्स्टम यूनियन बनती है, तो वह साथी देशों के बीच ही नहीं अपितु बाकी दुनिया के साथ भी व्यापार की शर्तों में परिवर्तन कर देती है।

आंशिक संतुलन विश्लेषण की इन सीमाओं के कारण अर्थशास्त्रियों ने कर्स्टम यूनियन सिद्धान्त का सामान्य संतुलन द स्टिकोन विकसित किया है., जिसका विश्लेषण नीचे वानेक मॉडल के रूप में किया जा रहा है।

सीमा संघ के स्थैतिक व गत्यात्मक प्रभाव (Dynamic & Static Effect of Custom Union)

कस्टम यूनियन के स्थैतिक प्रभाव (Static Effects of Customs Union)

ऊपर के विश्लेषण के अलावा, कस्टम यूनियन बनने से जो कल्याण में लाभ या हानियाँ होती हैं उनके स्थैतिक प्रभाव निम्नलिखित घटकों पर निर्भर करते हैं:

- 1. संसाधनों का आवंटन (Allocation of Resources)-** यदि कस्टम यूनियन बनानेवाले देशों की संख्या अधिक होगी, तो व्यापार विचलन की बजाय व्यापार निर्माण की गुंजाइश अधिक रहेगी। परिणामस्वरूप, यूनियन बनने से कल्याण बढ़ेगा क्योंकि संसाधनों का बेहतर आवंटन होगा।
- 2. प्रशुल्क (Tariff Level)-** कस्टम यूनियन के सापेक्ष प्रभाव यूनियन बनने से पहले तथा बाद के औसत शुल्क स्तर से संबंध रखते हैं। यदि यूनियन बनने के बाद का प्रशुल्क स्तर अपेक्षाकृत कम होगा, तो इस बात की संभावना अधिक है कि यूनियन बनने से व्यापार निर्माण होगा क्योंकि इससे निम्न लागत उत्पादक को यूनियन से निकालने की संभावना कम रहेगी तथा लाभ होगा। दूसरी ओर, यदि यूनियन बनने के बाद प्रशुल्क ऊँचा होता है, तो यूनियन बनने से व्यापार विचलन की संभावना अधिक रहेगी क्योंकि उसे उच्च लागत उत्पादक को यूनियन में शामिल करना पड़ेगा जिससे हानि होगी। यदि यूनियन बनने से पहले औसत प्रशुल्क का स्तर ऊँचा होता है, तो यूनियन बनने से व्यापार निर्माण होगा क्योंकि यूनियन बनने के बाद जब प्रशुल्क हटाया जाएगा, तो उच्च लागत घरेलू वरस्तु की जगह निम्न लागत साथी देश की वरन्तु स्थानापन्न होगी और लाभ होगा। यदि पहले औसत प्रशुल्क स्तर कम होगा तो यूनियन बनने से व्यापार विचलन होगा तथा हानि होगी।
- 3. प्रतियोगिता (Competition)-** यदि यूनियन के देशों में इस दृष्टि से प्रतियोगिता है कि ये एक जैसी वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, तो व्यापार निर्माण होता है और इस प्रकार कल्याण में लाभ होता है। इसका कारण यह है कि यूनियन के एक सदस्य की वस्तु की जगह साथी देश की वस्तु की स्थानापन्नता बहुत बढ़ जाती है। दूसरी ओर, यदि यूनियन के सदस्य ऐसी विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जो एक-दूसरे की पूरक हैं, तो उच्च तथा निम्न लागत उत्पादकों की वस्तुओं की स्थानापन्नता की संभावना बहुत कम रह जाएगी। इसलिए कल्याण लाभ अपेक्षाकृत कम होगा।
- 4. संरक्षित वस्तुएँ (Protected Goods)-** प्रतियोगी अर्थव्यवस्थाओं में यूनियन होने पर संरक्षित वस्तुओं की प्रति इकाई लागतों में जितना अधिक अंतर होगा, व्यापार निर्माण के प्रबल होने की संभावना भी उतनी ही अधिक रहेगी। एक तो इसलिए कि घरेलू देश के उपभोक्ताओं को साथी देश की वस्तु बहुत सस्ते दामों पर उपलब्ध होगी जिससे उपभोग बढ़ेगा और घरेलू देश के उपभोक्ताओं की संतुष्टि बढ़ेगी तथा कल्याण लाभ बढ़ेगा। दूसरे, उच्च लागत घरेलू उत्पादन से निम्न लागत साथी देश उत्पादन खोतों में संसाधनों के व्यापार पुनः आवंटन होंगे। कुल मिलाकर, कल्याण में अधिक लाभ होगा।
- 5. परिवहन लागतें (Transport Costs)-** एक और महत्वपूर्ण कारक है परिवहन की लागतें जो प्राक तिक प्रशुल्क प्रतिबंध का कार्य करती हैं। यदि यूनियन के सदस्य देशों के बीच व्यापार में परिवहन लागतें अधिक होंगी, तो अदक्ष उत्पादकों को संरक्षण मिलेगा और इसके परिणामस्वरूप संसाधनों का अधिक दक्ष पुनर्विभाजन नहीं हो सकेगा। इससे वास्तव में कल्याण में हानि हो सकती है।

6. **प्रशासनिक खर्च (Administrative Costs)-** कस्टम यूनियन के बीच व्यापार प्रतिबंधों के समाप्त होने से जो प्रशासनिक खर्चों में कमी होती है उससे देशों को लाभ होता है। वे कस्टम अधिकारियों तथा अन्य एजेंसियों के वेतनों पर कम व्यय करते हैं जिनका संबंध वस्तुओं और उनकी गुणवत्ताओं की जांच तथा बार्डरों पर तस्करी रोकने के लिए गश्त आदि पर होता है।
7. **व्यापार शर्तें (Terms of Trade)-** यदि कस्टम यूनियन व्यापार विचलनकारी है तो वह सदस्य देशों की व्यापार शर्तों में सुधार कर सकती है। यदि यूनियन की आयात के लिए मँग की लोच अधिक है तो उन पर एक साझा प्रशुल्क लगाने पर भी आयात की कीमतें कम होंगी। निर्यात कीमतों में कोई परिवर्तन न होने पर यूनियन के सदस्यों की व्यापार शर्तों में सुधार होगा तथा उन्हें लाभ होगा।

कस्टम यूनियन के गत्यात्मक प्रभाव (Dynamic Effect of Customs Union)

कस्टम यूनियन के व्यापार निर्माण तथा व्यापार विचलन प्रभाव, जिनकी चर्चा ऊपर की गई है, स्थैतिक प्रभाव हैं और उनसे कल्याण बढ़ता और घटता है। **स्किटोव्स्की (Scitovsky), बलासा (Balassa) तथा कोर्डन (Corden)** ने कस्टम यूनियन बनने के स्थैतिक प्रभावों की अपेक्षा गत्यात्मक प्रभावों को अधिक महत्व दिया है। गत्यात्मक प्रभावों के प्रश्न पर अर्थशास्त्रियों में बहुत अधिक मतभेद हैं फिर भी कस्टम यूनियन के लाभ और हानियों का अध्ययन करना शिक्षाप्रद है।

गत्यात्मक लाभ (Dynamic Advantages)

एक कस्टम यूनियन के निम्न गत्यात्मक लाभ हैं:

1. **प्रतियोगिता को प्रोत्साहन (Stimulus to Competition)-** कस्टम यूनियन बनाने से एक गत्यात्मक लाभ तो यह होता है कि इससे प्रतियोगिता को प्रोत्साहन मिलता है। जब कस्टम यूनियन बनती है, तो सदस्यों के बीच प्रशुल्क समाप्त कर दिया जाता है और उनके उत्पादकों के लिए बाजार विस्तृत हो जाता है इसलिए उत्पादकों में प्रतियोगिता बढ़ती है। जो अल्पाधिकारी तथा एकाधिकारी फर्में, एक सदस्य देश के आश्रय में भारी और सुरक्षा बन चुकी होती हैं, अब उन्हें यूनियन के अन्य सदस्य देशों की प्रतिद्वंद्वी फर्मों की प्रतियोगिता में आना पड़ता है। इसी प्रकार, अकुशल फर्में तथा इष्टतम से कम आकार पर और प्रतियोगिता की लेपेट में आनेवाली फर्में निश्चय से प्रबंधकीय कुशलता तथा प्रौद्योगिकीय सुधारों के लिए प्रबल प्रोत्साहन सिद्ध होती हैं। इस प्रकार यूनियन के सदस्य देशों की फर्मों में प्रतियोगिता के परिणामस्वरूप फर्में अपने-आप को कायम रखने के लिए अपने ढाँचे को फिर से ऐसा ढालती हैं जिससे उन्हें लागतों तथा कीमतों में लाभ प्राप्त हो। **स्किटोव्स्की** का कहना है कि यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC) के विकास में इस तर्क का महत्वपूर्ण हाथ रहा है।
2. **साधन गतिशीलता (Factor Movements)-** जब कस्टम यूनियन एक साझे बाजार का रूप धारण कर लेती है तो यूनियन के भीतर पूँजी, श्रम तथा उद्यम मुक्तरूप से गति करते हैं। साधनों की गतिशीलता प्रतियोगिता की भावना का पोषण करती है, ज्ञान का प्रसार करती है और साधनों की उत्पादकता बढ़ती है, जिसके परिणामस्वरूप आर्थिक व द्वितीय होती है।
3. **पैमाने की मितव्ययिताएँ (Economics of Scale)-** जब कस्टम यूनियन बनती है, तो बाजार का आकार बढ़ता है, प्रतियोगिता बढ़ती है और विशिष्टीकरण की कोटि (degree) बढ़ती है जिसके परिणामस्वरूप लागतें घटती हैं। पैमाने की आंतरिक तथा बाह्य मितव्ययिताओं के कारण ऐसा हो सकता है। अनेक उद्योगों में बहुत सारी फर्में अपनी प्लांट क्षमता का पूरा उपयोग करती हैं और अपने इष्टतम आकार पर पहुँच जाती हैं। वे ऐसा स्पर्धा एवं नवप्रवर्तन तथा

अपेक्षाकृत बढ़े यूनियन बाजार में पूर्ति करने के कारण कर पाती हैं। जब यूनियन बनने से बाजार का विस्तार होता है और परिणामस्वरूप एक पूरा उद्योग बढ़ता है, तो पैमाने की बाह्य मितव्ययिताएँ भी प्राप्त होती हैं। वे इसलिए प्राप्त होती हैं कि यूनियन में श्रम, पूँजी, संसाधन, अनुसंधान तथा प्रबंधकर्ता सबका विकास होता है। लिप्से ने कहा है कि यदि संपूर्ण यूनियन बाजार विस्तार करता है तो उसका परिणाम यह होगा कि उद्योग का आकार बढ़ेगा जिससे पैमाने की मितव्ययिताओं के लाभ प्राप्त होंगे।

4. **तकनीकी परिवर्तन (Technical Changes)-** कस्टम यूनियन का एक और महत्वपूर्ण गत्यात्मक प्रभाव यह है कि जब यूनियन बनने से प्रतियोगिता बढ़ती है और बाजार का विस्तार होता है, तो उनसे स्पर्द्धा, नवप्रवर्तन तथा तकनीकी परिवर्तन को प्रोत्साहन मिलता है। जिन फर्मों को अब तक सरक्षण प्राप्त था, उन्हें अब अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए स्पर्द्धा अथवा नवप्रवर्तन करना पड़ता है। यूनियन में प्रतियोगी फर्मों की स्पर्द्धा के परिणामस्वरूप अनुसंधान तथा नई वस्तुओं का विकास और वर्तमान उत्पादकों में सुधार होता है। जो फर्में तथा उद्योग पैमाने की मितव्ययिताओं का लाभ उठा लेते हैं वे अनुसंधान तथा विकास कार्यों पर खुले हाथ से खर्च कर सकते हैं। इसमें तेजी से तकनीकी परिवर्तन होता है और आर्थिक व द्वितीय होती है।
5. **निवेश में व द्वितीय (Increase in Investment)-** क्योंकि कस्टम यूनियन बनने से प्रतियोगिता बढ़ती है, प्रौद्योगिकीय परिवर्तन होते हैं, अपेक्षाकृत अधिक वस्तु विशिष्टीकरण और बाजार का विस्तार होता है। इसलिए यूनियन बनने से निवेश बढ़ता है। कुछ गैर-सदस्य देश ऊँचे प्रशुल्कों से बचने के लिए कस्टम यूनियन देशों में फैक्टरियाँ स्थापित करते हैं। ऐसी टैरिफ फैक्टरियाँ कस्टम यूनियन में निवेश को और बढ़ाती हैं। परंतु यह अनुमान लगाना कठिन है कि निवेश का निवल प्रभाव क्या होगा क्योंकि यूनियन बनने से जहाँ कुछ उद्योगों में निवेश बढ़ता है, वहाँ कुछ उद्योगों में निवेश रुक भी सकता है। यदि कस्टम यूनियन बनने से आयात-प्रतियोगी (import-competing) उद्योग बंद हो जाएँगे, तो निवेश रुक जाएगा। परंतु कस्टम यूनियन में अधिकतर फर्मों को तीव्र स्पर्द्धा का सामना करना पड़ता है इसलिए निवेश में निश्चय ही पर्याप्त निवल (net) व द्वितीय होती है।
6. **व्यापार की शर्तों में सुधार (Improvement in Terms of Trade)-** जब एक कस्टम यूनियन बनती है तो वह बाकी विश्व के विरुद्ध प्रशुल्क बढ़ाती है। परिणामस्वरूप, आयात कम हो जाते हैं और यूनियन की सौदा करने की शक्ति बढ़ती है। इससे बाकी विश्व से संबद्ध यूनियन सदस्यों की व्यापार की शर्तों में सुधार होता है। आगे, बेहतर व्यापार शर्तें यूनियन सदस्यों की भुगतान संतुलन स्थिति सुधारने में भी सहायक होती हैं।
7. **सतत आर्थिक व द्वितीय (Sustained Economic Growth)-** बढ़ी हुई प्रतियोगिता पैमाने की मितव्ययिताएँ, तकनीकी परिवर्तन, और बढ़ी हुई साधन गतिशीलता का परिणाम यह होता है कि कस्टम यूनियन के सदस्यों देशों में कुल उत्पादन, आय तथा रोजगार एक ही साथ स्थायी रूप से बढ़ते हैं। इसके परिणामस्वरूप आर्थिक व द्वितीय की दर बढ़ जाती है। जब यूनियन देशों में व्यापार संभावनाएँ बराबर बदलती रहती हैं, निवेश की दरें बढ़ती जाती हैं और सूचना, ज्ञान तथा नई उत्पादन तकनीकों का प्रसार होता है, तो आर्थिक व द्वितीय की ऊँची दरें बनी रहती हैं। इस प्रकार, यूनियन बनने से उत्पन्न स्थायी तथा निरंतर चलनेवाले दोनों प्रकार के परिवर्तन, सदस्य देशों में सतत आर्थिक व द्वितीय लाते हैं।
8. **मौद्रिक यूनियन (Monetary Union)-** कस्टम यूनियन का एक गत्यात्मक लाभ एक मौद्रिक यूनियन का निर्माण है, जिसमें एक एकल (Single) करेंसी, विदेशी विनिमय रिजर्वों का एक सांझा संघ तथा एक एकल केन्द्रीय बैंक का होना और सदस्य देशों के बीच मौद्रिक नीतियों का समन्वय करना है।

9. **राजकोषीय सामंजस्य (Fiscal Harmonization)-** एक कस्टम यूनियन स्फीति को नियंत्रित करने तथा बरोजगारी को कम करने के लिए सदस्य राष्ट्रों द्वारा समन्वित (Coordinated) बजटरी नीतियाँ लाती हैं।

गत्यात्मक हानियाँ

(Dynamic Disadvantages)

एक कस्टम यूनियन की निम्नलिखित गत्यात्मक हानियाँ हैं:

- पैमाने की अमितव्ययिताएं (Diseconomics of Scale)-** यदि कस्टम यूनियन के कारण बहुत बड़ी कंपनियों की व द्वितीय होती है तो वे भारी भरकम तथा अकुशल हो सकती हैं जिससे पैमाने की मितव्ययिताएं होती हैं।
- अल्पाधिकारात्मक कपटसंधि (Oligopolistic Collusion)-** कुछ बड़ी कंपनियों के कई देशों में कार्यरत रहने के कारण यह उनमें आपस में अल्पाधिकारात्मक कपटसंधि का कारण बन सकती है। इससे कंपनियों के विलय (Merger) और अधिकार करने (Takeover) को प्रोत्साहन मिलता है जिससे एकाधिकार शक्ति बढ़ती है। इन दोनों का प्रभाव कस्टम यूनियन में कीमतों को ऊँचे स्तर पर रखना है।
- संसाधनों का कुआवंटन (Mallocation of Resources)-** क्योंकि श्रम तथा पूँजी की यूनियन के सदस्य देशों में आने-जाने की स्वतंत्रता होती है, इस कारण संसाधन कम विकसित सदस्य देशों से अधिक विकसित सदस्य देशों की ओर जा सकते हैं। इससे संसाधनों का कुआवंटन होता है जिससे कम विकसित सदस्य देश भी बुरी हालत में रहते हैं।
- ध्रुवण प्रभाव (Polarisaton Effect)-** व्यापार निर्माण के लाभों के एक प्रदेश अथवा क्षेत्र में केन्द्रीयकरण के कारण एक कस्टम एक विशेष सदस्य देश की आर्थिक स्थिति को या तो संचित ह्वास की ओर ले जा सकती है अथवा श्रम पूँजी का दूसरे सदस्य देशों से अपनी ओर आकर्षित करने की प्रवत्ति को बढ़ा सकती है। इसे कस्टम यूनियन का ध्रुवण प्रभाव कहते हैं।
- ऊँची प्रशासनिक लागतें (High Administrative Costs)-** कस्टम यूनियन के सदस्य देशों को इसके प्रशासनिक खर्च देने पड़ते हैं। कुछ सदस्य यह जानते हुए कि ये खर्च साझी राशि में से दिए जाएँगे, अपने लाभों के लिए विशेष दबाव डालते हैं जिससे खर्च बहुत अधिक बढ़ सकते हैं।

निष्कर्ष (Conclusion)- एक कस्टम यूनियन के ऊपर वर्णित गत्यात्मक प्रभावों (लाभों तथा हानियों) का निष्कर्ष निकालना मुश्किल है क्योंकि वे यूनियन के आकार, प्रवत्तियों तथा नीतियों पर और विश्व की घटनाओं पर निर्भर करते हैं।

विकासशील देशों में आर्थिक एकीकरण

(Economic Integration among Developing Countries)

आर्थिक एकीकरण की आवश्यकता

(Need of Economic Integration)

विकासशील देशों में उनके आर्थिक एकीकरण की आवश्यकता को तीव्र करने के लिए निम्न तरीकों का सहारा लिया जा सकता है: 1. विनिर्माण उद्योगों की स्थापना तथा व द्वितीय को प्रोत्साहित करके; 2. अन्तर प्रादेशिक तथा अतिरिक्त-प्रादेशिक व्यापार द्वारा; 3. व्यापार से लाभों में व द्वितीय लाकर; और 4. प्रतियोगी बाजारों के विस्तार के लाभों को प्रदान करके।

विकासशील देश मुख्यतः प्राथमिक वस्तुओं का निर्यात करते हैं जिनका विश्व बाजार में मुक्तरूप से व्यापार होता है। उनके आयात मुख्यतौर पर मध्यवर्ती (Intermediate) तथा निर्मित वस्तुएँ होती हैं जिनका उनमें से अधिकतर या तो उत्पादन करते ही नहीं अथवा बहुत कम उत्पादन करते हैं। व्यापार के मौजूदा ढाँचे को बदलने के लिए आर्थिक एकीकरण की आवश्यकता है जिसके लिए उत्पादन के वर्तमान ढाँचे को बदलना आवश्यक है। लक्ष्य उनकी अर्थव्यवस्थाओं का आधुनिक तरीकों पर औद्योगीकरण करना है।

सदस्य देशों में अकुशल उत्पादक इकाईयों को नष्ट करके व्यापार निर्माण करने की बहुत कम रुचि होती है। लेकिन विश्व के दूसरे देशों से सदस्य देशों को खरीदारियाँ स्थानांतरण करके व्यापार विचलन में अधिक रुचि है तथा अधिक रचनात्मक तौर से पैमाने की मितव्ययिताओं की उपलब्धता है।

इसका उद्देश्य औद्योगीकरण द्वारा अपने उपयुक्त संसाधनों को संचालित करके उपयोग में लाने से भी है।

अंततः कस्टम यूनियन अथवा मुक्त व्यापार क्षेत्र के विकास के लिए विदेशी निवेश को आकर्षित करना तथा इसके लाभप्रद उपयोग की आवश्यकता है।

विकासशील देशों को आर्थिक एकीकरण के लाभ (Benefits from Economic Integration for Under Developed Countries (UDC))

विकासशील देशों में आपस में एकीकरण के बहुत प्रत्याशित लाभ हैं। जब विकासशील देश आपस में एक व्यापारिक ब्लाक अथवा कस्टम यूनियन या मुक्त व्यापार क्षेत्र बनाते हैं तो उनके लिए निम्न लाभ उत्पन्न होते हैं:

1. सदस्य देशों में आपस में व्यापारिक प्रतिबंधों के हटने से व्यापार का विस्तार होता है।
2. जब ऊँची लागतों पर वस्तुएँ उत्पादन करनेवाले साथियों के स्थान पर कम लागतोंवाले उत्पादकों का साथ मिलता है तो व्यापार निर्माण होता है।
3. इससे संसाधन कम कार्यकुशल से अधिक कार्यकुशल उत्पादन की ओर जाते हैं। इससे व्यापार के लाभों में और अधिक व द्विः होती है।
4. क्योंकि विकासशील देशों के विशेष प्रदेशों में उपयोग के ढाँचे और स्तर समान होते हैं, इसलिए उनमें क्षेत्रीय व्यापार समझौते उनके बाजारों का विस्तार तथा विकास करने के अधिक अवसर प्रदान करते हैं।
5. नए उद्योगों की स्थापना तथा वर्तमान विनिर्माण उद्योगों के विस्तार के लिए अंतर्राष्ट्रीय समझौतों के आधार पर सदस्य देश पैमाने की मितव्ययिताओं से लाभ प्राप्त कर सकते हैं। देशों तथा उद्योगों का चुनाव उनकी साधन संपन्नता और विस्तर त व्यवहारिका (feasibility) तथा सामाजिक लागत-लाभ अध्ययनों के आधार पर किया जा सकता है। उत्पादन के ढाँचे में वांछित परिवर्तन लाने के लिए विविध उपायों जैसे आयातित निर्मित वस्तुओं पर प्रशुल्कों, राजकोषीय प्रोत्साहनों तथा प्रशासनिक नियंत्रणों की आवश्यकता होगी।
6. विकासशील देश पैमाने की मितव्ययिताओं का लाभ उठाने के लिए तथा अपने वर्तमान प्लांटों या प्रक्रियाओं की अतिरिक्त क्षमताओं को प्रयोग में लाने के लिए, उनके विकास के लिए पूरक समझौते (complementary agreements) कर सकते हैं। यह मुक्त व्यापार यूनियन के अंदर ऐसे प्लांटों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की आंतरिक माँग को पूरा कर देंगे।
7. विकासशील देशों में क्षेत्रीय एकीकरण उनमें आपस में प्रतिस्पर्द्धा को प्रोत्साहित करता है। हर सदस्य देश विशेष उद्योगों में नवप्रवर्तनों तथा उत्पादन के नए तरीकों को अपनाने का प्रयत्न

करता है। इससे नई मशीनों तथा उपकरणों के निवेश को बढ़ाकर इसकी तकनीकी तथा उत्पादकीय कुशलता में व द्विः होती है। संसाधनों को कम क्षमता से अधिक क्षमता वाले उद्योगों की ओर पुनः आवंटन होता है। परिणामस्वरूप उत्पादन की लागतें कम होती हैं, व्यापारिक ब्लाक में व्यापार के फैलाने से उत्पादन, रोजगार तथा आय में व द्विः होती है।

8. विकासशील देशों के बीच नए क्षेत्रीय-आधारित निर्माण उद्योग प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को आकर्षित करते हैं जिन्हें पैमाने की मितव्ययिताओं के लाभ प्राप्त होते हैं। इसके लिए चुने हुए उद्योगों अथवा प्लाटों की स्थापना के लिए अंतःसरकारी समझौतों और नीति उपायों जैसे विदेशी प्रतियोगिता के विरुद्ध प्रशुल्क लगाने, उनके कार्यान्वयन तथा सफलता के लिए राजकोषीय तथा प्रशासनिक उपायों की आवश्यकता होती है।
9. दीर्घकाल में नए निर्माण उद्योग सदस्य देशों की स्थानीय माँग को पूरा कर लेंगे। बाजार के प्रसार तथा पैमाने की मितव्ययिताओं में व द्विः के साथ ये उद्योग विश्व बाजारों से प्रतिस्पर्द्धा कर पाएँगे तथा निर्मित वस्तुओं का निर्यात कर सकेंगे।
10. क्षेत्रीय एकीकरण सदस्य देशों की वस्तु व्यापार की शर्तों में सुधार ला सकता है। यह तभी प्राप्त होता है, यदि सदस्यों की आयात की माँग में आयात-स्थानापन्न उत्पादित करके, आयातित वस्तुओं पर प्रशुल्क लगाकर तथा बाहर के देशों को निर्यात बढ़ाकर कमी लाई जा सके। फिर भी ये स्थितियाँ दीर्घकाल में प्राप्त की जा सकती हैं जब विकासशील देश स्फूर्ति (Take off) की अवस्था में पहुंच गए हों।

UDC को आर्थिक एकीकरण की समस्याएँ (Problems of Economic Integration for UDC's)

विकासशील देशों द्वारा कस्टम यूनियन अथवा मुक्त व्यापार क्षेत्र बनाने में बहुत-सी कठिनाइयाँ हैं। उनका नीचे वर्णन किया गया है:

1. **राजनैतिक (Political)-** किसी भी क्षेत्रीय एकीकरण में हमेशा छोटे, बड़े तथा कम विकास और अधिक विकास कर रहे देश होते हैं। छोटे, कमजोर तथा कम विकास कर रहे देशों को अपने से बड़े तथा शक्तिशाली पड़ोसियों के साथ कस्टम यूनियन बनाने में अपनी स्वतंत्रता तथा प्रभुसत्ता पर खतरा लगता है। ऐसा विशेषरूप से एशिया तथा अफ्रीका में खासतौर पर होता है, जहाँ राष्ट्रीय प्रतिरूपिता तथा सीमाओं के झगड़े हैं।
2. **प्रशासनिक (Administrative)-** कस्टम यूनियन की कुछ प्रशासनिक आवश्यकताएँ होती हैं जो गरीब तथा कमजोर सदस्यों की समर्थता से बाहर हो सकती हैं। उनके पास यूनियन की नीतियों के कार्यान्वयन के लिए कुशल तथा पर्याप्त प्रशासनिक कर्मचारी नहीं हो सकते हैं।
3. **लाभों का अनियमित वितरण (Uneven Distribution of Benefits)-** विकासशील देशों में आपस में कुछ असमानताएँ होती हैं जो आय के नियायसंगत वितरण में बाधाएँ उत्पन्न करती हैं। पिछड़े तथा कमजोर देश डरते हैं कि आर्थिक रूप से उनसे अच्छे साथी देश आर्थिक विकास में सहायक बनने के स्थान पर उसे बिगड़ देंगे। इसलिए वे उन देशों के साथ यूनियन बनाने के अनिच्छुक होते हैं।
4. **भौगोलिक दूरियाँ (Geographical Distances)-** विकासशील देशों का आमतौर पर एक दूसरे के साथ भौगोलिक निकटता का अभाव होता है। आर्थिक यूनियन की सफलता के लिए निकटता का होना आवश्यक है। यदि उनमें भौगोलिक निकटता होती भी है तो उनके पास अच्छी परिवहन व्यवस्था, संचार, बुनियादी ढाँचा तथा एक से दूसरे प्रदेश में व्यापार कर पाने की सुविधाएँ नहीं होती हैं।
5. **व्यापार विचलन (Trade Diversion)-** विकासशील देशों में विदेशी व्यापार की मात्रा स्वदेशी

उत्पादन की तुलना में आमतौर पर अधिक होती है। क्षेत्र के कुल विदेशी व्यापार की अपेक्षा अंतरक्षेत्रीय (inter-regional) व्यापार की मात्रा बहुत कम होती है। यूनियन बनाने से इन दो विविध व्यापार घटकों के ढाँचे से विकासशील देशों में व्यापार विचलन होगा। ऐसा इस कारण कि पुराने व्यापार की दिशा में बाहरी देशों के साथ व्यापार की बजाए एक दूसरे सदस्य देश के साथ व्यापार होगा। इसलिए यूनियन बनाने का कोई लाभ नहीं क्योंकि व्यापार विचलन हमेशा हानिकारक होता है।

6. **आर्थिक तौर से भिन्न** (Economically Diverse)- अधिकतर विकासशील देश प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन तथा निर्यात करते हैं। क्योंकि वे विश्व बाजारों में अपनी प्राथमिक वस्तुओं के प्रतियोगी होंगे इसलिए आर्थिक यूनियन बनाने से कोई लाभ नहीं होगा। **किंडलबर्गर** (Kindleberger) के अनुसार वे आर्थिक तौर पर एकीक त नहीं हैं। एक प्रकार से वे पूरक के स्थान पर प्रतियोगी अधिक हैं तथा उनके प्रतियोगी स्वार्थ उनके आपस में आर्थिक यूनियन बनाने में कठिनाई उत्पन्न करते हैं।
7. **राजस्व की हानि** (Loss of Revenue)- क्षेत्रीय यूनियन बनाने के साथ राजस्व में हानि होने का डर भी विकासशील देशों के आर्थिक एकीकरण में बाधा उत्पन्न करता है। ऐसा इसलिए कि आर्थिक एकीकरण के साथ अंतर्क्षेत्रीय प्रशुल्क भी समाप्त हो जाएँगे। इसके अतिरिक्त यूनियन बनने तथा साझा बाह्य प्रशुल्क अपनाने से कमजोर सदस्य अपनी राजस्व की आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु ख्याल प्रशुल्कों को बढ़ाने की स्थिति में नहीं होंगे।

निष्कर्ष (Conclusion)- ये कठिनाइयाँ तथा समस्याएँ विकासशील देशों में आर्थिक एकीकरण की असफलता अथवा धीमी प्रगति की व्याख्या करती हैं। उदाहरण के तौर पर सेण्ट्रल अमेरिकी कॉमन मार्केट (CACM) प्रारंभ में कुछ सफलता के उपरांत 1969 में तोड़ दी गई। ईस्ट अफ्रीका कॉमन मार्केट (EACM) भी समाप्त कर दी गई।

विकासशील देशों में आर्थिक एकीकरण को प्रोत्साहित करने के उपाय

(Measures to Encourage Economic Integration among Developing Countries)

विकासशील देशों के बीच आर्थिक यूनियन (या मुक्त व्यापार क्षेत्र या क्षेत्रीय ब्लाक) के बनाने तथा सफलता के लिए निम्न उपाय सुझाए जाते हैं:

यह ध्यान देना आवश्यक है कि सभी उपायों का लक्ष्य आर्थिक संबंधों को मजबूत बनाने के अतिरिक्त क्षेत्र के पिछड़े सदस्यों में प्रभावशाली सदस्यों के द्वारा उनके डर का समाधान करके विश्वास उत्पन्न करने की आवश्यकता है।

1. **व्यापारिक उदारीकरण** (Trade Liberalisation)- पहला कदम क्षेत्रीय व्यापार का आंशिक उदारीकरण लाने की ओर उठाया जाना चाहिए। यह विशेष वस्तुओं में ही होना चाहिए ऐसी वस्तुएँ जिनमें क्षेत्र के सदस्यों को तुलनात्मक लाभ प्राप्त हैं। उन पर व्यापार प्रतिबंधों को धीरे-धीरे समाप्त करना चाहिए। बड़े देशों को कमजोर देशों से व्यापार प्रतिबंधों के बिना वस्तुएँ आयात करने को प्राथमिकता देनी चाहिए। दूसरी ओर छोटे देशों को बड़े देशों से आयातित वस्तुओं पर हल्के प्रशुल्क लगाने का अधिकार होना चाहिए ताकि उनको राजस्व की हानि न हो।
2. **व्यापार का बुनियादी ढाँचा** (Trade Infrastructure)- अंतरक्षेत्रीय व्यापार के विकास के लिए, क्षेत्र में प्रभावशाली बुनियादी ढाँचा जैसे परिवहन तथा संचार की सुविधाएँ चाहिए। साझी सीमा वाले देश एक दूसरे को सड़क तथा रेल यातायात सुविधाओं द्वारा जोड़ सकते हैं।
3. **विदेशी निवेश तथा प्रौद्योगिकी** (Foreign Investment and Technology)- क्षेत्र के देशों

में विदेशी निवेश तथा प्रौद्योगिकी के प्रवेश के लिए एक क्षेत्रीय समझौता होना चाहिए। ऐसा समझौता विदेशी आपूर्तिकर्ताओं के साथ सभी देशों के लाभ के लिए सौदेबाजी कर सकता है। यह क्षेत्रीय देशों में संयुक्त उद्योगों की स्थापना तथा प्रौद्योगिकी स्थानांतरण के बारे में निर्णय भी ले सकता है। इस विषय में पिछड़े देशों के अधिकारों का संरक्षण आवश्यक है।

4. **प्रति व्यापार (Counter-Trade)**- अंतर्क्षेत्रीय व्यापार को प्रोत्साहन देने तथा बड़े और छोटे देशों में सहयोग के लिए, प्रतिव्यवहार अर्थात् वस्तुओं की खरीद की बजाय वस्तुओं तथा सेवाओं का विनिमय प्रारंभ किया जाए।
5. **क्षेत्रीय संस्थाएँ (Regional Institutions)**- अंतर्क्षेत्रीय व्यापार में व द्वितीय लाने के लिए क्षेत्रीय संस्थाएं जैसे संयुक्त व्यापार परिषदें, व्यापार प्रोत्साहन संगठन, क्षेत्रीय व्यापार सूचना केन्द्र, क्षेत्रीय व्यापार संसाधन (Processing) मंडल आदि सहायक बन सकते हैं।
6. **भुगतान शेष का सहारा (Balance of Payments Support)**- अंतर्क्षेत्रीय व्यापार में आर्थिक तौर पर कमजोर देश भुगतान शेष समस्याओं से ग्रस्त होते हैं। ऐसे देशों को भुगतान शेष में सहायता देने के लिए एक क्षेत्रीय यूनियन बनाई जाए जिसके सभी सदस्य देश निधियाँ प्रदान करें तथा बड़े देशों का अंशदान इस निधि में अधिक हो।
7. **ऋण सुविधाएँ (Credit Facilities)**- निर्यातकों को ऋण सुविधाएँ देने के लिए तथा आयातकों के लिए पर्याप्त साख सीमा प्रदान करने के लिए और वर्तमान व्यापारिक वित्तीय संस्थाओं तथा व्यापारिक बैंकों की क्रियाओं में समन्वय के लिए एक क्षेत्रीय केन्द्रीय बैंक स्थापित किया जाना चाहिए। यह अंतर्क्षेत्रीय व्यापार की व द्वितीय में सहायक होगा।
8. **राजकोषीय प्रोत्साहन (Fiscal Incentives)**- जब कस्टम यूनियन बनाई जाती है तो छोटे देशों को उनके प्रशुल्क राजस्व में, जो उनके कुल राजस्व का बहुत बड़ा भाग होता है, बहुत अधिक हानि उठानी पड़ती है। इसलिए यूनियन को ऐसे सदस्य देशों के लिए बड़े सदस्य देशों के अंतःसरकारी बजट अंतरणों (Transfers) द्वारा, उनकी वास्तविक राजस्व हानि की क्षतिपूर्ति करनी चाहिए। ऐसा सदस्य देशों में एक समझौता अपनाकर किया जा सकता है ताकि राजकोषीय प्रोत्साहन का समन्वय बना रहे।

वित्तीय प्रोत्साहन कमजोर सदस्य देशों में अंतर्देशीय वित्तीय अंतरणों द्वारा नए उद्योग लगाने के लिए भी दिए जा सकते हैं। एक अन्य उपाय क्षेत्रीय विकास बैंक स्थापित किया जाए जो ऐसे देशों के बुनियादी ढाँचे तथा उद्योगों में निवेश के लिए अधिमान के आधार पर वित्तीय उधार दे सके।

UNIT-III

अध्याय-24

स्वर्णमान प्रणाली का उदय और पतन (Rise & Fall of International Gold Standard)

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली का अर्थ विश्व मुद्रा बाजार में चालू उस प्रणाली से है जिनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और पूँजी गतियों को वित्त प्रदान किया जाता है और विनिमय दर निर्धारित की जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली को मुख्यतया निम्न भागों में बाँटती हैं:-

1. International Gold Standard System
2. Bretton Woods System 1944-71
3. SDR System
4. Postmaastrist Development in International Monetary System

यहाँ पर हम केवल Gold Standard System के गुण, अवगुण और उसके भविष्य की व्याख्या कर रहे हैं।

International Gold Standard

‘स्वर्णमान’ एक धातुमान का सर्वाधिक प्रचलित स्वरूप रहा है स्वर्णमान सर्वप्रथम इंगलैंड ने 1816 में और कालान्तर में संसार के दूसरे देशों ने अपनाया। प्रथम महायुद्ध के समय स्वर्णमान का संचालन कठिन हो गया तथा अधिकांश देशों ने इसे त्याग दिया। युद्धोत्तरकाल में स्वर्णमान की पुनः स्थापना हुई, किन्तु यह अधिक समय नहीं टिक पाया तथा 1937 तक संसार से विलुप्त हो गया।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का अर्थ और परिणाम

‘अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान’ का अभिप्राय उस अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था से है, जिसमें विभिन्न देशों की मुद्राएं स्वर्ण में परिवर्तनशील होती हैं अर्थात् ‘चलन इकाई’ और ‘स्वर्ण की इकाई’ के बीच निश्चित आनुपातिक सम्बन्ध होता है। विभिन्न देश वैधानिक रूप से अपनी मुद्रा का मूल्य शुद्ध स्वर्ण की निश्चित मात्रा में परिभाषित (वर्णित) करते हैं। उनके मुद्रा-अधिकारी निश्चित मूल्य पर असीमित मात्रा में स्वर्ण खरीदने-बेचने के लिए तैयार रहते हैं। उनके बीच स्वर्ण के आयात-निर्यात पर किसी तरह का प्रतिबन्ध नहीं होता।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के कार्यकरण की दशाएँ

यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन या समझौते की आवश्यकता नहीं होती, तथापि इसके सफल संचालन हेतु स्वर्णमान देशों द्वारा निश्चित नियमों का पालन आवश्यक होता है। कीन्स ने इन्हें ‘स्वर्णमान के खेल के नियम (Rules of the Gold Standard Game) कहा है। ये नियम अग्रलिखित हैं-

- (1) स्वर्ण का स्वतन्त्र आयात-निर्यात- स्वर्णमान देशों के बीच स्वर्ण का आयात-निर्यात स्वतन्त्र

होना चाहिए, ताकि इन देशों के भुगतानशेष में स्वतः सन्तुलन स्थापित हो सके। स्वर्णमान देशों में 'स्वर्ण-बन्ध्यता नीति' (Gold Sterilization Policy) का कोई स्थान होता; अन्यथा अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की क्रियाशीलता में अनेकों कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। स्वर्ण का स्वतन्त्र आयात-निर्यात स्वर्णमान देशों के बीच उनकी व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार स्वर्ण-कोषों के वितरण में सहायक होता है।

- (2) **स्वर्ण-कोषों में परिवर्तन के अनुरूप मुद्रा और साख में परिवर्तन-** स्वर्णमान का आधारभूत नियम यह है कि स्वर्ण का आयात होने पर चलन एवं साख का विस्तार होना चाहिए तथा स्वर्ण का निर्यात होने पर चलन एवं साख का संकुचन होना चाहिए। क्राउथर (Crowther) के शब्दों में, 'स्वर्णमान का सुनहरी नियम यह है कि जब स्वर्ण देश में आ रहा हो, तब साख का विस्तार करो और जब स्वर्ण देश से बाहर जा रहा हो, तब साख का संकुचन करो।' इस नियम का पालन करने से अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की स्वयं संचालकता बनी रहती है।
- (3) **स्वर्ण-कोषों में परिवर्तन के अनुसार कीमतों में परिवर्तन-** स्वर्ण के स्वतन्त्र आयात-निर्यात के फलस्वरूप स्वर्ण-कोषों में उपस्थित परिवर्तन के अनुरूप स्वर्णमान देशों को घरेलू कीमत-स्तर, व्याज तथा मजदूरी की दरों में परिवर्तन होने देना चाहिए। यदि इस तरह के परिवर्तन नहीं होने दिए गए तब अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की स्वयं संचालकता समाप्त हो जाएगी तथा स्वर्णगतियों के परिणामस्वरूप विभिन्न स्वर्णमान देशों के मूल्य-स्तरों में समानता स्थापित नहीं हो सकेगी। अतः स्वर्णमान देशों की अर्थव्यवस्थाएँ लोचपूर्ण और प्रतिस्पर्धी होनी चाहिए, ताकि इन देशों में कीमत-स्तरों, मजदूरी एवं व्याज की दरों तथा उत्पादन-लागतों पर स्वर्ण-गतियों का तुरन्त प्रभाव पड़ सके।
- (4) **स्वतन्त्र व्यापारिक नीति का अनुसरण-** स्वर्णमान देशों की वस्तुओं के आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए, ताकि उनके भुगतानशेष की असाम्यता स्वर्ण-गतियों द्वारा प्रोत्साहित वस्तुओं के आयात-निर्यात द्वारा ठीक हो सके। स्वर्णमान देशों द्वारा स्वतन्त्र व्यापारिक नीति का अनुसरण अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की स्वयं-संचालकता बनाए रखने के लिए आवश्यक है।
- (5) **स्वर्ण-समता का पालन-** स्वर्णमान देशों के मुद्रा-अधिकारियों की निश्चित दर पर तथा असीमित मात्रा में स्वर्ण के क्रय-विक्रय द्वारा स्वर्ण-समता कायम रखनी चाहिए। उनके द्वारा घरेलू मुद्रा के स्वर्ण-मूल्य का न तो अधिमूल्यन किया जाना चाहिए और न अवोमूल्यन।
- (6) **घरेलू मौद्रिक-नीति को गौण महत्व-** स्वर्णमान देशों के केन्द्रीय बैंकों को अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक स्थिरता बनाए रखने के लिए घरेलू मौद्रिक-नीति के स्वतन्त्र उद्देश्यों का परित्याग कर देना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान सफलतापूर्वक तथी कार्य कर सकता है, जबकि स्वर्णमान देशों के मुद्रा-अधिकारी घरेलू मौद्रिक नीति की परवाह किए बिना स्वर्णमान के खेल के नियमों का पालन करते रहें।
- (7) **पूँजी-गतिशीलता का अभाव-** पूँजी की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता स्वर्णमान की स्वयं-संचालकता में बाधक होती है। अतः इसे रोका जाना चाहिए। स्वर्णमान में स्वतः समायोजन तभी सम्भव है, जबकि स्वर्णमान देशों की निवेश-कीमतों में समानता हो।
- (8) **राजनीतिक स्थिरता-** स्वर्णमान देशों में राजनीतिक स्थिरता होनी चाहिए, ताकि अस्थिरता के कारण स्वर्ण का अनावश्यक हस्तान्तरण न हो।

स्वर्ण गतियों का सिद्धान्त

'स्वयं-संचालिकता' अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की प्रमुख विशेषता बताई जाती है, जिसका अर्थ यह है कि

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण गतियों के माध्यम से स्वर्णमान देशों के भुगतानशेष में स्वतः सन्तुलन स्थापित हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की स्वतः समायोजनकारी प्रक्रिया (Self-adjusting Process) स्वर्ण गतियों के सिद्धान्त द्वारा समझायी जा सकती है।

निर्यातों की तुलना में आयातों की अधिकता के कारण जिस स्वर्णमान देश के भुगतानशेष में घाटा उपस्थित हो जाता है, वह घाटा पाटने के लिए अपने स्वर्ण-कोषों का प्रयोग करता है अर्थात् स्वर्ण का निर्यात करता है। स्वर्ण का निर्यात होने से अमुक देश में चलन और साख का संकुचन होगा। फलतः वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें नीची हो जाएँगी, जिससे निर्यात प्रोत्साहित होंगे तथा आयात हतोत्साहित होंगे। कुल मिलाकर, भुगतानशेष की प्रतिकूलता समाप्त हो जाएगी; क्योंकि आयातों की अपेक्षा निर्यातों की अधिकता के कारण अमुक देश में स्वर्ण का आयात होने लगेगा। दूसरी ओर, भुगतानशेष में आधिक्य की स्थिति के कारण जिस देश में स्वर्ण जाता है, वहाँ स्वर्ण-कोष की मात्रा बढ़ जाने के कारण मुद्रा और साख का प्रसार होता है। फलतः वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें बढ़ जाती हैं, जिससे निर्यात हतोत्साहित होते हैं तथा आयात बढ़ते हैं। निर्यातों की तुलना में आयातों की अधिकता के कारण स्वर्ण देश से बाहर जाने लगता है तथा भुगतानशेष में अतिरेक (Surplus) की स्थिति समाप्त हो जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की स्वतः समायोजनकारी प्रक्रिया सापेक्षित कीमतों तथा आय में परिवर्तन के माध्यम से कार्य करती है। इस प्रक्रिया में स्वर्णमान देशों के मुद्रा-अधिकारियों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। जिस देश से स्वर्ण बाहर जाता है, उसका मुद्रा-अधिकारी 'बैंक-दर' बढ़ा देता है। इससे साख का संकुचन होता है, कीमतें गिरने लगती हैं तथा निर्यात बढ़ने लगते हैं। दूसरी ओर, जिस देश का स्वर्ण प्राप्त होता है, वहाँ 'बैंक-दर' घटा दी जाती है। इससे साख का विस्तार होता है, कीमतें बढ़ जाती हैं तथा निर्यात घट जाते हैं। कुल मिलाकर, स्वर्ण गतियों के अनुसार साख का संकुचन और विस्तार अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की स्वयं संचालकता सम्भव बनाता है। स्वर्णमान की स्वयं-संचालकता द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में स्वतः सन्तुलन स्थापित हो जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के गुण

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण 'अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय का माध्यम' तथा 'अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों का मापक' होता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के प्रमुख गुण (लाभ) निम्नलिखित हैं-

- (1) **'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा'** के विचार को साकार रूप- अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत विभिन्न देशों को अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय का माध्यम तथा मूल्यों का मापक प्राप्त हो जाता है। आर०पी० कैण्ट (R.P.Kent) के शब्दों में, "मूल्य के अन्तर्राष्ट्रीय मापक के रूप में स्वर्णमान महत्वपूर्ण सेवा करता है; क्योंकि यह विभिन्न देशों की वस्तुओं की परस्पर तुलना सम्भव बना देता है।" इस तरह, दर्जनों विदेशी बाजारों में क्रय-विक्रय करने की सापेक्षिक उपयोगिता का सरलता से निश्चय किया जा सकता है।"
- (2) **स्थायी विनिमय दरें-** अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत विभिन्न देशों की मुद्राओं का मूल्य शुद्ध स्वर्ण की निश्चित मात्रा में परिभाषित होता है। प्रत्येक स्वर्णमान देश का मुद्रा-अधिकारी घोषित दर पर असीमित मात्रा में स्वर्ण खरीदने-बेचने के लिए तैयार रहता है। फलतः स्वर्णमान देशों की मुद्राओं के बीच स्थिर विनिमय दरों द्वारा आपसी सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। विभिन्न देशों की मुद्राओं के बीच विनिमय-अनुपात उनकी टकसाली समताओं के आधार पर निश्चित होता है। विनिमय दरों में परिवर्तन स्वर्ण-आयात एवं स्वर्ण-निर्यात बिन्दुओं के भीतर होते हैं। ग्रेगोरी के शब्दों में, "व्यवसाय एवं वाणिज्य की दस्ति से अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसकी कार्यशीलता में विनिमय दरों में उच्चावचन समाप्त हो जाता है।" जब विनिमय दरें स्वर्ण-आयात एवं स्वर्ण-निर्यात बिन्दुओं को पार करने लगती हैं, तब स्वर्ण का वास्तविक

रूप से हस्तांतरण होने लगता है। कैन्ट के शब्दों में, “अन्तर्राष्ट्रीय द स्टिकोण से स्वर्णमान का सबसे महत्वपूर्ण लाभ इस तथ्य में निहित है कि यह विदेशी विनिमय दरों में लगभग पूर्ण स्थायित्व सम्भव बनाता है।”

- (3) **अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में समानता-** अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की स्वयं-संचालकता द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य-स्तर रिश्तर एवं समान रहता है। स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-प्रणाली की विद्यमानता के कारण वस्तुओं एवं सेवाओं का सामान्य मूल्य-स्तर सभी स्वर्णमान देशों में लगभग समान रहता है। यदि किसी कारणवश एक देश का सामान्य मूल्य-स्तर अपेक्षाकृत त ऊँचा या नीचा हो जाता है, तब मूल्य-स्तरों की भिन्नता स्वर्ण के आयात-निर्यात द्वारा शीघ्र समाप्त हो जाती है। ग्रेगोरी के शब्दों में, “अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान विनिमय दरों में रिश्तरता प्राप्त करने तथा स्वर्णमान देशों की सम्पूर्ण शंखला के ऊपर ‘एकीकृत मूल्य एवं आय-संरचना’ स्थापित करने में सहायक होता है।”
- (4) **स्वयं-संचालकता-** अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान स्वयं-संचालित होता है। सभी देश अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के ‘खेल के नियमों’ से परिचित होते हैं। इन नियमों का पालन करने पर स्वर्णमान के संचालन में किसी प्रकार के सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं पड़ती। अर्थव्यवस्था में मुद्रा एवं साख का संकुचन या प्रसार स्वर्ण कोष में उपस्थित परिवर्तनों से निर्धारित होता है। अतः मुद्रा अधिकारी की त्रुटियों से अर्थव्यवस्था सुरक्षित रहती है। स्वयं-संचालकता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान को ‘अहस्ताक्षेपवादी मानक’ (Laissez Fair Standard) कहा जाता है।
- (5) **जन-विश्वास-** चूँकि स्वर्णमान के अन्तर्गत ‘मुद्रा’ स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है तथा व्यक्तियों के मन में स्वर्ण के प्रति आग्रह रहता है, इसलिए स्वर्णमान के प्रति जन-विश्वास बना रहता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का प्रभाव ही माना जाएगा कि आज भी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में स्वर्ण का प्रयोग प्रचलित है।
- (6) **अन्तर्राष्ट्रीय निवेश में सुविधा-** अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर निवेश को सुविधाजनक बनाता है। लार्ड कीन्स ने एक ब्रिटिश संसद में कहा था, “यदि स्वर्णमान पुनः समूचे यूरोप में स्थापित किया जा सके; तब इस विचार से सभी सहमत होंगे कि इससे उत्पादन एवं व्यापार पुनर्जीवित हो जाएगा तथा साख एवं पैंजी को उन क्षेत्रों में जाने का प्रोत्साहन मिलेगा, जहाँ उनकी आवश्यकता सबसे अधिक है।”

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के दोष

- (1) **अवस्फीति की स्वाभाविक प्रव ति-** अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान में अवस्फीति (Deflation) की स्वाभाविक प्रव ति विद्यमान होती है। विलियम्स (Williams) ने इसके दो कारण बताए हैं-
 - (i) सभी स्वर्णमान देशों के लिए भुगतान-सन्तुलन का महत्व नहीं होता। जिन स्वर्णमान देशों की अर्थव्यवस्था विदेशी व्यापार पर आश्रित होती है, उनके लिए भुगतान-सन्तुलन का महत्व अधिक होता है। परन्तु जिन देशों की अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार का योगदान बहुत अधिक नहीं रहता, उनके लिए भुगतान-सन्तुलन का महत्व कम होता है।
 - (ii) सभी स्वर्णमान देशों का आर्थिक द स्टि से समान आकार नहीं होता; किन्तु स्वर्णमान के खेल के नियम समान आकारवाले देशों के मध्य आपसी व्यवहार के सिद्धान्त पर आधारित होते हैं।
- (2) **आर्थिक संकट का प्रसार-** अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण के स्वतन्त्र आयात-निर्यात के कारण एक देश में उत्पादन आर्थिक संकट (मन्दी या अभिव द्वि) शीघ्र ही दूसरे देशों में फैल जाता है। कैन्ट के शब्दों में, “स्वर्ण अत्यन्त प्रभावशाली वाहक के रूप में कार्य करता है। इसके

द्वारा किन्हीं विशेष देशों में उत्पन्न आर्थिक संकट शीघ्रतापूर्वक दूसरे देशों में फैल जाता है। कोई भी स्वर्णमान देश स्वयं को आर्थिक संकटों से अलग नहीं रख सकता।'' विलियम्स के अनुसार, ''स्वर्णमान द्विपक्षीय क्षतिपूरक अन्तर्राष्ट्रीय समायोजन का प्रभावशाली यन्त्र कभी नहीं रहा, जैसा कि इसके बारे में विचारा गया था। यह तो मन्दी और कभी-कभी अभिव द्वि को एक से दूसरे देश में फैलाने का साधन रहा है।

- (3) **घातक स्वयं-संचालकता-** अन्तर्राष्ट्रीय इतना स्वयं-संचालक कभी नहीं रहा, जितना इसके समर्थकों द्वारा बताया गया है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान को स्वयं संचालक स्वीकार कर भी लिया जाए; तब यह भी मानना पड़ेगा कि अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की स्वयं-संचालकता स्वर्णमान देशों की आर्थिक स्थिरता के हेतु घातक सिद्ध होती है। हॉट्रे (Hawtrey) के अनुसार, साख-नियन्त्रण के क्षेत्र में स्वर्णमान एक तरह की अराजकता उत्पन्न कर देता है।
- (4) **आन्तरिक मूल्य-अस्थिरता-** अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत 'विदेशी विनिमय-स्थिरता' हेतु 'घरेलू कीमत-स्थिरता' का बलिदान करना पड़ता है। स्वर्णमान देश विदेशी विनिमय दरों में स्थिरता बनाए रखने के लिए समय-समय पर घरेलू कीमत-स्तर में परिवर्तन करते रहते हैं, ताकि अन्तर्राष्ट्रीय कीमत-स्तर के साथ इसका सामंजस्य किया जा सके।
- (5) **अपव्ययी और बेलोचदार प्रणाली-** अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत बहुमूल्य धातु का सिक्कों एवं कोषों के रूप में अपव्यय होता है। मुद्रा की मात्रा उपलब्ध स्वर्ण-कोष से शासित होने के कारण मुद्रा-प्रणाली में लोच का अभाव रहता है।
- (6) **विकास-नियोजन के लिए अनुपयुक्त-** अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान सम्बद्ध देशों की सरकारों के लिए स्वतन्त्र मौद्रिक-नीति के अनुसरण पर रोक लगाता है। स्वर्णमान के अन्तर्गत आर्थिक नियोजन के लिए कोई स्थान नहीं है; क्योंकि यह मुद्रामान इस प्राचीन आर्थिक विचाराधारा पर आधारित है कि 'वह सरकार सबसे उत्तम है, जो न्यूनतम शासन एवं हस्तक्षेप करती है।' आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत विकास कार्यक्रम पूरे करने के लिए चलन-प्रणाली का लोचदार होना आवश्यक है; जबकि अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत चलन-प्रणाली बेलोचदार होती है। आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत आयात-निर्यात व्यापार को नियन्त्रित करना वांछनीय होता है, जबकि स्वर्णमान के खेल के नियमों के अन्तर्गत आयात-निर्यात व्यापार पर किसी भी तरह का प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। चार्ल्स ओहार्डी (Charles O. Hardy) के शब्दों में, ''स्वर्णमान आर्थिक नियोजन की दशा में प्रचलित वर्तमान विचारधारा के साथ बेमेल ठहरता है।
- (7) **अनुकूल परिस्थिति मित्र-** हॉम (Halm) ने अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की तुलना 'अच्छे मौसम में चलने वाले वायुयान' से की है। प्रतिकूल समय में स्वर्णमान देशों के लिए इसके विशेष नियमों का परिपालन सम्भव नहीं होता। अतः यह विफल हो जाता है। 1900 से लेकर 1941 तक का समय 'स्वर्णमान का स्वर्णिम युग' माना जाता है; क्योंकि इस बीच संसार में शान्ति और स्थिरता बनी रही। परन्तु प्रथम महायुद्ध आरम्भ होते ही स्वर्णमान टूटने लगा; क्योंकि यह युद्ध-जनित मुद्रा-स्फीति का भार नहीं सम्भाल सका। दूसरी बार यह 'तीसा' की संसारव्यापी मन्दी का सामना नहीं कर पाया।
- (8) **आर्थिक समायोजन में कठिनाइयाँ-** स्वर्णमान देशों के मुद्रा-अधिकारियों (केन्द्रीय बैंकों) को स्वर्ण-कोष में परिवर्तन के अनुसार मुद्रा एवं साख का विस्तार या संकुचन करना पड़ता है। इस प्रकार का समायोजन सरल नहीं होता तथा इसका देश की आर्थिक स्थिरता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

स्वर्णमान के पतन के कारण

स्वर्णमान का पतन निम्न कारणों से हुआ-

- (1) **स्वर्ण का असमान वितरण-** युद्ध के दौरान स्वर्णमान देशों की अर्थव्यवस्थाओं में भारी परिवर्तन हो गए। उनके बीच स्वर्ण-कोषों का अन्यायपूर्ण वितरण हो गया। संयुक्त राज्य अमेरिका ने प्रथम विश्वयुद्ध में भाग नहीं लिया था। अतः उसकी अर्थव्यवस्था अधिक सुदृढ़ बन गई। दूसरी ओर, जर्मनी युद्ध में पराजित होकर शत्रु-राष्ट्रों की दया पर आश्रित हो गया। युद्ध-हर्जानों के कारण एकपक्षीय भुगतानों की नई समस्या उत्पन्न हो गई। पराजित देशों के भुगतानशेषों में गम्भीर असन्तुलन उपस्थित हो गया। महायुद्ध से पहले इंगलैंड विश्व का प्रमुख ऋणदाता देश था। अन्तर्राष्ट्रीय विनियम के क्षेत्र में उसे प्रथम स्थान प्राप्त था। युद्धोत्तरकाल में अन्तर्राष्ट्रीय विनियम के क्षेत्र में प्रथम स्थान संयुक्त राज्य अमेरिका को प्राप्त हो गया। संसार के देश 'धनी एवं 'निर्धन' की आर्थिक श्रेणियों में बैंट गए, जो स्वर्णमान के लिए घातक सिद्ध हुआ।
- (2) **आर्थिक राष्ट्रवाद का उदय-** अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के सफल संचालन हेतु अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग आवश्यक होता है। युद्धोत्तरकाल में 'आर्थिक राष्ट्रवाद' की भावना उत्पन्न हो गई। वास्तविक मौद्रिक सहयोग लेशमात्र भी न रहा। निर्यात-व्यापार की मात्रा बढ़ाना तथा आयात-व्यापार को प्रतिबन्धित करना अमेरिकन सरकार की आर्थिक नीति का प्रमुख उद्देश्य बन गया। युद्धोत्तरकाल में अमेरिका और फ्रांस सरीखे स्वर्णमान देश इस सत्य को भूल गए कि स्वर्णमान तभी कार्यशील रह सकता है, जबकि इसके कार्यकरण में किसी तरह का हस्तक्षेप न हो तथा स्वर्ण के आयात-निर्यात पर किसी प्रकार की रोक न लगाई जाए। युद्धोत्तर काल में अमेरिका और फ्रांस ने आयात-व्यापार पर रोक लगा दी। फलतः स्वर्ण के निर्यातकर्ता देशों में 'अवस्फीति' (Deflation) तथा स्वर्ण के आयातकर्ता देशों में 'स्फीति' (Inflation) की समस्या उत्पन्न हो गई। हस तरह, स्वर्णमान की 'स्वयं संचालकता' समाप्त हो गई, जो स्वर्णमान की कार्यशीलता हेतु घातक सिद्ध हुई।
- (3) **स्वर्णमान के नियमों की अवहेलना-** क्राउथर (Crowther) के शब्दों में, "युद्धोत्तरकालीन स्वर्णनमान के पतन का कारण यह था कि केन्द्रीय बैंक अपनी विभाजित निष्ठा एवं व्यावहारिक कठिनाईयों के आभास के कारण स्वर्णम नियम का पालन करने में असमर्थ रहे।" युद्धोत्तरकाल में फ्रांस, संयुक्त राज्य अमेरिका, आदि, स्वर्णमान देशों (जिनमें स्वर्ण का आयात हो रहा था) के केन्द्रीय बैंकों ने स्वर्ण की गतियों पर 'स्वर्ण-बन्धता-नीति' द्वारा प्रतिबन्ध लगाकर चलन की मात्रा पर पड़नेवाले प्रभाव को रोकने का प्रयास किया। फ्रांस और इंगलैंड ने विदेशी आयातों तथा स्वर्ण के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिए। व्यापारिक प्रतिबन्धों के कारण विभिन्न स्वर्णमान देशों के मूल्य-स्तरों में इतना अधिक अन्तर हो गया कि उसे अकेले स्वर्ण के आयात-निर्यात द्वारा नहीं पाया जा सकता था। इन परिस्थितियों में स्वर्णमान की स्वयं-संचालकता समाप्त हो गई तथा उसका कार्यशील रहना असम्भव हो गया।
- (4) **लोचहीन अर्थव्यवस्थाएँ-** युद्धोत्तरकाल में स्वर्णमान देशों की अर्थव्यवस्थाएँ लोचहीन बन गई। फलतः उनके मूल्य-स्तरों, मजदूरी तथा ब्याज की दरों में परिवर्तित स्वर्ण-कोषों के अनुसार परिवर्तन असम्भव हो गया। एकाधिकारी संगठनों की नीतियों के कारण कच्चे-माल की पूर्ति बेलोचदार हो गई। परिणामतः स्वर्णमान देशों के कीमत-स्तरों पर स्वर्ण गतियों का प्रभाव पड़ना बन्द हो गया। श्रमिक संघों की स्थापना तथा मजदूरी में कटौती के सर्वत्र विरोध के कारण मजदूरी का स्तर लोचहीन बन गया। ऐसी लोचहीन अर्थव्यवस्थाओं में स्वर्णमान अधिक दिनों तक कार्य नहीं कर सकता था।

- (5) **अवास्तविक समता-दरों पर स्वर्णमान अपनाना-** युद्धोत्तरकाल में इंगलैंड, फ्रांस, अमेरिका, आदि देशों ने स्वर्णमान अवास्तविक समता-दरों पर अपनाया, जो स्वर्णमान की कार्यशीलता हेतु घातक सिद्ध हुआ। मई 1925 में इंगलैंड ने स्वर्णमान युद्ध-पूर्व समता-दर पर अपनाया, जो उस समय के वास्तविक पौण्ड-मूल्य से 10 प्रतिशत अधिक था। फलतः इंगलैंड का भुगतानशेष असन्तुलित होता गया तथा कुछ वर्षों के कठिन अनुभव के बाद 1931 में उसे स्वर्णमान त्यागना पड़ा। इसी प्रकार, 1928 में फ्रांस ने अपनी चलन इकाई का अधिमूल्यन करते हुए स्वर्णमान अपनाया। अतः कुछ वर्षोंपरान्त उसे स्वर्णमान त्यागना पड़ा।
- (6) **राजनीतिक और आर्थिक अस्थिरता-** युद्धोत्तरकाल में विद्यमान राजनीतिक एवं आर्थिक अस्थिरता भी स्वर्णमान के खण्डन हेतु उत्तरदायी बनी। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का अभाव, दलगत राजनीति, मालिक-मजदूर संघर्ष, राजनीतिक अस्थिरता, आदि, कारणों से अनेक स्वर्णमान देशों की मौद्रिक-व्यवस्था असुरक्षित बन गई। परिणामतः ‘गतिमान मुद्रा’ (Hot Money) की समस्या उत्पन्न हुई अर्थात् पूँजी का एक देश से दूसरे देश को यकायक पलायन होने लगा। इन परिस्थितियों में विदेशी विनिमय दरें अस्थिर हो गई तथा स्वर्णमान की कार्यशीलता खतरे में पड़ गई।
- (7) **युद्ध-क्षतिपूर्ति का भुगतान-** युद्धोत्तरकाल में विजयी राष्ट्रों ने पराजित राष्ट्रों से युद्ध की क्षतिपूर्ति वसूलने का प्रयत्न किया। अतः पराजित राष्ट्रों के सीमित विनिमय-साधनों पर बहुत दबाव पड़ा। उनके लिए स्वर्णमान के कठोर नियमों का पालन करना कठिन हो गया। विश्व-युद्ध के कारण अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों की मात्रा बहुत बढ़ गई थी, जिसके भुगतान का भार ऋणी देश सहन नहीं कर सके। उनके लिए विनिमय दरों को स्थिर रखना कठिन हो गया। क्राउथर के शब्दों में, “जब अन्तर्राष्ट्रीय ऋणग्रस्तता बहुत अधिक हो जाती है (जैसी युद्धोत्तरकाल में थी); तब स्वर्णमान के लिए कार्य करना कठिन हो जाता है।”
- (8) **विश्व-व्यापी मन्दी-** युद्धोत्तरकालीन स्वर्णमान के खण्डन का एक कारण ‘तीसा’ की विश्व-व्यापी मन्दी थी। आर्थिक संकट अमेरिका के ‘वाल-स्ट्रीट’ से आरम्भ होकर स्वर्णमान के प्रचलन के कारण शीघ्र ही सम्पूर्ण विश्व में फैल गया। इस संकट के प्रभावों से अपनी अर्थव्यवस्था को बचाने के लिए स्वर्णमान देशों ने आयात-व्यापार प्रतिबंधित कर दिया तथा विदेशी विनिमय बाजार पर नियन्त्रण स्थापित कर दिया। इन दशाओं में स्वर्णमान का खण्डन स्वाभाविक था।
- (9) **युद्धोत्तरकालीन स्वर्णमान की प्रकृति-** युद्धोत्तरकालीन स्वर्णमान के खण्डन का कारण स्वयं युद्धोत्तरकालीन स्वर्णमान के स्वभाव में निहित था। युद्धोत्तरकालीन स्वर्णमान युद्ध-पूर्व स्वर्णमान से सर्वथा भिन्न था। इसके अन्तर्गत स्वयं संचालकता का गुण कम था। स्वर्ण एवं चलन की मात्रा के बीच कम निकट का सम्बन्ध था। युद्धोत्तरकाल में स्वर्णकाल अपेक्षाकृत अधिक देशों द्वारा अपनाया गया था। अतः स्वर्णमान देशों में अनुशासन बनाए रखने की समस्या उत्पन्न हो गई थी।
- (10) **अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी-गतिशीलता में अस्त-व्यस्तता-** प्रथम महायुद्ध से पूर्व इंगलैंड निर्धन राष्ट्रों को दीर्घकालीन ऋण देकर उनके भुगतानशेषों में विद्यमान असन्तुलन का निवारण करता था। युद्धोत्तरकाल में अन्तर्राष्ट्रीय निवेश के क्षेत्र में प्रथम स्थान संयुक्त राज्य अमेरिका को प्राप्त हो गया, जिसकी ऋण-नीति इंगलैंड की ऋण-नीति से सर्वथा भिन्न थी। अमेरिका द्वारा अल्पकालीन ऋण दिए जाते थे। इन ऋणों की मात्रा ऋणी देशों के भुगतानशेषों में विद्यमान असन्तुलन के निवारण हेतु अपर्याप्त होती थी। ‘तीसा’ की विश्वव्यापी महामन्दी के समय अमेरिका ने अपना व्यापारशेष अनुकूल होते हुए भी विदेशी ऋण वापिस ले लिए। ऐसी परिस्थिति में ऋणी देशों द्वारा स्वर्णमान का परित्याग स्वाभाविक था।

- (11) **शरणार्थी पूँजी का आंतक-** प्रथम महायुद्ध से पूर्व यूरोप के अनेक देश अपने अल्पकालीन कोष विदेशों में विनियोग करते थे। युद्धोत्तरकाल में विभिन्न देशों ने विदेशी पूँजी (व्याज और मूलधन की वापसी) पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगा दिए। फलतः अल्पकालीन विदेशी पूँजी भयभीत हो गई तथा सुरक्षा की खोज में एक देश से दूसरे देश की ओर जाने लगी। शरणार्थी पूँजी के आयात-निर्यात के अनुसार अनेक देश आन्तरिक कीमतों में परिवर्तन करने में असमर्थ रहे। अतः बाध्य होकर उन्हें स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ा।
- (12) **अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के प्रमुख उद्देश्य की अवहेलना-** अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का प्रमुख उद्देश्य मुद्रा के बाह्य-मूल्य को स्थिरता प्रदान करना होता है। प्रथम महायुद्ध से पहले स्वर्णमान देश विनिमय दरों की स्थिरता बनाए रखना अपना प्रमुख कर्तव्य समझते थे। युद्धोत्तरकाल में स्वर्णमान देशों द्वारा 'विनिमय-स्थिरता' की बजाय 'कीमत-स्थिरता' को अधिक महत्व दिया जाने लगा। क्राउथर (Crowther) के शब्दों में, 'विनिमय-स्थिरता' के स्थान पर मूल्य-स्थिरता प्राप्त करना मुद्रा-अधिकारियों का प्रमुख कर्तव्य बन गया था। विनिमय-स्थिरता के उद्देश्य की अवहेलना ने अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की कार्यशीलता की सम्भावना समाप्त कर दी।'

स्वर्णमान का भविष्य

1944 के ब्रिटेन बुड्स समझौते के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की योजना में 'स्वर्ण' अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य-स्तर तथा विदेशी विनिमय-दरों का आधार बनाया गया। तदनुसार प्रत्येक सदस्य-देश ने अपनी मुद्रा का समता-मूल्य स्वर्ण या अमेरिकन डॉलर (जो स्वर्ण में परिवर्तनशील था) में निश्चित किया तथा मुद्रा कोष की पूँजी में अपना 25 प्रतिशत अंशदान स्वर्ण में जमा कराया। मुद्रा कोष को स्वर्ण के बदले दुर्लभ मुद्राएँ खरीदने-बेचने तथा निश्चित दर पर स्वर्ण की खरीद हेतु सदैव तत्पर रहने का उत्तरदायित्व सौंपा गया। इस तरह, 'स्वर्ण-समता मानक' (Gold Parity Standard) की स्थापना हुई।

1971 के मध्य तक ब्रिटेन बुड्स प्रणाली सफलतापूर्वक कार्य करती रही। अगस्त 1971 में जब संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार ने विदेशी कोषागारों तथा केन्द्रीय बैंकों के लिए डॉलर की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता समाप्त कर दी; तब विदेशी विनिमय बाजारों में प्रमुख यूरोपियन मुद्राएँ स्वतन्त्रतापूर्वक तैरने लगी तथा विनिमय-स्थिरता का युग समाप्त हो गया। इन परिस्थितियों में ब्रेटन बुड्स समझौते पर आधारित स्वर्ण-समता प्रणाली बदलने की आवश्यकता अनुभव हुई। अतः जून 1972 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने विकसित एवं विकासशील देशों के प्रतिनिधियों को सम्मिलित करते हुए 20 सदस्यों की कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी के सुझाव के अनुसार, स्वर्ण का विमुद्रीकरण कर दिया गया है तथा मुद्रा कोष की मौद्रिक निधियों में स्वर्ण का स्थान विशेष आहरण अधिकारों ने ले लिया है। अब स्वर्ण विभिन्न देशों की मुद्राओं के बीच मूल्य-समताएं निश्चित करने का सामान्य आधार नहीं है। स्वर्ण का अधिक त-मूल्य समाप्त कर दिया गया है। अब मुद्रा कोष के सदस्य देश बाजार-मूल्य पर स्वर्ण खरीदने-बेचने के लिए स्वतन्त्र हैं। सदस्य देशों द्वारा मुद्रा कोष को स्वर्ण के रूप में जो अनिवार्य चन्दा देना पड़ता था, वह दायित्व समाप्त कर दिया गया है।

वर्तमान परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की किसी भी रूप में स्थापना सम्भव नहीं है। कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर निजी लेन-देनों का भुगतान स्वर्ण के माध्यम से तथा सरकारी लेन-देनों का भुगतान विशेष आहरण अधिकारों (SDRs) के माध्यम से होना चाहिए। परन्तु इस विचार को भी व्यावहारिक नहीं माना जा सकता; क्योंकि अधिकांश देशों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में स्वर्ण का प्रयोग कर पाना सम्भव नहीं है।

अध्याय-25

ब्रेटन वुड प्रणाली का उदय और पतन (Rise and Fall of Bretton Woods System)

यद्यपि मुद्रा-कोष का गठन 27 दिसम्बर, 1945 को अमेरिका के ब्रेटन वुड्स (Bretton Woods) नामक नगर में 1 जुलाई, 1944 में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन के निर्णयानुसार हुआ तथापि इसकी जन्मदायी परिस्थितियाँ प्रथम विश्व-युद्ध के बाद ही प्रारम्भ हो गई थीं। इसकी मुख्य जन्मदायी परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं-

- (1) प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान स्वर्णमान टूट गया था और पत्र-मुद्रामान प्रचलित हुआ क्योंकि सभी देशों में मुद्रा-प्रसार हो गया जबकि स्वर्ण-कोष घट गए थे। यद्यपि युद्ध के बाद अमेरिका, ब्रिटेन व फ्रांस के प्रयास से पुनः स्वर्णमान व्यवस्था लागू की गई किन्तु यह पूर्व के स्वर्णमान से भिन्न थी। इसमें स्वयंचालकता का गुण समाप्त हो गया था और स्वर्णमान के नियमों की अवहेलना की गई। अतः स्वर्णमान टिक न सका और अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रामान प्रचलित हुआ। परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय-दरों में भारी उतार-चढ़ाव होने लगे जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को धक्का लगा।
- (2) युद्ध में सम्मिलित होनेवाले देशों की अर्थव्यवस्था ध्वस्त हो गई थी। युद्ध के बाद स्वर्णमान, टूटने, पत्र-मुद्रा का अत्यधिक प्रसार होने तथा युद्ध में भारी बर्बादी के कारण इन देशों के भुगतान सन्तुलन में अत्यधिक घाटा उत्पन्न हो गया।
- (3) 1929-30 की महान मन्दी ने इन औद्योगिक देशों की व्यवस्था को और झकझोर दिया और उत्पादन क्षमता और गिर गई। फलतः आयातों में निर्यात भी गिर गए। विश्व-व्यापार को एक और धक्का लगा।
- (4) युद्ध के बाद अन्ततः जब 1931 में इंग्लैण्ड ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया तो स्वर्णमान का विश्व से जनाजा उठ गया। अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रामान प्रचलित हुआ जिसमें विनिमय-दर में भारी उतार-चढ़ाव होने लगे। यद्यपि विनिमय-दरों के स्थिरीकरण हेतु कुछ देशों, जैसे-अमेरिका, फ्रांस व इंग्लैण्ड में त्रिपक्षीय समझौते हुए किन्तु अधिक सफल नहीं रहे।
- (5) विनिमय-दरों में अस्थिरता के कारण तथा आर्थिक राष्ट्रवाद के उदय के कारण स्वतन्त्र स्थार्थपूर्ण आर्थिक-नीति अपनाई गई। विनिमय-नियन्त्रण की अनेक विधियाँ अपनाई गई। मुद्राओं का प्रतिस्पर्द्धात्मक अवमूल्यन हुआ ताकि निर्यात व्यापार बढ़े। इन सबका परिणाम हुआ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व विनिमय-दरों में और अधिक अस्थिरता उत्पन्न हो गई।
- (6) अभी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में गड़बड़ियाँ व अनिश्चितता चल रही थी कि द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया। परिणामस्वरूप विभिन्न देशों की अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक अराजकता व्याप्त हो गई।

युद्धोत्तर काल में युद्धध्वस्त राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण तथा विकसित व अद्विकसित

राष्ट्रों के मध्य आर्थिक असमानता की खाई को पाटने के लिए विकासशील देशों के विकास की ओर विश्व शान्ति के चिन्तकों का ध्यान आकर्षित हुआ। इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग, विश्व व्यापार के सन्तुलित विकास की आवश्यकता अनुभव की गई। अतः युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व मौद्रिक सहयोग की अनेक योजनाएँ (planns) प्रस्तुत की गई। इसमें तीन मुख्य थीं- (i) ब्रिटेन की कीन्स योजना (Keynes Plan), (ii) अमेरिका की ह्वाइट योजना (White Plan), तथा (iii) कनाडा की कनेडियन योजना। कीन्स योजना 'अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन संघ के लिए सुझाव' (Proposals for an International Clearing Union) के नाम से प्रस्तुत की गई। अमेरिका की ओर से ह्वाइट योजना 'U.S. Proposal for a United and Associated Nations' Stabilisation Fund' के नाम से प्रस्तुत की गई। 'कीन्स योजना' व 'ह्वाइट योजना' के उद्देश्य समान थे। दोनों का ही मुख्य उद्देश्य स्वर्णमान बिना विनिमय-दर स्थायित्व व अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग था किन्तु संस्था की व्यवस्था व क्रियाविधि के बारे में मतभेद था।

अतः अमेरिका व ब्रिटेन की इन योजनाओं के अन्तर को दूर करने के उद्देश्य से 22 जुलाई, 1944 को अमेरिका ब्रेटन वुड्स (न्यू हैम्पशायर) में एक अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन हुआ जिसमें भारत सहित 44 देशों ने भाग लिया था। सभी देशों ने मिलकर एक समझौता किया जिसे 'ब्रेटन वुड्स समझौता' कहते हैं। इस समझौते के फलस्वरूप दो अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाएं स्थापित हुई-

- (1) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund), तथा
- (2) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकास बैंक (International Bank for Reconstruction & Development) इसे विश्व बैंक (World Bank) के नाम से भी जाना जाता है। समझौता-पत्र पर 27 दिसम्बर, 1945 को 30 देशों ने हस्ताक्षर किए।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के उद्देश्य (International Monetary Fund)

कोष के उद्देश्य समझौता-पत्र की धारा 1 में उल्लेखित हैं। मुख्य उद्देश्य निम्न हैं-

- (1) **अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को प्रोत्साहन-** विश्व के सभी सदस्य राष्ट्रों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग स्थापित करना तथा इसे प्रोत्साहित करना कोष का प्रमुख उद्देश्य है। कोष का यह प्रयत्न रहता है कि सदस्य राष्ट्रों की मौद्रिक नीतियों में एकरूपता हो। अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्याओं को सुलझाने के लिए सब राष्ट्रों को परामर्श का अवसर देना तथा उनके सहयोग से समाधान करना है।
- (2) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का संतुलित विकास-** अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का उद्देश्य विश्व-व्यापार का सन्तुलित विकास करना भी है। ताकि सदस्य देशों में रोजगार व आय-स्तर को ऊँचा बनाए रखा जा सके तथा उसमें और व द्वितीय हो। व्यापार के सन्तुलित विकास के लिए मुद्रा-कोष विश्व-व्यापार के प्रतिबन्धों को हटाने या कम करने के लिए प्रयत्नशील रहेगा।
- (3) **विनिमय स्थायित्व स्थापित करना-** विश्व-व्यापार के सन्तुलित विकास के लिए विनिमय-दरों की स्थिरता आवश्यक है। विनिमय-दरों की स्थिरता के लिए कोष प्रत्येक सदस्य देश की मुद्रा का मूल्य डॉलर या रुपये में निर्धारित किया। इन समता मूल्यों को बनाए रखना तथा प्रतियोगी अवमूल्यन को रोकना कोष का महत्वपूर्ण कार्य निश्चित किया गया। किन्तु समता मूल्यों में आवश्यकतानुसार निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत परिवर्तन का भी प्रावधान किया गया अर्थात् कोष की योजना में लचीली विनिमय स्थिरता (flexible exchange stability) को स्थान दिया गया।

- (4) बहुपक्षीय भुगतान प्रणाली की स्थापना तथा विनिमय-नियन्त्रणों को हटाना- कोष का उद्देश्य बहुपक्षीय भुगतान प्रणाली की स्थापना करना तथा सदस्य देशों द्वारा लगाए गए सभी प्रकार के विनिमय प्रतिबन्धों को हटाना भी है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्वाभाविक प्रवाह में विनिमय प्रतिबन्ध अवरोध उत्पन्न करते हैं।
- (5) भुगतान सन्तुलन की विषमता को दूर करना- समुचित सुरक्षा के अन्तर्गत सदस्य देशों के लिए कोष के साधनों को उपलब्ध करके उनमें विश्वास पैदा सम्पन्नताओं को नष्ट करते हैं, अपने भुगतान सन्तुलन के घाटे को दूर करने के लिए साधन उपलब्ध करना भी कोष का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है।
- (6) असन्तुलन की अवधि तथा अंश को कम करना- कोष का उद्देश्य ऐसे उपायों को भी अपनाना है जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सन्तुलन की विषमताओं की अवधि व उसका अंश कम किया जा सके।
- (7) लाभदायक उपयोगों में दीर्घकालीन पूँजी की सहायता- कोष का एक उद्देश्य यह भी निश्चित किया गया है कि एक देश से दूसरे देश को दीर्घकालीन पूँजी की सहायता तथा उस पूँजी का लाभदायक उपयोग में योगदान करे।

मुद्रा-कोष के कार्य-कलाप (Operations of the Fund)

समता-दरों का निर्धारण व परिवर्तन- विनिमय-दरों में स्थिरता लाने के उद्देश्य से समझौता-पत्र की धारा 4 के अनुसार कोष ने सभी सदस्य देशों की मुद्राओं के समता-मूल्य अमेरिकन डॉलर या स्वर्ण में निर्धारित किए। विनिमय-दरों में समता-मूल्यों से 1% तक कमी या व द्विंदी की जा सकती थी। कोष का सिद्धान्त लचीली स्थिर विनिमय-दर है। अतः सदस्य देश अपने प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन को ठीक करने के उद्देश्य से निर्धारित समता-दर में 10% तक (कमी या व द्विंदी) बिना कोष की अनुमति के कर सकता था। केवल कोष को इसकी सूचना देनी पड़ती थी। किन्तु समता-दर में और अधिक 10% तक परिवर्तन सदस्य देश मुद्रा-कोष की अनुमति प्राप्त करके ही कर सकता था और मुद्रा-कोष को उक्त (20%) सीमा तक परिवर्तन करने के सम्बन्ध में अपना निर्णय 72 घण्टे में देना होता था। 20% से अधिक समता-दर में परिवर्तन के लिए सदस्य देश को मुद्रा-कोष द्वारा तभी अनुमति देने का प्रावधान था जबकि सदस्य देश के भुगतान सन्तुलन में आधारभूत असन्तुलन (fundamental disequilibrium) हो गया हो तथा कोष के 2/3 सदस्य इस प्रस्ताव के पक्ष में मत दें।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका आर्थिक व सैनिक द ष्टि से एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभर रहा था। विश्व का 65% से भी अधिक स्वर्ण अमेरिका के कोषों में संचित हो गया था। भुगतान सन्तुलन निरन्तर अनुकूल रह रहा था। अतः अमेरिकी डालर एक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा हो गई जिसकी वे सभी देश माँग करने लगे जिनका भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की मौद्रिक व्यवस्था में भी विभिन्न सदस्य देशों की मुद्राओं के समता मूल्य डालर या स्वर्ण के आधार पर निश्चित किए गए। डालर का स्वर्ण मूल्य डालर = 1 औंस स्वर्ण निश्चित किया गया और अमेरिका ने इस मूल्य को बनाए रखने की गारंटी दी। अधिकांश देशों का भुगतान सन्तुलन अमेरिका से प्रतिकूल बना रहा और अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के लिए डालर की माँग बढ़ती रही। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के रूप में डालर का महत्व बढ़ता चला गया।

किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के रूप में डालर अधिक समय तक नहीं टिक सका। 1960-70 के दशक में वियतनाम युद्ध, स्वेज नहर संकट, 1967 और 68 में पॉड का अवमूल्यन, 1968 में स्वर्ण-कुण्ड (Gold

Pool) की समाप्ति तथा स्वर्ण की कीमतों में व द्वि की प्रव ति के कारण अमेरिका का भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल रहने लगा। इस प्रतिकूलता के परिणामस्वरूप डालर की बाह्य-स्थिति दुर्बल होती चली गई। विदेशों में भारी मात्रा में डालर जमा हो गया और सभी देशों ने डालर के बदले स्वर्ण की माँग बढ़ा दी। अगस्त 1971 के प्रथम सप्ताह में डालर का संकट अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। अतः डालर को संकट से बचाने के लिए अगस्त 1971 की रात्रि में निक्सन ने एक 'नवीन आर्थिक नीति' (New Economic Policy) की घोषणा की, जिसकी मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित थीं-

- (i) विदेशी कोषागारों एवं केन्द्रीय बैंकों के लिए डालर की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता का अस्थाई निलम्बन किया जाना।
- (ii) सभी आयातों पर अमरीकी सरकार द्वारा अस्थाई आधार पर 10% अधिभार का लगाया जाना।
- (iii) तीन महीनों की अवधि के लिए सभी कीमतों एवं मजदूरियों का उनके तत्कालीन स्तरों पर स्थिरीकरण किया जाना।
- (iv) विदेशों को दी जानेवाली आर्थिक सहायता में 10% की कटौती करना।

किन्तु यह नीति अधिक प्रभावी सिद्ध न हुई और डालर का संकट जारी रहा। 18 दिसम्बर 1971 को वाशिंगटन में 10 गैर साम्यवादी अमीर बड़े राष्ट्रों के वित्तमन्त्रियों (Group of Ten) की एक बैठक हुई जिसमें बेल्जियम, कनाडा, फ्रांस, जर्मनी, इटली, जापान, नीदरलैंड, स्वीडन, ब्रिटेन तथा अमेरिका के वित्तमन्त्री शामिल हुए। इन दस देशों के बीच जो समझौता हुआ उसे स्मिथ-सोनियन समझौता कहा जाता है। इस सन्धि के अन्तर्गत अमेरिका ने 8.57% डालर का अवमूल्यन कर दिया था। डालर का यह अवमूल्यन स्वर्ण के मूल्य को 35 डालर प्रति ऑंस से बढ़कर 38 डालर प्रति ऑंस करके किया गया था। इसके अलावा अमेरिका ने आयातों पर लगाए गए 10% अधिभार को भी वापस ले लिया था। लेकिन इस सन्धि के बावजूद डालर स्वर्ण में परिवर्तनशील नहीं था। इस सन्धि में अन्य देशों की मुद्राओं के पुनर्मूल्यन की भी व्यवस्था की गई थी। नई विनिमय दरों के अनुसार डालर के सम्बन्ध में जापान तथा जर्मनी की मुद्राओं का विनिमय मूल्य क्रमशः 16.88% तथा 13.57% बढ़ गया। अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली को अधिक लोचपूर्ण बनाने के उद्देश्य से यह तय किया गया कि मुद्राओं की निर्धारित विनिमय दरों में 2.25% तक के उत्तार-चढ़ाव की अनुमति दी जाए।

डालर के उपर्युक्त अवमूल्यन के परिणामस्वरूप भारत सरकार ने रुपए का 3% पुनर्मूल्यन कर दिया। अब 1 डालर = 7.279 रु० हो गया। लेकिन रुपए स्टर्लिंग की विनिमय दर में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। उपर्युक्त समझौते से अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संकट जारी रहा। 13 फरवरी 1973 को डालर का 10% और अवमूल्यन कर दिया गया। इस प्रकार अमरीकी डालर, जो कि किसी समय विश्व की सबसे शक्तिशाली मुद्रा थी, अब एक अवमूल्यित मुद्रा बनकर रह गई।

डालर-संकट के कारण (Causes of Dollar Crisis)- डालर-संकट के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे।

- (1) **आर्थिक नियमों की अवहेलना (Ignored Economic Laws)-** अमेरिका ने विश्व में बढ़ती हुई प्रतियोगिता को ध्यान में नहीं रखा और अपनी प्रतियोगी शक्ति बढ़ाने के लिए उत्पादकता में व द्वि एवं आर्थिक विकास पर कोई ध्यान नहीं दिया। फलतः उसकी उत्पादन क्षमता गिर गई और उसकी महँगी वस्तुएँ जर्मनी व जापान की प्रतियोगिता में नहीं टिक पाई।
- (2) **विश्व-नेत त्व की इच्छा (Desire for World Leadership)-** अपनी आर्थिक व सैनिक शक्ति के परिप्रेक्ष्य में अमेरिका विश्व के नेत त्व की बागड़ोर अपने हाथ में रखना चाहता था। फलतः

एक शक्तिशाली आर्थिक व सैनिक व्यूह-रचना में अमेरिका संलग्न हुआ। इस दण्ड से सैनिक व्यय में बड़ी मात्रा में व द्विः हुई और अमेरिका की अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई।

- (3) **ऋण व आर्थिक सहायता में व द्विः (Increase in Loans and Economic Aid)-** अपने प्रभाव क्षेत्रों की सरकारों, लैटिन अमेरिका, अफ्रीका व एशिया के अनेक देशों की अमेरिका समर्थक सरकारों व अन्य तटस्थ विकासशील राष्ट्रों को बड़ी मात्रा में आर्थिक सहायता व ऋण दिए गए। अमेरिका व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल होने लगा। विभिन्न देशों में डालर के कोष जमा होने लगे। स्वर्णकुपड़ समाप्त होने पर डालर के रूप में स्वर्ण की कीमतें बढ़ने लगीं। फलतः देश डालर को स्वर्ण में बदलने की माँग करने लगे। धीरे-धीरे अमेरिका के स्वर्ण कोष बहुत घट गए और अन्त में अमेरिका ने डालर की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता को समाप्त कर दिया। आगे चलकर अमेरिका को दो बार डालर का अवमूल्यन करना पड़ा।
- (4) **मजूदूरी-कार्यक्षमता अनुपात (Wage-efficiency Rates)-** श्रम संघों के दबाव पर अमेरिकी सरकार को 10% वार्षिक दर से मजूदूरी बढ़ानी पड़ी जबकि उत्पादकता में मात्र 2% की व द्विः हुई। इसका भुगतान सन्तुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।
- (5) **अन्तरिक्ष विज्ञान व तकनीक पर भारी व्यय (Heavy Expenditure on Space Science and Technology)-** अमेरिका ने अन्तरिक्ष विज्ञान व तकनीकी विकास पर भारी धनराशि व्यय की जिससे उत्पादक कार्यों पर व्यय करने के लिए आवश्यक कोष नहीं जुटाए जा सके।
- (6) **मुद्रा-प्रसार (Inflation) -** बढ़ते हुए आन्तरिक व बाह्य व्ययों के कारण अमेरिका को हीनार्थ प्रबन्ध का सहारा लेना पड़ा। 1970-71 के बाद मुद्रा-प्रसार में वार्षिक व द्विः-दर 6 से 10% तक रही।
- (7) **ऊर्जा-संकट (Power Crises)-** खाड़ी के देशों ने तेल की कीमतें बढ़ानी शुरू कर दीं जिससे अमेरिका पर विदेशी भुगतानों का दबाव और भी बढ़ गया।

पौण्ड-स्टर्लिंग संकट (Pound-Sterling Crises)- स्मिथ-सोनियन समझौते के अन्तर्गत पौण्ड की स्वर्ण समता दर में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। डालर के अवमूल्यन के पश्चात् पौण्ड के मूल्य में 0.20 डालर की व द्विः हुई। डालर की अपेक्षा पौण्ड का मूल्य अधिक हो जाने के कारण अब पौण्ड पर संकट आ पड़ा। इंग्लैंड के भुगतान सन्तुलन में घाटा होने लगा। देश में औद्योगिक उत्पादन की लागतों में निरन्तर व द्विः के परिणामस्वरूप पौण्ड का आन्तरिक मूल्य गिर रहा था। विदेशी मुद्रा बाजारों में स्टोरियों द्वारा भारी मात्रा में स्टर्लिंग बेचा जाने लगा। पौण्ड को संकट से बचाने के लिए 23 जून, 1972 को इसे विनिमय बाजारों में तैरने (floating) के लिए छोड़ दिया गया। इसके साथ ही साथ जुड़ी हुई। 16 अन्य देशों की मुद्राएँ भी इसके साथ फ्लोट करने लगीं। जनवरी-फरवरी 1973 में अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक स्थिति इतनी अधिक बिगड़ गई कि जिन प्रमुख मुद्राओं की विनिमय दरें अभी तक स्थिर बनी हुई थीं वे भी तैरने लगीं। इस प्रकार परिवर्तनशील विनिमय दरें स्थापित होने लगीं।

11 मार्च 1973 को जर्मनी, फ्रांस, बेल्जियम, लकजेम्बर्ग, नीदरलैंड्स व डेनमार्क ने नार्वे व स्वीडन के साथ मिलकर संयुक्त रूप से तैरती हुई या परिवर्तनशील विनिमय दरों को अपना लिया। इनका उद्देश्य यह था कि इन देशों की मुद्राएँ तो आपस में स्थिर विनिमय दरें बनाए रखेंगी। परन्तु डालर के सम्बन्ध में वे फ्लोट करेंगी। इस प्रकार मिश्रित विनिमय दर प्रणाली का जन्म हुआ और स्मिथ-सोनियन समझौता समाप्त हो गया।

स्थायित्व युक्त मौद्रिक सहयोग की आवश्यकता को अनुभव करते हुए मुद्रा कोष के गवर्नर जनरल

ने जुलाई 1972 में अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में सुधार करने तथा सम्बन्धित समस्याओं के अध्ययन करने तथा सुझाव देने के लिए 'बीस सदस्यों की एक समिति' (The Committee of Twenty) की नियुक्ति की। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट IMF को 24 सितम्बर 1973 की नैरोबी बैठक में प्रस्तुत की। 23 जून 1974 को समिति के प्रतिवेदन पर IMF ने अपनी अन्तिम खींच तिंहारी दी। इसकी मुख्य बातें इस प्रकार थीं-

- (1) स्वर्ण का विमुद्रीकरण करके मौद्रिक निधियों में स्वर्ण का स्थान SDRs द्वारा ग्रहण कर लिया गया।
- (2) SDR का मूल्य 16 विश्व-मुद्राओं के औसत-मूल्य पर आधारित किया गया। इनमें अमरीकी डालर प्रमुख मुद्रा थी।
- (3) SDRs पर ब्याज की दर को 1-5% से बढ़ाकर 5% कर दिया गया।
- (4) संचालक मण्डल को आवश्यक परामर्श देने हेतु एक अन्तर्रिम समिति नियुक्त की गई।
- (5) IMF के विकासशील सदस्य देशों को विस्तारित सुविधा (Extended facility) दी गई। इसके अन्तर्गत अब ये देश अधिक व्यापक उद्देश्यों के लिए IMF से अधिक मात्रा में दीर्घकालीन ऋण ले सकेंगे।

अध्याय-26

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष और भारत (International Monetary Fund and India)

द्वितीय महायुद्ध के दौरान राष्ट्रीयता और पारस्परिक स्पर्धा के विचारों को बल मिला; अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को ठेस पहुँची तथा लगभग सभी देशों की आन्तरिक अर्थव्यवस्थाएँ अस्थिरता का शिकार हो गई। युद्धकाल में आर्थिक पुनर्वास और पुनर्निर्माण की गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न हुईं; जिनका समाधान अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग, विदेशी व्यापार के सन्तुलित विकास तथा अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के सन्तुलित प्रवाह द्वारा ही सम्भव था। अतः जुलाई 1944 में अमेरिकन सरकार ने ब्रेटन बुड्स (न्यू हैम्पशायर) नामक स्थान पर 'अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सम्मेलन' बुलाया। इसमें 44 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन में विचार-विमर्श एवं सुझावों के फलस्वरूप 26 दिसम्बर, 1945 को वाशिंगटन में 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' की स्थापना हुई। कोष ने 1 मार्च, 1947 से अपना कार्य आरम्भ किया।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य

कोष के समझौते-पत्र के अनुच्छेद '1' के अनुसार इसके मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

- (1) **अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग-** मुद्रा कोष का उद्देश्य सदस्य-देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग सुदृढ़ करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्याओं को आपसी बातचीत और सहयोग द्वारा हल करना है।
- (2) **विनिमय-दरों में स्थायित्व-** मुद्रा कोष का उद्देश्य विनिमय दरों में स्थिरता स्थापित करना तथा व्यापार की सन्तुलित विद्वि द्वारा सदस्य-देशों में रोजगार एवं वास्तविक आय का स्तर ऊँचा उठाना है।
- (3) **विनिमय-नियन्त्रणों को निरुत्साहित करना-** मुद्रा कोष का उद्देश्य विदेशी व्यापार पर प्रतिकूल प्रभावों के निवारण हेतु सभी प्रकार के विनिमय-नियन्त्रणों को निरुत्साहित करना है।
- (4) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सन्तुलित विकास-** मुद्रा कोष का उद्देश्य व्यापार और भुगतान के द्विपक्षीय समझौतों के स्थान पर 'बहुपक्षीय भुगतान और व्यापार-प्रणाली' को प्रोत्साहित करना है।
- (5) **अल्पकालीन मौद्रिक सहायता-** मुद्रा कोष का उद्देश्य सदस्य-देशों को उचित समय पर अल्पकालीन मौद्रिक सहायता देकर अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के अन्तर की विषमताएँ दूर करना है।
- (6) **भुगतानशेष के अस्थायी असन्तुलन का निवारण-** मुद्रा कोष का उद्देश्य सदस्य देशों को अल्पकालीन ऋण देकर उनके भुगतानशेष में उत्पन्न अस्थायी असन्तुलन का आकार और अवधि घटाना है। परन्तु कोष का उद्देश्य वित्तीय सहायता द्वारा सदस्य-देशों के भुगतानशेष में उत्पन्न आधारभूत असन्तुलन दूर करना नहीं है।

- (7) **आर्थिक विकास में सहयोग-** मुद्रा कोष का अन्तिम उद्देश्य सदस्य-देशों के सन्तुलन आर्थिक विकास में सहायता देना तथा इस कार्य हेतु धनी देशों से निर्धन देशों की ओर पूँजी के अन्तरण में सहयोग प्रदान करना है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता

जिन देशों ने ब्रिटेन बुड्स सम्मलेन में भाग लिया अथवा जिन देशों ने 31 दिसम्बर, 1945 से पहले को कोष सदस्यता स्वीकर कर ली, वे कोष के मौलिक सदस्य माने जाते हैं। प्रारम्भ में कोष की सदस्य-संख्या 44 थी। वर्तमान में इसकी सदस्य-संख्या 149 है। कोई भी देश किसी भी समय लिखित सूचना देकर कोष की सदस्यता त्याग सकता है। यदि कोई देश कोष के नियमों की अवहेलना करता है, तब कोष उसकी सदस्यता समाप्त कर सकता है। मुद्रा-कोष ने सदस्य देशों पर तीन दायित्व सौंपे हैं- (i) वे चालू अन्तर्राष्ट्रीय सौदों के भुगतान तथा पूँजी के अन्तरण पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाएंगे। (ii) वे किसी भी देश में विभेदात्मक करेन्सी नीति नहीं अपनाएंगे। (iii) वे मुद्रा कोष को समय-समय पर देश-विदेश में अपनी स्वर्ण एवं विदेशी विनियम सम्पत्ति, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में स्थिति, राष्ट्रीय आय आदि, के बारे में सूचना देते रहेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का प्रशासन

मुद्रा-कोष के प्रबन्ध हेतु प्रशासक-मण्डल (Board of Governors), कार्यकारी संचालक-मण्डल (Board of Executive Directors), प्रबन्ध निदेशक (Managing Directors) तथा अन्य स्टॉफ की व्यवस्था की गई है। प्रशासक-मण्डल में प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र का एक प्रतिनिधि होता है। कार्यकारी संचालक-मण्डल में कुल 22 संचालक हैं। इनमें से 6 संचालक क्रमशः 6 बड़े अभ्यंशों वाले देशों के हैं। ये सभी स्थायी संचालक हैं। ये संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, जापान और सऊदी अरब से सम्बन्धित हैं। शेष संचालकों का निर्वाचन होता है। 'प्रबन्ध निदेशक' कार्यकारी संचालक मण्डल का अध्यक्ष तथा मुद्रा-कोष का मुख्याधिकारी होता है। प्रशासक मण्डल सदस्य-देशों के कोषों में संशोधन, नए सदस्यों के प्रवेश, संचालकों के चुनाव, आदि, के बारे में निर्णय लेता है। कार्यकारी संचालक मण्डल मुद्रा-कोष के दिन-प्रतिदिन के कार्य के लिए उत्तरदायी है। मुद्रा-कोष में सभी निर्णय बहुमत के आधार पर लिए जाते हैं। कोष का प्रधान कार्यालय वाशिंगटन में स्थित है। प्रत्येक सदस्य को 250 निश्चित मतों के अतिरिक्त अपनी अभ्यंश-राशि के अनुसार प्रति एक लाख डॉलर एक वोट देने का अधिकार होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की पूँजी और अभ्यंश

प्रारम्भ में मुद्रा कोष की पूँजी 1,000 मिलियन डॉलर थी, जिसे कोष के सदस्यों में अभ्यंशों के रूप में वितरित किया गया था। अभ्यंश की मात्रा प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र के विदेशी व्यापार, राष्ट्रीय आय तथा जनसंख्या के आधार पर निर्धारित की गई थी। प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र को अपना 25 प्रतिशत अभ्यंश अथवा अपने स्वर्ण और डॉलर कोषों का 10 प्रतिशत (इनमें से जो भी कम हो) स्वर्ण में जमा करना होता था। अभ्यंश की शेष राशि राष्ट्रीय चलन में अपने ही केन्द्रीय बैंक के पास जमा करनी पड़ती थी। परन्तु अप्रैल 1976 से लागू मौद्रिक सुधारों के पश्चात् अब मुद्रा कोष में स्वर्ण जमा करने की प्रथा समाप्त हो गई है। अब सदस्य-देशों अपने अभ्यंश का 25 प्रतिशत भाग विदेशी मुद्रा में तथा शेष भाग स्वदेशी मुद्रा में जमा कर सकते हैं। 25 प्रतिशत भाग विदेशी मुद्रा में तथा शेष भाग स्वदेशी मुद्रा में जमा कर सकते हैं। मुद्रा कोष की स्थापना के बाद 10 वर्ष तक सदस्य-देशों के अभ्यंशों में कोई व द्वितीय नहीं की गई है। सर्वप्रथम सितम्बर 1959 में सदस्य-देशों के अभ्यंशों में 50 प्रतिशत की व द्वितीय की गई, जिससे मुद्रा कोष की पूँजी बढ़कर 15,000 मिलियन डॉलर हो गई। 31 मार्च, 1983

को कोष के साधनों में आठवीं बार व द्विंदि का निर्णय लिया गया, जो 20 अप्रैल 1984 से लागू हो गया। इस निर्णय से मुद्राकोष की अभ्यंश राशि बढ़कर 90 बिलियन SDRs हो गई। प्रमुख सदस्य देशों की अभ्यंश-राशि इस प्रकार है- सयुंक्त राज्य अमेरिका 17,918 मिलियन SDRs, ग्रेट ब्रिटेन 6,194 मिलियन SDRs पश्चिमी जर्मनी 5,404 मिलियन SDRs, फ्रांस 4,483 मिलियन SDRs जापान 4,223 मिलियन SDRs तथा भारत 2,208 मिलियन SDRs।

प्रारम्भ में हिसाब की इकाई के रूप में अमेरिकन डॉलर का प्रयोग किया गया था, किन्तु मार्च 1972 के मुद्रा कोष का लेखा-जोखा SDR (विशेष आहरण अधिकार) के रूप में रखा जाने लगा है। प्रारम्भ में SDR की एक इकाई का मूल्य 0.888671 ग्राम स्वर्ण के बराबर माना गया था, किन्तु जुलाई 1974 से इसका मूल्य 16 प्रमुख देशों की मुद्राओं के औसत मूल्य में व्यक्त किया जाने लगा। एक जनवरी 1981 से SDR का मूल्य केवल पाँच मुद्राओं (अमेरिकन डॉलर, ब्रिटिश पौण्ड, जापानी येन, जर्मनी मार्क और फ्रांसीसी फ्रैंक) के आधार पर निश्चित किया जाने लगा। 1 जनवरी 1986 से SDR (विशेष आहरण अधिकार) के मूल्य-निर्धारण में इन मुद्राओं का प्रतिशत योगदान (भार) इस प्रकार रहता है-अमेरिकी डॉलर 42%, ब्रिटिश पौण्ड 12%, जापानी येन 15% जर्मनी मार्क 19% तथा फ्रांसीसी फ्रैंक 12%। आजकल सदस्य-देशों की मुद्राओं का समता-मूल्य भी SDR में व्यक्त किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कार्य

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष सदस्य-देशों की सरकारों (उनके केन्द्रीय बैंकों के माध्यम से) से ही व्यवहार करता है, निजी व्यक्तियों या संस्थाओं से नहीं। मुद्रा कोष सदस्य-देशों की आन्तरिक अर्थव्यवस्थाओं में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता; क्योंकि इसका उद्देश्य तो अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को बढ़ावा देना है। मुद्रा कोष के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं-

- (1) **अल्पकालीन आर्थिक सहायता-** मुद्रा कोष सदस्य-देशों के भुगतानकोष में उत्पन्न अल्पकालीन (अस्थायी) असन्तुलन घटाने का प्रयास करता है। यह सदस्य-देशों को विदेशी-मुद्राएँ बेचकर या विदेशी मुद्राओं में ऋण देकर उनके भुगतानशेष को सन्तुलित बनाने में सहयोग देता है। कोष के पास सभी सदस्य-देशों की मुद्राएँ होती हैं। विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय के सम्बन्ध में कोष की दो शर्तें होती हैं- (i) किसी भी समय कोष के पास किसी सदस्य-देश की कुल मुद्रा उस देश के अभ्यंश की 200 प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकती। (ii) कोई भी सदस्य-देश एक वर्ष में अपने अभ्यंश की 25 प्रतिशत तक कोष से विदेशी विनियम खरीद सकता है। इस तरह, लगातार पाँच वर्षों में वह अपने अभ्यंश की 125 प्रतिशत तक विदेशी मुद्राएँ खरीद सकता है। मुद्रा कोष सदस्य-देशों के भुगतानशेष में उत्पन्न घाटा दूर करने के लिए उन्हें विदेशी मुद्रा में ऋण (जिनकी अवधि 3 से 5 वर्ष तक होती है) भी देता है, बशर्ते उनका घाटा अस्थायी प्रकृति का हो और उसे यथाशीघ्र निरस्त किया जा सकता हो। **मुद्रा कोष के द्वारा चार उद्देश्यों के निमित्त ऋण दिए जाते हैं-** (अ) यदि किसी सदस्य-देश में यकायक कोई आर्थिक संकट उपस्थित हो जाता है (जिससे अन्य देशों को भी हानि पहुँचने का भय हो), तब मुद्रा कोष उसके लिए तत्काल ऋण की व्यवस्था करता है, बशर्ते कोष इस बारे में आश्वस्त हो जाए कि अमुक देश स्वयं भी संकट-निवारण के लिए प्रयत्नशील है। (ब) किसी देश के भुगतानशेष में मौसमी असन्तुलन उत्पन्न होने पर उसके निवारणार्थ मुद्रा कोष 6 से 12 माह तक का ऋण प्रदान करता है। (स) विकासशील देशों को अपनी विकास योजनाएँ पूरी करने के लिए भारी मात्रा में पूँजीगत सामान का आयात करना पड़ता है, जिसके फलस्वरूप उनके भुगतानशेष में निरन्तर घाटा विद्यमान रहता है। इन देशों को चालू भुगतान-असन्तुलन के निवारणार्थ मुद्रा कोष से अल्पकालीन ऋण प्राप्त होता है। (द) बहुपक्षीय भुगतान-प्रणाली कायम रखने के लिए मुद्रा कोष सदस्य-देशों को 'स्थायित्व ऋण' प्रदान करता है।

- (2) **दुर्लभ मुद्राओं की व्यवस्था-** कोष के विधान में दुर्लभ मुद्राओं के लिए पथक से व्यवस्था की गई है। सीमित मात्रा में कोष के पास सभी सदस्य-देशों की मुद्राएँ होती हैं, जिनका वह विभिन्न देशों की मुद्राओं के साथ क्रय-विक्रय कर सकता है। जब विशिष्ट देश की मुद्रा की माँग (सदस्य-देशों द्वारा) मुद्रा कोष के पास उसकी उपलब्ध पूर्ति से इतनी अधिक हो जाए कि मुद्रा कोष के लिए उसे अपने साधनों से पूरा करना सम्भव नहीं हो, तब वह ऐसी मुद्रा को 'दुर्लभ' घोषित कर सकता है। किसी मुद्रा को 'दुर्लभ मुद्रा' घोषित कर देने पर मुद्रा कोष को उसका राशनिंग करने का अधिकार मिल जाता है। ऐसी स्थिति में सदस्य-देशों को भी दुर्लभ मुद्रा वाले देश से आयातित माल पर प्रतिबन्ध लगाकर अपना भुगतानशेष सन्तुलित करने का अधिकार मिल जाता है।
- (3) **समता-दरों का निर्धारण-** मुद्रा कोष की स्थापना का मुख्य उद्देश्य सदस्य-देशों के बीच विनिमय-साध्यता और विनिमय-स्थायित्व को प्रोत्साहित करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु विभिन्न मुद्राओं के बीच विनिमय-अनुपात के निर्धारण हेतु स्वर्ण को आधार बनाया गया। विनिमय-दरों के सम्बन्ध में मुद्रा कोष ने 'प्रतिबन्ध लोचपूर्णता' (Managed Flexibility) का सिद्धान्त अपनाया। तदनुसार सदस्य-देशों को अपनी समता-दरों में परिवर्तन करने का अधिकार दिया गया। नई अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली के अन्तर्गत मुद्रा कोष द्वारा आरम्भ की गई समता-दरों की प्रणाली समाप्त हो गई। अब विनिमय दरों के सम्बन्ध में सदस्य-देश अपनी स्वतन्त्र नीति अपना सकते हैं। साथ ही उनका यह उत्तरदायित्व है कि वे मुद्रा कोष तथा अन्य सदस्य-देशों के साथ विनिमय की उचित व्यवस्था बनाए रखें।
- (4) **प्रशिक्षण सुविधाएँ-** 1951 से मुद्रा कोष ने सदस्य-देशों के प्रतिनिधियों (जो प्रायः केन्द्रीय बैंक तथा सरकार के वित्त-विभाग के उच्च अधिकारी होते हैं) को प्रशिक्षण दिलाने की व्यवस्था की है। प्रशिक्षण-काल 6 से 12 माह तक का होता है। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान, आर्थिक भुगतान, आर्थिक विकास, वित्तीय व्यवस्था, समक-संकलन एवं विश्लेषण का प्रशिक्षण दिया जाता है। मई 1964 में मुद्रा कोष ने वाशिंगटन में 'प्रशिक्षण संस्थान' (Training Institute) स्थापित किया, जहाँ विभिन्न भाषाओं में वित्तीय-विश्लेषण का प्रशिक्षण दिया जाता है।
- (5) **विनिमय-प्रतिबन्ध सम्बन्धी परामर्श-** मुद्रा कोष की स्थापना विनिमय-नियन्त्रण समाप्त करने के उद्देश्य से की गई थी। परन्तु व्यावहारिक दस्तिकोण अपनाते हुए मुद्रा कोष ने निश्चय किया कि पूँजी के अत्यधिक एवम् निरन्तर प्रवाह की रोकथाम हेतु किसी देश की मुद्रा के दुर्लभ होने की स्थिति में तथा संक्रान्तिकाल में सदस्य-देशों को विनिमय-प्रतिबन्ध लगाने की अनुमति दी जाए। मुद्रा कोष की स्थापना के समय अधिकांश देशों के भुगतान-सन्तुलन प्रतिकूल थे। अतः चालू अन्तर्राष्ट्रीय सौदों पर 5 वर्ष के संक्रान्तिकाल के लिए भुगतानों पर प्रतिबन्ध लगाने की अनुमति दी गई। सदस्य-देशों का दायित्व है कि वे विदेशी विनिमय के चालू सौदों पर किसी तरह का प्रतिबन्ध न लगाएँ; क्योंकि ऐसे प्रतिबन्ध विदेशी व्यापार के विकास में बाधक होते हैं।
- (6) **तकनीकी सहायता-** मुद्रा कोष सदस्य-देशों को आर्थिक और मौद्रिक विषयों पर परामर्श अर्थात् तकनीकी सहायता देता है। मुद्रा कोष सदस्य-देशों को अपने विशेषज्ञों की सेवाएँ प्रदान करता है। ये विशेषज्ञ मौद्रिक, राजकोषीय, आर्थिक विकास तथा भुगतान-सन्तुलन सम्बन्धी नीतियों के निर्धारण में सहयोग करते हैं। तकनीकी सहायता का कार्य मुद्रा कोष के दो विभागों अर्थात् 'केन्द्रीय बैंकिंग सेवा विभाग' और 'राजकोषीय मामले-सम्बन्धी विभाग' द्वारा सम्पन्न किया जाता है।
- (7) **मुद्रा की पुनः खरीद-** मुद्रा कोष की तरलता बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि कोष के पास किसी सदस्य-देश की मुद्रा अधिक मात्रा में एकत्रित न होने पाए। अतः कोष के समझौता-पत्र में इस तरह की व्यवस्था है कि मुद्रा की पुनः खरीद की जा सके। यदि कोष

- के पास किसी देश की मुद्रा उसकी अभ्यंश-राशि से अधिक हो जाती है, तब ऐसा देश परिवर्तनशील मुद्रा के बदले अपनी फालतू मुद्रा खरीद सकता है।
- (8) **विदेशी मुद्रा में ऋण का वचन-** मुद्रा कोष सदस्य-देशों को विदेशी मुद्रा बेचकर तथा उन्हें विदेशी मुद्रा में ऋण का वचन देकर अल्पकालीन अन्तर्राष्ट्रीय साख की व्यवस्था करता है। विदेशी मुद्रा में ऋण के वचन का सुझाव बर्नस्टीन (Bernstein) ने दिया था। तदनुसार 1952 से मुद्रा कोष ने विदेशी मुद्रा में ऋण के समझौते किए हैं। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सदस्य-देश निश्चित अवधि के भीतर अपनी आवश्यकता बतलाकर कोष से विदेशी विनिमय प्राप्त कर सकते हैं।
- (9) **क्षतिपूर्ति वित्तीय सहायता-** 1963 में आरम्भ इस योजना के अन्तर्गत मुख्यरूप से प्राथमिक पदार्थों का उत्पादन एवं निर्यात करनेवाले देशों को अभ्यंश के आधार पर निश्चित राशि के अतिरिक्त भी सहायता दिए जाने का प्रावधान है। अगस्त 1979 से इस योजना को अधिक उदार बना दिया गया है।
- (10) **पूरक वित्त-पोषण सुविधा-** फरवरी 1979 से आरम्भ इस योजना के अन्तर्गत उन देशों को दीर्घकाल के लिए पूरक वित्तीय सहायता दी जाती है, जिनके भुगतानशेष में भारी घाटा विद्यमान हो।

1963 से पूर्व कोई सदस्य-देश पाँच वर्ष के भीतर अपनी अभ्यंश-राशि का अधिकतम 125 प्रतिशत ही ऋण के रूप में ले सकता था, किन्तु अब ऋण की राशि 500 से 600 प्रतिशत तक हो सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं भारत (I.M.F. AND INDIA)

भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का संरथापक सदस्य है। भारत की गणना उन 44 देशों में की जाती है, जिन्होंने ब्रेटन बुड़स सम्मेलन में भाग लिया और सम्मेलन के निर्णय स्वीकार किए। प्रारम्भ में भारत का अभ्यंश 400 मिलियन डॉलर था, जो 1959 में बढ़ाकर 600 मिलियन डॉलर, 1965 में 750 मिलियन डॉलर, 1970 में 940 मिलियन डॉलर तथा 1976 में 1, 145 मिलियन SDRs कर दिया गया। 1984 में भारत का अभ्यंश 2, 208 मिलियन SDRs हो गया, जो समस्त देशों की अभ्यंश-राशि का 2.4 प्रतिशत है। 1970 तक अभ्यंश-राशि के आधार पर भारत का मुद्रा कोष के सदस्यों में पाँचवाँ स्थान था। अतः कोष के संचालक मण्डल में भारत को स्थायी प्रतिनिधित्व प्राप्त था। अतः कोष के संचालक मण्डल में भारत को स्थायी प्रतिनिधित्व प्राप्त था। परन्तु अब भारत का स्थान नौवाँ हो गया है। अतः कोष के संचालक मण्डल में भारत का स्थायी प्रतिनिधित्व समाप्त हो गया है।

मुद्रा कोष का सदस्य होने के नाते भारत ने रुपए का समता-मूल्य स्वर्ण और डॉलर में क्रमशः 0.268601 ग्राम और 30.25 सेण्ट घोषित किया था। सितम्बर 1949 में रुपए के अवमूल्यन के बाद रुपए का समता-मूल्य घटकर स्वर्ण और डॉलर में क्रमशः 0.186621 ग्राम और 21 सेण्ट रह गया। जून 1966 में रुपए के पुनः अवमूल्यन के बाद समता-मूल्य स्वर्ण और डालर में घटकर क्रमशः 0.118489 ग्राम और 13.33 सेण्ट रह गया। फरवरी 1973 में अमेरिकी डॉलर के अवमूल्यन के बाद अन्य देशों की मुद्राओं की तरह, भारतीय रुपए को भी विदेशी विनिमय बाजार में तैरने (Floating) के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया गया। भारत सरकार ने रुपए को ब्रिटिश पौण्ड से सम्बद्ध कर दिया; क्योंकि अन्य विदेशी मुद्राओं की तरह पौण्ड के विनिमय-मूल्य में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। 24 सितम्बर, 1975 से रुपए का ब्रिटिश पौण्ड से सम्बन्ध-विच्छेद करके उसे भारत के विदेशी व्यापार में प्रमुख भागीदार देशों की मुद्राओं के समूह (Basket of Currencies) के साथ जोड़ दिया गया। पौण्ड-स्टर्लिंग को 'हस्तक्षेप की मुद्रा' (Currency of Intervention) के रूप में स्वीकार करने का निर्णय लिया गया। अब

भारतीय रूपए का बाह्य-मूल्य (विनिमय-दर) पौण्ड-स्टर्लिंग के रूप में व्यक्त किया जाता है।

भारत को मुद्रा कोष से सहायता

भुगतानशेष में उपस्थित अल्पकालीन असन्तुलन ठीक करने के लिए भारत सरकार ने कोष से समय-समय पर स्वदेशी मुद्रा के बदले विदेशी मुद्राएँ खरीदी हैं। मुद्रा कोष का सदस्य बनने के समय से लेकर 1975 तक भारत को कोष से 1,865 मिलियन डॉलर की सहायता प्राप्त हुई। कोष के ऋणों का भुगतान करने में भारत नियमित रहा है। 1971 में भारत ने मुद्रा कोष के समस्त ऋणों का भुगतान कर दिया था। बाद में मुद्रा कोष द्वारा आरम्भ 'तेल-सुविधा' के लिए उधार योजना' के अन्तर्गत 1974 और 1975 में भारत को 7,532 मिलियन रूपए के बराबर सहायता प्राप्त हुई। 21 जुलाई, 1978 को भारत सरकार की घोषणा के अनुसार, भारत ने मुद्रा कोष का 2013 मिलियन डॉलर का समस्त ऋण चुकता कर दिया था।

अगस्त 1980 में भारत ने मुद्रा कोष की प्रन्यास निधि से 525.5 मिलियन SDRs का ऋण लिया, जो 541 करोड़ रूपए के तुल्य था। मुद्रा कोष की 'क्षतिपूरक वित्त-सुविधा' के अन्तर्गत भारत को विदेशी विनिमय खरीदने की अनुमति भी प्राप्त हुई। भारत ने 266 मिलियन SDRs के तुल्य विदेशी मुद्राएँ खरीदी। नवम्बर 1981 में मुद्रा कोष ने भारत को 5,000 मिलियन SDRs (5,200 करोड़ रूपए के बराबर) का ऋण स्वीकृत किया, जो जून 1982 से लेकर जून 1984 तक तीन किस्तों में मिलना था और जिस पर देय ब्याज की दर 10.5 प्रतिशत थी। मार्च 1984 तक भारत ने 3.9 बिलियन SDRs प्राप्त कर लिए थे। अर्थव्यवस्था के अच्छे कार्य-निष्पादन को देखते हुए 1.1 बिलियन SDRs की शेष ऋण-राशि न लेने का निश्चय हुआ। 1983-84 में विनिमय-दर 1 SDR = 10.88 रूपए थी, जो बढ़कर 1984-85 में 11.44 रूपए, 1985-86 में 12.38 रूपए, 1986-87 में 14.46 रूपए और 1987-88 में 16.51 रूपए हो गई। 30 जून, 1987 तक भारत ने 627.25 मिलियन SDRs का भुगतान कर दिया। शेष 3212.75 मिलियन SDRs का भुगतान अप्रैल 1994 तक किया जाना है।

मुद्रा कोष की सदस्यता से भारत को प्राप्त लाभों की गणना निम्न प्रकार करायी जा सकती है-

- (1) **रूपए की स्वतन्त्रता-** मुद्रा कोष की स्थापना से पूर्व रूपया केवल पौण्ड-स्टर्लिंग के माध्यम से अन्य विदेशी मुद्राओं में बदला जा सकता था, किन्तु कोष का सदस्य बनने के बाद भारतीय रूपया 'स्वतन्त्र मुद्रा' बन गया। 1947 में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में संशोधन करके भारत सरकार ने रिजर्व बैंक को अधिकार दिया कि वह अपनी मौद्रिक निधि में स्टर्लिंग के साथ-ही-साथ अन्य देशों की प्रतिभूतियाँ भी रख सकता है। इस व्यवस्था से भारतीय रूपए की अन्य विदेशी मुद्राओं में बहुपक्षीय परिवर्तनशीलता हो गई तथा यह ब्रिटिश पौण्ड की परम्परागत दासता से मुक्त हो गया।
- (2) **विदेशी मुद्राओं की उपलब्धता-** कोष का सदस्य होने के नाते भारत समय-समय पर अपनी आवश्यकतानुसार कोष से विदेशी मुद्राएँ खरीदता रहा है। विदेशी मुद्राओं की उपलब्धता से भारत को आर्थिक विकास की गति तेज करने तथा विनिमय संकट का सामना करने में अपूर्व सहायता मिली है। 1949 से लेकर 1975 तक भारत ने मुद्रा कोष से कुल 2,0113 मिलियन SDRs मूल्य की विदेशी मुद्राएँ खरीदीं तथा उनका नियमित भुगतान किया।
- (3) **विश्व बैंक की सहायता-** मुद्रा कोष की सदस्यता के कारण भारत विश्व बैंक का सदस्य बन सका है तथा विश्व बैंक से अपने विकास कार्यक्रमों के लिए आर्थिक सहायता प्राप्त कर सका है।

- (4) **अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व में व द्वि-** भारत मुद्रा कोष का संस्थापक सदस्य है। 1970 तक मुद्रा कोष की पूँजी में भारत का पाँचवाँ बड़ा अभ्यंश होने के नाते कोष के संचालक मण्डल में रथायी प्रतिनिधित्व प्राप्त था। इससे अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भारत का महत्त्व बढ़ा। मुद्रा कोष की नीति-निर्धारण में भारतीय प्रतिनिधि ने महत्वपूर्ण भाग लिया तथा कोष की ऋण-नीति उदार बनाने का प्रयास किया।
- (5) **संकटकालीन सहायता-** अन्य देशों की तरह, भारत को भी मुद्रा कोष से संकटकालीन सहायता प्राप्त हुई है। उदाहरणार्थ- 1957 में उत्पन्न विनिमय संकट के निवारण हेतु मुद्रा कोष ने भारत को 200 मिलियन डॉलर का ऋण स्वीकृत किया। भारतीय अर्थव्यवस्था की संकटजन्य परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए मुद्रा कोष ने भारत को उस नियम से मुक्त कर दिया, जिसके अनुसार वह एक वर्ष के भीतर अपने अभ्यंश की 25 प्रतिशत से अधिक सहायता प्राप्त नहीं कर सकता था। 1965-1966 में पाकिस्तानी आक्रमण तथा देशव्यापी सूखे से उत्पन्न वित्तीय कठिनाई के निवारण हेतु मुद्रा कोष ने भारत को 187.5 मिलियन डॉलर का ऋण स्वीकृत किया।
- (6) **आर्थिक परामर्श की उपलब्धता-** पंचवर्षीय योजनाओं की वित्त-व्यवस्था के सम्बन्ध में मुद्रा कोष के विशेषज्ञों ने भारत सरकार को समय-समय पर आवश्यक परामर्श दिया। इस प्रकार, कोष का सदस्य होने के नाते भारत को घरेलू आर्थिक समस्याओं के निवारण में सहायता मिली है।
- (7) **विदेशी व्यापार में व द्वि-** मुद्रा कोष से प्राप्त वित्तीय एवं तकनीकी सहायता के फलस्वरूप भारत के विदेशी व्यापार में उल्लेखनीय व द्वि हुई।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की उपलब्धियाँ

मुद्रा कोष की प्रमुख उपलब्धियाँ (सफलताएं) निम्नलिखित हैं-

- (1) **मौद्रिक प्रारक्षित निधि की स्थापना-** मुद्रा कोष के पास विभिन्न देशों की मुद्राओं का स्टॉक एकत्रित है। इससे मुद्रा कोष सदस्य-देशों की विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी करता है। जब किसी देश की मुद्रा की माँग उसकी पूर्ति से अधिक हो जाती है, तब मुद्रा कोष उसे 'दुर्लभ मुद्रा' घोषित करके विभिन्न देशों के बीच उसका राशनिंग कर देता है। जुलाई 1948 से लेकर जुलाई 1985 तक सदस्य-देशों ने मुद्रा कोष से 94,260 मिलियन SDRs के तुल्य वित्तीय सहायता प्राप्त की। इसमें से 60 प्रतिशत सहायता (64,262 मिलियन SDRs के तुल्य) विकासशील देशों को प्राप्त हुई।
- (2) **बहुपक्षीय व्यापार और भुगतान-प्रणाली को बढ़ावा-** मुद्रा कोष की स्थापना से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बहुपक्षीय व्यापार एवं भुगतान-प्रणाली को प्रोत्साहन मिला है, यद्यपि संक्रान्तिकाल में सदस्य-देशों को विदेशी व्यापार एवं विदेशी विनिमय पर प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार दिया जाता है। संक्रान्तिकाल के उपरान्त ऐसे देशों को विदेशी विनिमय और विदेशी व्यापार पर लगाए गए प्रतिबन्ध हटाने पड़ते हैं। फलतः अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मौद्रिक सहयोग को बल मिला है तथा निवेश हेतु पूँजी का आवागमन प्रोत्साहित हुआ है।
- (3) **अस्थायी भुगतान-असन्तुलन में सुधार-** आवश्यकता पड़ने पर सदस्य-देश मुद्रा कोष से अपनी मुद्राओं के बदले विदेशी मुद्राएँ खरीदकर भुगतानाशेष में विद्यमान अल्पकालीन असन्तुलन ठीक कर सकते हैं। 1952 तक मुद्रा कोष ने अपनी आधारभूत क्रियाओं में जोखिम न्यूनतम रखने की नीति अपनाई। फलतः 1949-52 के दौरान विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय की गति बहुत

धीमी रही। परन्तु 1953 से कोष ने ऋण की उदार शर्तें अपनाई, जिनके फलस्वरूप कोष द्वारा विदेशी मुद्राओं के ऋण अधिक उदारतापूर्वक दिए गए हैं। कोष के प्रयासों से सदस्य-देशों की मुद्राओं की अन्तर्राष्ट्रीय परिवर्तनशीलता स्थापित हुई है।

- (4) **विनिमय दरों में स्थिरता-** विनिमय कठिनाइयों के बावजूद, मुद्रा कोष 1971 तक विनिमय दरों में स्थिरता बनाए रहा। मुद्रा कोष की मौलिक व्यवस्था के अनुसार, विभिन्न देशों की मुद्राओं के बीच विनिमय-दरों के निर्धारण का कार्य सुगम हो गया तथा विनिमय दरें अधिक स्थिर हो गई। विनिमय-स्थिरता हेतु सदस्य-देशों को घरेलू आर्थिक नीतियों की स्वतन्त्रता का परित्याग भी नहीं करना पड़ा। विनिमय दरों की सापेक्षिक स्थिरता के कारण ही युद्धोत्तरकाल में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अपूर्व व द्विः हुई है। 1948 में विश्व-निर्यात 53 अरब डॉलर के थे, जो 1985 में बढ़कर 180 अरब डॉलर के हो गए।
- (5) **प्रतिस्पर्धात्मक अवमूल्यन पर रोक-** मुद्रा कोष को 'बहुल करेन्सी प्रणाली' और 'प्रतिस्पर्धात्मक अवमूल्यन' सरीखी हानिप्रद व्यवस्थाओं की रोकथाम करने में सफलता मिली है, यद्यपि भुगतानशेष का आधारभूत असन्तुलन ठीक करने के लिए मुद्रा कोष सदस्य-देशों को विदेशी व्यापार एवं विदेशी विनिमय पर नियन्त्रण लगाने के अतिरिक्त मुद्राओं का अवमूल्यन करने (विनिमय-दरों का समायोजन करने) की सलाह देता रहा है।
- (6) **निर्यात-उच्चावचनों के लिए क्षतिपूरक वित्त-** अनेक विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाएँ कच्चे-माल के निर्यात पर निर्भर हैं। कच्चे-माल के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में बहुधा उच्चावचन होते रहने से इन देशों को भारी क्षति उठानी पड़ती है। फरवरी 1963 से मुद्रा कोष द्वारा निर्यात-उच्चावचनों से सम्भावित हानि की पूर्ति के लिए ऐसे देशों को आर्थिक सहायता दी जा रही है, जो इन देशों की मुद्रा कोष से प्राप्त सामान्य सहायता के अतिरिक्त होती है।
- (7) **प्रशिक्षण एवं तकनीकी सहायता-** सदस्य-देशों के भुगतानशेष में निहित अस्थायी प्रक्रिया का असन्तुलन ठीक करने के लिए वित्तीय सहायता के अतिरिक्त, मुद्रा कोष उन्हें तकनीकी सहायता भी प्रदान करता है। 1951 से ही कोष द्वारा सदस्य-देशों के प्रतिनिधियों को प्रशिक्षण दिलाने का कार्य किया जा रहा है। 1964 में मुद्रा कोष ने दो नए विभागों की स्थापना की- (i) केन्द्रीय बैंकिंग सेवा विभाग, जो सदस्य-देशों के केन्द्रीय बैंकों का संचालन करने हेतु विशेषज्ञों की सेवाएं प्रदान करता है। (ii) राजकोषीय मामलों का विभाग, जो सदस्य-देशों को साख एवं मोद्रिक-नीति सरीखे महत्वपूर्ण विषयों पर परामर्श देता है। प्रशिक्षण-सुविधाओं के विस्तार हेतु मुद्रा कोष ने वाशिंगटन में 'प्रशिक्षण संस्थान' स्थापित किया है।
- (8) **सदस्य-देशों की आन्तरिक अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं-** मुद्रा कोष सदस्य-देशों के घरेलू मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता। यह उनकी आर्थिक एवं मोद्रिक नीतियों को प्रभावित करने का प्रयास भी नहीं करता। घरेलू मामलों में निर्णय लेने की सदस्य-देशों को पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है।
- (9) **अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में व द्विः-** विगत वर्षों में सदस्य-देशों के अभ्यंशों में की गई व द्वियों के फलस्वरूप मुद्रा कोष के तरल साधनों तथा उसकी शर्तयुक्त एवं शर्तरहित सहायता प्रदान करने की क्षमता का विस्तार हुआ है। विशेष आहरण अधिकार योजना लागू करके मुद्रा कोष ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता बढ़ाने का प्रयास किया है। भुगतान-सन्तुलन की कठिनाइयों के अतिरिक्त, अब कोष के साधनों का प्रयोग पुनर्निर्माण एवं विकास कार्यों में भी होने लगा है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की विफलताएं

मुद्रा कोष अपने अधिकांश उद्देश्यों की पूर्ति में असफल रहा है। मुद्रा कोष की प्रमुख विफलताएं (आलोचनाएँ) निम्नलिखित हैं-

- (1) **सीमित कार्य-क्षेत्र-** मुद्रा कोष केवल चालू सौदों के उत्पन्न असन्तुलित भुगतानों की समस्या का समाधान करता है। युद्ध-ऋणों की अदायगी, पूँजी का आयात-निर्यात, अवरुद्ध-स्टर्लिंग, आदि, से सम्बन्धित समस्या के निपटारे में मुद्रा कोष सदस्य-देशों की कोई सहायता नहीं करता। स्पष्टतः मुद्रा कोष का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। कॉलबोर्न (Caulborn) के शब्दों में, “मुद्रा कोष का समझौता उस पारदर्शक कागज की तरह है, जिसमें विश्व की राजनीतिक-व्यवस्था की फूट दिखाई पड़ती है।”
- (2) **अभ्यंश-निर्धारण का अवैज्ञानिक आधार-** मुद्रा कोष की पूँजी में विभिन्न देशों के अभ्यंशों का निर्धारण वैज्ञानिक आधार पर नहीं किया गया है। फलतः मुद्रा कोष पर अमेरिका और ब्रिटेन सरीखे धनवान देशों का आधिपत्य स्थापित हो गया है। अभ्यंशों का निर्धारण सदस्यों की विनिमय आवश्यकताओं के आधार पर होना चाहिए था।
- (3) **भेदभावपूर्ण व्यवहार-** मुद्रा कोष ‘धनवानों का क्लब’ (Richman's Club) है, जो धनवान देशों की इच्छानुसार कार्य करता है तथा उसके समर्थकों की अधिक सहायता करता है। यदि पश्चिमी देश मुद्रा कोष के आदेशों का उल्लंघन करते हैं (जैसा कि 1948 में फ्रांस ने कोष की अवज्ञा करते हुए अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया था), तब मुद्रा कोष उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं करता।
- (4) **विनिमय-नियन्त्रण हटाने में असमर्थ-** मुद्रा कोष विभिन्न देशों द्वारा विदेशी व्यापार एवं विदेशी विनिमय पर लगाए गए प्रतिबन्ध हटाने में (जो इसका प्रमुख उद्देश्य माना गया था) विफल रहा है। आज भी अमेरिका सरीखे धनी देश संरक्षण की नीति अपनाए हुए हैं। जी०डी०एच०कोल (G.D.H.Cole) के शब्दों में, “मुद्रा कोष का अन्तर्राष्ट्रीय स्फीति और अवसाद पर कोई नियन्त्रण नहीं है।”
- (5) **बहुल विनिमय दरों के उन्मूलन में विफलता-** किसी देश द्वारा विभिन्न प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सौदों के लिए अलग-अलग विनिमय दरों का निर्धारण ही ‘बहुल विनिमय-दर प्रणाली’ कहलाता है। ऐसी विनिमय दरों को हटाने में मुद्रा कोष विफल रहा है। उदाहरणार्थ- अगस्त 1971 में फ्रांस ने विनिमय दर निश्चित कर दी गई तथा सद्वात्मक सौदों के लिए तैरती हुई विनिमय दर रखी गई।
- (6) **विनिमय-स्थिरता के उद्देश्य की पूर्ति में विफलता-** विदेशी विनिमय दरों में स्थिरता बनाए रखने के उद्देश्य में मुद्रा कोष विशेष रूप से असफल रहा है। 1971 से पहले भी जो थोड़ी-बहुत विनिमय-स्थिरता दिखाई दी, वह केवल इसलिए कि इस अवधि में विनिमय-स्थायित्व बनाए रखा जा सका था। अगस्त 1971 में जब अमेरिकन सरकार ने डॉलर संकट पर काबू पाने के उद्देश्य से डॉलर की स्वर्ण में परिवर्तनीयता निलम्बित कर दी, तब अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संकट उपस्थित हो गया। प्रमुख यूरोपीय मुद्राएं विदेशी विनिमय बाजारों में स्वतन्त्रतापूर्वक तैरने (Floating) लगी तथा विनिमय-स्थिरता का युग समाप्त हो गया।
- (7) **तरलता की समस्या का वास्तविक समाधान नहीं-** सीमित साधनों के कारण मुद्रा कोष अन्तर्राष्ट्रीय तरलता बढ़ाने के उद्देश्य में विफल रहा है। यद्यपि कोष ने समय-समय पर सदस्य देशों के अभ्यंश बढ़ाए, 1961 के अन्त से ‘विशेष आहरण अधिकार’ नामक योजना चालू की और

अन्ततः अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में स्वर्ण की भूमिका समाप्त (स्वर्ण का विमुद्रीकरण करके) कर दी; तथापि अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के साधनों की स्वल्पता निरन्तर बनी रही है। विगत वर्षों में अफ्रीकी और एशियायी देशों के अधिकाधिक सदस्य बनने के कारण मुद्रा कोष के सीमित साधनों पर माँग का दबाव बहुत बढ़ गया है। दुर्बल मुद्राओं के आबण्टन में मुद्रा कोष सदस्य-देशों की आवश्यकताएं पूरी नहीं कर पाया है।

- (8) **मुद्राओं की बहुपक्षीय परिवर्तनशीलता स्थापित करने में विफलता-** मुद्रा कोष विभिन्न मुद्राओं की बहुपक्षीय परिवर्तनशीलता स्थापित करने में असफल रहा है। आज भी अधिकांश भुगतानों का आधार द्विपक्षीय होता है।
- (9) **विकासशील देशों को कम प्रतिनिधित्व-** यद्यपि कोष के 90 प्रतिशत सदस्य विकासशील देश हैं, किन्तु उन्हें केवल 35 प्रतिशत वोट अधिकार प्राप्त हैं। मुद्रा कोष की कार्यकारिणी में अमेरिकी हितों की रक्षा हेतु लैटिन अमेरिकी देशों को अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया है।

सुधार के सुझाव (Suggestions to Improve me)

प्रो०० सैम्यूल्सन ने 1997 में अपने एक लेख Three Cheers for the IMF में कोष के कार्यकरण और उपलब्धियों की बहुत प्रशंसा की और लिखा कि मैक्रिसको में वित्तीय संकट का कारण यह था कि जब उसमें विदेशी मुद्रा का अंतर्वाह (inflow) हो रहा था तो कोष द्वारा दी गई चेतावनी को उसने नजरंदाज किया और यही कारण पूर्व एशियाई देशों के आर्थिक संकट का है। दूसरी ओर प्रो०० फ्रीडमैन ने अक्टूबर, 1995 में एक लेख में कोष को विश्व आर्थिक संकट का दोषी ठहराते हुए उसे समाप्त करने के लिए कहा क्योंकि इसने लाभ की अपेक्षा हानि अधिक पहुँचाई है। प्रो०० श्वार्टज ने भी अक्टूबर में एक लेख Time of Terminate the ESF and the IMF में, जो 1998 में प्रकाशित हुआ, कोष की नीतियों को दोषी ठहराते हुए यह विचार प्रकट किया कि वर्तमान संकट का हल IMF का सुधार नहीं। इसलिए, इसे बन्द कर देना चाहिए। फ्रीडमैन और श्वार्ट्ज के उग्र विचार हैं। कोष जैसी संस्था जिसने पाँच दशकों से अधिक समय में विश्व की आर्थिक व द्विं में महत्वपूर्ण योगदान दिया हो, उसे बंद या समाप्त करने की अपेक्षा उसकी नीतियों को सुधारना अधिक उपयुक्त होगा ताकि वर्तमान आर्थिक संकट के छूत प्रभाव (contagion effect) को और भविष्य में ऐसे संकटों को रोका जा सके। इसके लिए विभिन्न विश्व आर्थिक मंचों पर निम्न सुझाव दिए गए हैं-

1. पूर्व एशिया, रूस, लैटिन अमेरिका और अन्य विकासशील देशों को, जो आर्थिक संकट से ग्रस्त हैं अथवा जिन्हें छूत प्रभाव का भय है, आसान शर्तों पर वित्तीय सहायता देने के लिए कोष द्वारा प्रावधान करना चाहिए।
2. कोष को एक ऐसा प्रोग्राम बनाना चाहिए जो आर्थिक संकट में देशों के लिए सुरक्षा जाल (safety net) का काम करे।
3. एक ऐसी मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रणाली कायम की जाए जो विकासशील देशों के प्रति उचित और न्यायसंगत हो।
4. विश्व के विकसित देशों की समस्ति आर्थिक नीतियाँ इस तरह चलाई जाएं कि वे विश्व उत्पाद और व्यापार व द्विं को सुरक्षा प्रदान करें, इस तरह विश्व-अर्थव्यवस्था के लिए बहुत प्रभावी सुरक्षा जाल का कार्य करें।
5. कोष को यह प्रयत्न करना चाहिए कि सरकारी विकास सहायता की विश्व के देशों द्वारा वर्चनबद्धता में व द्विं हो।

6. विकासशील देशों के बैंकिंग सिस्टम और निगम क्षेत्रों की पुनर्संरचना करने के लिए कोष को परामर्श देना और सहायता करनी चाहिए।
7. देशों को संरक्षणवाद से दूर रहने और खुली मार्किट प्रक्रिया को चालू रखने के लिए कोष को नीति सुझाने चाहिए।
8. सभी देशों और अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं को इस बात के लिए कोष को बलपूर्वक अनुरोध करना चाहिए कि वे भ्रष्टाचार के समाप्त करें तथा अच्छे शासन को प्रोत्साहित करें।
9. कोष को चाहिए कि विकासशील देशों को ऐसे नीति उपाय सुझाए और ऐसी वित्तीय सहायता दे जिससे वे आंतरिक संसाधनों को बढ़ाकर अपनी विकास कार्यक्रमों का स्वयं वित्त-प्रबंध करें।
10. छूत प्रभाव से बचने के लिए कोष की विकास कमेटी ने विकासशील देशों को यह कहा है कि वे मार्किट को खुला करके, संरक्षण हटाकर, बैंकिंग प्रणाली में सुधार करके, तथा भ्रष्टाचार को समाप्त कर, शासन में सुधार द्वारा अपनी नीतियों और संस्थाओं को सुदृढ़ करें। दूसरी ओर, उसने विकसित देशों को यह सलाह दी है कि वे शीघ्र और निश्चित कार्रवाई करें जिनसे विश्व वित्तीय स्थिरता और व द्वि की उच्च गतिमात्रा कायम की जाए।

अध्याय-27

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता-अर्थ, पर्याप्तता और निर्धारक (Meaning, Adequacy and determinant of International Liquidity)

दैनिक जीवन में हम अपने सौदों का भुगतान नगदी में करते हैं और यदि उधार लिया हो, तो वायदे के अनुसार उसका भुगतान नगद राशि देकर करते हैं। आकस्मिक संकटों के लिए भी हम अपनी बचत को नगद या तरल रूप में रखते हैं। तरल रूप से आशय नगदी मुद्रा का है अथवा ऐसी चीज से है जिसे शीघ्रातिशीघ्र नगदी मुद्रा में परिणित किया जा सके। “व्यक्तियों की भाँति देशों को भी अन्य देशों से वस्तुएँ व सेवाएँ आयात करने के लिए तरल साधन चाहिए जो भी कोष किसी देश के पास विदेशी सौदों के भुगतान के लिए उपलब्ध हों, वह अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में गिना जाता है, अर्थात् उसका अंग होता है।”

किसी देश के अन्दर तरलता की प्राप्ति उस देश की कानूनी मुद्रा से होती है। अतः यदि देश में तरलता बढ़ानी हो, तो उसकी कानूनी मुद्रा की मात्रा में व द्विकरणीय होगी। सम्भव है कि देश के कुछ भागों में तरलता अधिक हो किन्तु अन्य भागों में कम, पर वह कभी गम्भीर रूप से कम नहीं हो सकती क्योंकि (i) अतरल परिसम्पत्तियाँ (non-liquid-assets) बेचकर नगद मुद्रा या तरलता बढ़ाई जा सकती है और (ii) अभाव के क्षेत्र में मुद्रा को सार्वजनिक व्यय के द्वारा भेजा जा सकता है।

किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कोई कानूनी मुद्रा नहीं होती, वहाँ तो रुड़ (conventional) मुद्रा चलती है। कोई भी केन्द्रीय संस्था ऐसी मुद्रा निर्गमित नहीं कर सकती जो कि सब देशों को मान्य हो अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का अभिप्रायः एक ऐसे माध्यम की उपलब्धि से है, जो कि सभी देशों को स्वीकार्य हो। ऐसे माध्यमों में सोने का स्थान पहला है। ऐसा कोई देश नहीं है जो इस पीली धातु की चमक से मोहित न हो। कुछ समय पूर्व तक पौँड, स्टर्लिंग और डालर भी सर्व ग्राह्य रहे। ऐसी मुद्राएँ या भुगतान की रीतियाँ, जो सर्वग्राह्य (generally acceptable) हों और सोने की भाँति कार्य करती हों ‘तरल साधन’ (liquid resources) अथवा ‘लगभग अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा’ (almost international money) कहलाती हैं। सच तो यह है कि जिस किसी भी चीज का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के भुगतान हेतु किया जा सकता है वह अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का अंग बन जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के विभिन्न अंग इस प्रकार हैं-

- (1) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (IMF) और विभिन्न देशों के केन्द्रीय बैंकों के पास सोने के कोष अर्थात् मौद्रिक स्वर्ण-कोष)।
- (2) दुर्लभ मुद्राएँ (scarce currencies), जो कि दुर्लभ मुद्रा कोषों से बाहर हों।
- (3) मुद्रा-कोष में कोटे (quotas) एवं निकासी अधिकार (Drawing Rights)।
- (4) द्विपक्षीय उधारी समझौते (bilateral credit agreements) एवं रवैप व्यवस्थाएँ (swap arrangements)।

- (5) मुद्रा-कोष के ऋण देने सम्बन्धी अग्रिम वचन (Stand by agreements) एवं
(6) मुद्रा-कोष के विशेष आहरण धिकार (Special Drawing Rights)।

इसमें से किसी भी या सभी में या कुछ में व द्वि होने से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में व द्वि हो सकती है या एक देश में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता कम होकर दूसरे देश में बढ़ सकती है। 'व द्वि होना' और 'पर्याप्त होना' एक ही बात नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को तब पर्याप्त (adequate) कहा जाएगा जबकि उसकी पूर्ति उसकी माँग के अनुरूप हो। अतः अन्तर्राष्ट्रीय तरलता बढ़ने का या मतलब नहीं होता कि वह पर्याप्त या इससे भी अधिक हो गई है।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का प्रश्न न केवल वर्तुओं और सेवाओं के आयात की दस्ति से, वरन् पैंजी के आवागमन की दस्ति से भी महत्वपूर्ण होता है। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या उस देश के सामने प्रस्तुत होती है जिसके भुगतान सन्तुलन में घाटे रहते हैं। किसी भी देश की अन्तर्राष्ट्रीय तरलता निम्नांकित सूत्र से ज्ञात की जा सकती है-

$$L = R - R_{\min} + F_o + F_p - \Delta R_{\min}$$

जहाँ, L = अन्तर्राष्ट्रीय तरलता।

R = स्वर्ण व विदेशी मुद्रा की कुल निधि।

R_{\min} = करेंसी के पीछे न्यूनतम सुरक्षित निधि जो भुगतान सन्तुलन के घाटे में प्रयुक्त नहीं होती।

F_o = सरकारी संस्थाओं द्वारा विदेशों से प्राप्त ऋण।

F_p = निजी संस्थाओं व व्यक्तियों द्वारा विदेशों से प्राप्त ऋण।

ΔR_{\min} = करेंसी के पीछे न्यूनतम सुरक्षित निधि में व द्वि।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का निर्धारण

Determinant of International Liquidity

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को दो प्रमुख वर्गों में विभक्त किया जा सकता है- (अ) सर्वमान्य या शर्त रहित तरलता जैसे-सोना, प्रमुख मुद्राएँ और (Gold tranche) तथा (ब) सीमित या शर्तयुक्त तरलता (जैसे-निजी समझौते, SDR आदि)। सर्वमान्य तरलता का हिसाब तो शीघ्र लगाया जा सकता है लेकिन सीमित तरलता का नहीं।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का आशय सभी देशों की सामर्थ्य के अन्दर उन संसाधनों के स्टॉक से है, जिनका प्रयोग भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी न्यूनताओं (deficits) को पूरा करने हेतु किया जा सकता है। इसकी आवश्यक मात्रा विभिन्न देशों के बीच व्यापार की मात्रा पर और विभिन्न देशों के आवक भुगतानों (in payments) और जावक भुगतानों (out payments) के असन्तुलन पर भी निर्भर होती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के लिए माँग अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की मात्रा और उनकी अस्थिरता के आकार और समय (magnitude and duration of instability) की मिली-जुली प्रतिक्रिया का परिणाम (function) होती है। यदि दूसरे देशों की परिस्थितियों में कोष विनियोजित किए जाते हैं, तो अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता में व द्वि हो जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के दो ही साधन थे-

- (1) स्वर्ण तथा अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त मुद्राएँ अर्थात् डालर एवं पौण्ड। युद्धोत्तर काल में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की तीव्र व द्वि और स्वर्ण भण्डारों की कमी भी गति के कारण अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में कठिनाइयाँ उत्पन्न हुईं। फलतः अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने भुगतान साधनों के नए

रूप निकाले और भुगतान साधनों में व द्विं की। अब अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के विविध साधन निम्नलिखित हैं-

- (1) स्वर्ण भण्डार जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष और विश्व भर के केन्द्रीय बैंकों के पास हैं,
- (2) संयुक्त राज्य अमेरिका को छोड़कर अन्य देशों के पास डालर कोष,
- (3) ब्रिटेन को छोड़कर अन्य देशों के पास पौंड कोष,
- (4) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का विदेशी विनिमय कोष (डालर, पौण्ड, मार्क, फ्रैंक आदि)।
- (5) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की विदेशी विनिमय सम्बन्धी साख एवं ऋण सुविधाएं,
- (6) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के विशेष आहरण अधिकार- (SDR),
- (7) केन्द्रीय बैंकों तथा सरकारी खजानों द्वारा उपलब्ध ऋण सुविधाएं जिनमें साख सुविधाएं विशेष उल्लेखनीय हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पर्याप्तता

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के पर्याप्त होने या न होने के प्रश्न पर अर्थशास्त्रियों में वाद-विवाद चलता रहा है। अधिकतर अर्थशास्त्रियों के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की मात्रा विश्व में पर्याप्त नहीं है। हम भी इसी मत के समर्थक हैं। यदि तरलता की मात्रा कम न होती, तो विश्व में इसे बढ़ाने के लिए जो प्रश्न किए गए थे न किए जाते। यहाँ तरलता की पर्याप्तता को मापने का प्रश्न उठता है। जैसा कि हमने ऊपर संकेत किया था यदि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की कुल पूर्ति उसकी कुल माँग से अधिक है, तो वह पर्याप्त मानी जाएगी।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की माँग

अन्तर्राष्ट्रीय की माँगे कई बातों पर निर्भर करती हैं:-

- (i) व्यापारिक आवश्यकताएँ,
- (ii) आयातों की तुलना में कोषों के अनुपात,
- (iii) विभिन्न देशों की मौद्रिक व राजकोषीय नीतियाँ एवं
- (iv) विनिमयों की स्थिति व स्थायित्व।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पूर्ति

(Supply of International Liquidity)

तरलता की पूर्ति के अन्तर्गत निम्न मर्दे सम्प्लित होती हैं-

- (i) स्वर्ण का वह स्टॉक जो केन्द्रीय बैंकों और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के पास है।
- (ii) संयुक्त राज्य अमेरिका को छोड़कर अन्य देशों के पास डालर कोष।
- (iii) यू0के0 को छोड़कर अन्य देशों के पास स्टर्लिंग कोष।
- (iv) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य देशों की आहरण सीमा।
- (v) SWAP तथा अन्य सम्बन्धित साख योजनाओं के अन्तर्गत उपलब्ध होनेवाली साख सुविधाएँ।
- (vi) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार में देश की ऋण लेने की क्षमता।

इसके अन्तर्गत निम्नलिखित मर्दे शामिल नहीं की जाती-

- (i) निजी व्यक्तियों द्वारा रखा गया विदेशी मुद्राओं का स्टॉक।

- (ii) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक सौदों का वित्त पोषण करने हेतु बैंक साथ।
- (iii) निर्यात उद्देश्यों की पूर्ति हेतु आयात-निर्यात बैंक जैसी सरकारी संस्थाओं द्वारा दी गई साथ।
- (iv) विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम एवं अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ जैसी संस्थाओं द्वारा प्रस्तुत की गई दीर्घकालीन साथ।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का महत्त्व (Importance of International Liquidity)

हाल के वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की समस्या एवं तरल कोषों का महत्त्व निम्नांकित कारणों से बहुत बढ़ गया है-

- (1) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में व द्वि होना-** विश्व के कुल आयातों की राशि 1848 में 59 अरब डालर से बढ़कर 1974 में 500 अरब डालर हो गई। इस व द्वि का विश्व के तरल कोषों पर भारी दबाव पड़ा और यह अनुभव किया जाने लगा कि अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की सुविधा के लिए स्वर्ण व अन्य मुद्राओं के कोष में भी व द्वि होनी चाहिए।
- (2) **व्यापार व द्वि की तुलना में स्वर्ण का उत्पादन कम होना-** जहाँ विश्व व्यापार के आकार में निरन्तर व द्वि हुई है वहाँ स्वर्ण का उत्पादन कम बढ़ा है। कारण, स्वर्ण के मूल्य में पर्याप्त व द्वि न होने से स्वर्ण का उत्पाद उन्हीं देशों के लिए लाभप्रद रह गया है, जिन्हें खानों से भारी मात्रा में सोना निकालने के लिए सरते श्रमिक प्राप्त हैं।
- (3) **प्रमुख मुद्राओं पर अत्यधिक निर्भर हो जाना-** विभिन्न देश डालर, पौंड आदि कुछ प्रमुख मुद्राओं पर निर्भर हो गए और इन्हीं मुद्राओं के रूप में मुद्रा-कोष रखते रहे। किन्तु पिछले वर्षों में इन मुद्राओं में भारी अस्थिरता रही, जिस कारण इन्होंने मुद्रा कोष या रिजर्व बैंक का कार्य उतनी श्रेष्ठता से करना बन्द कर दिया जितनी श्रेष्ठता से ये अब तक करती रही थीं। यही नहीं, पहले अमेरिका सभी देशों को डालर सहायता उदारतापूर्वक दिया करता था किन्तु बाद को यह सहायता सीमित कर दी गई जिससे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता-कोषों में अभाव रहने लगा और इनकी पूर्ति के बढ़ाने के उपाय खोजने की आवश्यकता अनुभव हुई।
- (4) **विकास योजनाएं-** हाल के वर्षों में विकासोन्मुख देशों को आर्थिक विकास के लिए विकसित देशों से पूँजीगत सामान खरीदने हेतु उनको मुद्राओं की अधिकाधिक आवश्यकता रहने लगी हैं। इससे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का अभाव बढ़ गया है।

इस प्रकार, एक ओर स्वर्ण और अन्य मुद्राओं के कोषों की मँग बढ़ती जा रही है किन्तु दूसरी ओर इसकी पूर्ति में तदनुरूप व द्वि नहीं हो रही है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के पास विदेशी विनिमय कोषों की भी लगभग यही स्थिति थी। विश्व के कुल विदेशी विनिमय कोष का 30% उक्त 10 देशों के पास ही था। सन् 1981 में विश्व के कुल कोषों का मूल्य 370 अरब SDR हो गया था जिसमें से 208 अरब SDR अर्थात् 56% कोष 20 औद्योगिक देशों के पास था। इससे स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय तरल कोषों का वितरण अत्यन्त असमान ढंग से हुआ है जिस कारण अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में कठिनाई होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या (Problem of International Liquidity)

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की अपर्याप्तता से सम्बन्धित है। गत वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता विश्व व्यापार की आवश्यकताओं के लिए अपर्याप्त रही है और यह विश्वास किया जाता है कि यह भविष्य में भी अपर्याप्त रहेगी। इसका कारण यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जिस

अनुपात में व द्विं हुई है, अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में उस अनुपात में व द्विं नहीं हो सकी है। अतः तरलता अन्तराल (Liquidity Gap) उत्पन्न हो गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या के मुख्य पहलू निम्न प्रकार हैं-

- (1) विश्व के कुल तरल कोष (स्वर्ण कोष+ विदेशी विनियम कोष) विश्व के कुल आयातों के अनुपात के रूप में घटते जा रहे हैं। दूसरे शब्दों में, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वार्षिक व द्विं दर विश्व के तरल कोषों की वार्षिक व द्विं दर की अपेक्षा अधिक रही है। एक अनुमान के अनुसार गत 20 वर्षों के दौरान विश्व व्यापार में औसत वार्षिक व द्विं दर 8% रही है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में यह व द्विं मात्र 2.5% ही रही।
- (2) विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का असमान वितरण है। विदेशी विनियम कोषों का लगभग 40% भाग केवल 7 देशों के पास है। इसी प्रकार विश्व के अधिक त स्वर्ण कोष का लगभग 70% भाग 7 देशों के पास है। वर्तमान समय में स्वर्ण कोषों का अधिकाँश भाग तेल निर्यातक देशों में केन्द्रित होता जा रहा है।
- (3) विश्व के देशों में जो कुल स्वर्ण का उत्पादन होता है, उसका अधिकाँश भाग औद्योगिक उत्पादन क्रियाओं में तथा निजी कोषों में चला जाता है।
- (4) स्वर्ण की अधिक त कीमत तथा बाजार की कीमत में पर्याप्त अन्तर रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता एवं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

(International Liquidity and International Monetary Fund)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है जो तरलता में ही व्यवहार करती है। मुद्रा कोष अपने सदस्यों देशों को दो प्रकार की तरलताएँ प्रदान करता है- (i) शर्तहीन तरलता (ii) सशर्त तरलता। मुद्रा कोष द्वारा दी गई शर्तहीन तरलता की मात्रा सशर्त तरलता की तुलना में कम है। इस समय मुद्रा कोष की शर्तहीन तरलता प्रदान करने की क्षमता 6 बिलियन SDR के लगभग है, जबकि सशर्त तरलता की पूर्ति 16 बिलियन SDR से अधिक है।

मुद्रा कोष ने सदस्य देशों को निम्न योजनाओं के अन्तर्गत वित्तीय सहायता प्रदान की है-

- (i) 1952 में 'आक्रिमिक साख योजना' (Stand by Scheme) लागू की गई जिसके अन्तर्गत मुद्रा कोष द्वारा सदस्य देशों को दी जानेवाली सहायता निरन्तर बढ़ रही है।
- (ii) 1964 में 'सामान्य ऋण योजना' (General Arrangement to Borrow Scheme) चालू की गई जिसके अन्तर्गत मुद्रा कोष को यह अधिकार दिया गया है कि विदेशी मुद्रा सम्बन्धी किसी महान संकट का सामना करने हेतु वह 10 बड़े औद्योगिक देशों से 6 बिलियन SDR के बराबर मुद्राएं उधार ले सकता है।

10 फरवरी 1973 को हुई एक विशेष बैठक में दो महत्वपूर्ण निर्णय लिए गए-

- (अ) इस योजना के अन्तर्गत स्थापित निधि की पूँजी की मात्रा को 6.9 बिलियन डालर से बढ़ाकर 19 बिलियन डालर कर दिया जाए।
- (ब) इस निधि का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सभी सदस्यों के लिए खोल दिया जाए।
- (iii) जून 1974 से 'विशेष तेल सुविधा योजना' (Special Oil Facility Scheme) चालू की गई जिसका उद्देश्य गैर तेल उत्पादक विकासशील देशों को ऋण देना था ताकि वे OPEC देशों से तेल आयातों के परिणामस्वरूप भुगतान सञ्चुलन में होनेवाले घाटे को पूरा कर सकें। 1976 में इस योजना को समाप्त कर दिया गया।

- (iv) अगस्त 1957 में मुद्रा कोष ने एक उपदान खाता (Subsidy Account) खोला था जिससे उन गम्भीररूप से प्रभावित गैर-तेल उत्पादक विकासशील देशों को आर्थिक सहायता दी जाती थी जिन्होंने 'विशेष तेल सुविधा' के अन्तर्गत ऋण ले रखे थे।
- (v) निर्यात उच्चावचन क्षतिपूर्ति वित्त पोषण योजना (Compensating Financing of Export Fluctuations Scheme) के अन्तर्गत मुद्रा कोष सदस्य देशों को उनके साधारण आहरण अधिकारों के अलावा भुगतान सन्तुलन के घाटे को पूरा करने के लिए भी ऋण देता है।
- (vi) 1977 में चालू पूरक वित्त पोषण सुविधा (Supplementary Financing Facility) के अनुसार मुद्रा-कोष साधारा वित्तीय साधनों के अलावा उन सदस्य देशों को पूरक वित्तीय सहायता देता है जिनके व्यापार सम्बन्धी भुगतान सन्तुलनों में गम्भीर घाटा होता है।
- (vii) मई 1976 में कोष ने एक 'ट्रस्ट कोष' स्थापित किया था जिसका उद्देश्य विकासशील सदस्य देशों को भुगतान सन्तुलनों का निपटारा करने हेतु रियायती दरों पर वित्तीय सहायता देना था।
- (viii) 21 दिसंबर 1980 को मुद्रा-कोष ने एक 1.25 बिलियन SDR की एक नवीन 'उत्पाद योजना' (Subsidy Plan) की घोषणा की जिसका उद्देश्य ऊँची तेल कीमतों से पीड़ित 83 अल्प आय वाले देशों को आर्थिक सहायता देना था।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता से सम्बन्धित सुझाव

समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय तरलता, अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय नगदी कोष में व द्विं के लिए कोष के आह्वान पर अनेक सुझाव दिए गए हैं। इनके प्रमुख सुझाव निम्नांकित हैं-

- (1) **स्वर्ण उत्पादन में व द्विं-** स्वर्ण उत्पादन दक्षिणी अफ्रीका के अतिरिक्त अन्य सभी देशों में गिरता रहा है। अतः इस प्रवति को रोकना आवश्यक है। स्वर्ण के उत्पादन में व द्विं के लिए नई खानों का विकास और पुरानी खानों का विस्तार किया जाना चाहिए। इससे स्वर्ण कोषों की पूर्ति में व द्विं होगी और तरल कोषों का विस्तार होगा।
- (2) **ट्रिफिन योजना-** अन्तर्राष्ट्रीय निकासी संघ (International Clearing Union) के लिए कीन्स ने जो प्रस्ताव रखे थे उनके आधार पर ट्रिफिन योजना बनाई गई। इसके अनुसार राष्ट्रीय करेन्सियों के कोषों का अन्तर्राष्ट्रीयकरण (Internationalisation) करके IMF को एक अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक (Super-National Central Bank) का रूप देने का प्रस्ताव था। इस नए मुद्रा कोष को (जिसे XIMF कहा गया है) एक ऐसी दर से (अधिकतम 3 से 5% वार्षिक) साख उत्पन्न करने का अधिकार होगा, जिस पर कि विश्व अर्थव्यवस्थाएँ विकसित हो रही हैं। भविष्य में XIMF-currency (जिसे कीन्स ने Bancor Currency कहा है) एक रिजर्व करेंसी के रूप में चला करेगी। किन्तु ट्रिफिन प्लान को लोगों का विश्वास प्राप्त नहीं हुआ, क्योंकि (i) यह शंका हुई कि ऐसी योजना मुद्रा प्रसारित प्रभावों को जन्म देगी; (ii) यह अव्यावहारिक (Impractical) भी प्रतीत होती है, क्योंकि इसके कारण राष्ट्रों को अपनी आर्थिक प्रभुसत्ता का कुछ भाग एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के सुपुर्द करना पड़ेगा जो रुढ़िवादी केन्द्रीय बैंकोंवाले विश्व में एक कठिन बात है, एवं (iii) उन आलोचकों ने भी, जो कि ट्रिफिन के प्रस्तावों की आवश्यकता को समझते हैं यह तर्क दिया था कि 'इतनी अधिक आशा करना असामयिक' (too much too soon) है।
- (3) **हैरोड की स्वर्ण-पुनर्मूल्यन योजना-** स्वर्ण की कीमत सन् 1954 से ही डालर के साथ बँधी (peg) चली आ रही थी, किन्तु तब से कीमतों के निरपेक्ष स्तर लगभग कई गुने हो गए थे। अतः सर हैरोड (R.Harrod) ने यह सुझाव दिया था कि स्वर्ण की कीमतों में व द्विं करनी चाहिए (इसे प्रति-ऑंस 35 हजार डालर से बढ़ाकर प्रति ऑंस 70 हजार डालर कर देना चाहिए) अन्य शब्दों में, उन्होंने डालर के अवमूल्यन का प्रस्ताव रखा। इससे एक महत्वपूर्ण प्रश्न उदय हुआ, जो

यह कि क्या संयुक्त राज्य अमेरिका के भुगतान सन्तुलन में कोई मौलिक असम्भता है? स्पष्टतः नहीं थी सच तो यह है कि अमेरिका के चालू खाते में विशाल आधिक्य (surplus) रहा करता था। अतः आलोचकों का कहना था कि यदि डालर का पूनर्मूल्यन किया गया तो यह आधिक्य और अधिक बढ़ जाएगा। फलतः प्रतिस्पर्द्धात्मक अवमूलयन (competitive devaluation) होने लगेगा। यही नहीं स्वर्ण के पूनर्मूल्यन (revaluation) से स्वर्ण उत्पादक देश (जैसे दक्षिणी अफ्रीका व रूस) ही अधिक लाभान्वित होंगे। राजनैतिक दण्ड से, यह कदम एक विरोधी राष्ट्र की क्रय शक्ति को बढ़ाएगा तथा पश्चिमी गुट की तुलना में वहाँ विकास की गति को बढ़ा देगा। इसके अतिरिक्त स्वर्ण कीमतों में एक बारगी व द्विं (one stroke rise) करने से अत्यधिक द्रवता की समस्या उत्पन्न हो जाएगी, जो कि मुद्रा प्रसारिक सिद्ध हो सकती है। दूसरी ओर यदि एक ही बार और सदा के लिए (once and for all) व द्विं न की जाए, तो स्वर्ण कीमतों में भावी रुख के बारे में अनिश्चितता उत्पन्न होकर सट्टा प्रारम्भ हो जाएगा। अतः इन कठिनाइयों के कारण स्वर्ण के पुनर्मूल्यन वाला प्रस्ताव अधिक लोकप्रिय नहीं हुआ।

- (4) **जेकबसन योजना-** फण्ड के भूतपूर्व प्रबन्ध संचालक जेकबसन (P.Jecobsson) ने बर्नस्टीन आदि के मूल प्रस्तावों के आधार पर यह सुझाव दिया है कि आधिक्य भुगतान वाले देशों (Surplus payments countries) के साथ ऋण-वचन अनुबन्धों (stand by credits) की व्यवस्था की जाए। इस प्रकार के ऋणों से साधनों में जो व द्विं होगी वह द्वितीय रक्षापंक्ति का काम देगी। जब मुद्रा-कोष यह अनुभव करे कि तरलता की माँग बढ़ रही है, तब वह उक्त अनुबन्धों के अन्तर्गत प्रमुख करेंसियाँ प्राप्त कर सकता है तथा जरूरतमन्द देशों को उधार देकर उसकी कठिनाइयाँ दूर कर सकता है।

यह योजना सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर ली गई है। इसके अन्तर्गत प्रमुख करेंसियों का एक संचय (pool) बनाया गया है। यह पूल जिसे ऋणदाता क्लब (Lenders club) कहते हैं, 12 प्रमुख देशों के समर्थन से स्थापित हुआ। इस संचय में से मुद्राकोष जिन शर्तों पर प्रार्थियों को ऋण दिया करेगा उन्हें करेन्सी देनेवाले देशों के अन्तिम निर्णय पर छोड़ दिया गया। इसका मतलब यह हुआ कि मुद्रा-कोष ने अपनी प्रभुसत्ता कुछ सीमा तक कम हो जाने दी है।

- (5) **स्टाम्प योजना-** मैक्सवैल स्टाम्प की योजना के अनुसार मुद्रा-कोष अपने कोष प्रमाण-पत्रों (fund certificates) के रूप में साख का स जन करे। जो देश इन पत्रों को खरीदें वे इनको अपनी सुरक्षित निधि में ही रखें और तब तक उपयोग में न लाएँ जब तक कि उन पर कोई विशेष दबाव न पड़े। प्रमाण-पत्रों के निर्गमन और विक्रय के लिए एक अलग संस्था बनाई जाए। इन पत्रों की बिक्री करने से जो साधन इस संस्था को प्राप्त हों, उन्हें वह घाटेवाले (प्रायः अर्द्ध-विकसित व विकासशील) देशों को ऋण देने में प्रयोग कर सकती है। इन प्रमाण-पत्रों के माध्यम से घाटेवाला देश अन्य देशों को भुगतान कर सकेगा। इस प्रकार, स्टाम्प योजना का उद्देश्य एक ओर तो अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में व द्विं करना तथा दूसरी ओर अर्द्ध-विकसित देशों के लिए विदेशी विनिमय के रूप में ऋण सुविधाएं बढ़ाना था। यह योजना अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के बातावरण में ही सफल हो सकती है।

बर्नस्टीन योजना- डॉ० एडवर्ड बर्नस्टीन के सुझावानुसार, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सदस्य देशों के केन्द्रीय बैंकों को इस बात का अधिकार दिया जाए कि वे कोष के पास जमा अपने कोटा धन को अपनी काम चलाऊ निधियों के एक भाग के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के कार्य हेतु प्रयोग करें। इससे लेन-देन और सुरक्षा उद्देश्यों से अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता सम्बन्धी माँग को पूरा करने में सुविधा हो जाएगी। सट्टा उद्देश्य वाली द्रवण माँग और पूँजी के विशाल आवागमनों की समस्या के समाधान हेतु यह सुझाव दिया गया कि कोष आपातकालीन (ऋण-वचन) व्यवस्था

के अन्तर्गत उन देशों से ऋण ले जिनकी मुद्रा के लिए माँग अधिक रहती है। इन ऋणों का उपयोग उन देशों को सहारा देने हेतु किया गया जिनकी मुद्राओं पर पूँजी के बहिर्गमनों का दुष्प्रभाव पड़ रहा हो। स्पष्ट है कि योजना अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता को बढ़ाने की दस्ति से उतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितनी कि प्रमुख मुद्राओं (key currencies) पर पड़नेवाले दबावों को कम करने के लिए।

- (6) **रोसा योजना-** इस योजना के अनुसार, जिसे अमेरिका के भूतपूर्व वित्त उप-मंत्री राबर्ट रोसा ने 1962 की IMF वार्षिक बैठक में प्रस्तुत किया था, भविष्य में विभिन्न देश अपने रिजर्व कोष डालर और पौंड स्टर्लिंग के अतिरिक्त अन्य मुद्राओं के रूप में भी रखने को स्वतन्त्र होंगे, ताकि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या हल्की हो सके।
- (7) **स्वर्ण पूल-** यूरोप के केन्द्रीय बैंकों की योजना के अनुसार 25 करोड़ डालर के मूल्य का एक स्वर्ण पूल बनाने का प्रस्ताव था। इसका उपयोग खुले बाजार में सोने के भावों में होनेवाले उत्तार-चढ़ाव पर नियन्त्रण हेतु किया जाना था और स्वर्ण के मूल्य को 35 डालर प्रति ऑंस पर रिथर रखने का विचार था। विशेषज्ञों की राय में यह योजना तरलता के अभाव का एक अस्थाई उपचार मात्र है।
- (8) **मोल्डिंग योजना-** ब्रिटिश ट्रेजरी के भूतपूर्व चांसलर रेजिनाल्ड मोल्डिंग के 1962 की IMF बैठक अन्तर्राष्ट्रीय तरलता बढ़ाने की एक योजना प्रस्तुत की। इसके अनुसार, एक पारस्परिक मुद्रा खाता खोलने की व्यवस्था की जानी थी, जिसमें IMF के सदस्य देशों को भाग लेने का अधिकार था। ऐसे सदस्यों को यह छूट होगी कि वे सुलभ मुद्राओं के रूप में अंशदान करें। एक बार खाते में अंशदान जमा करने पर जमाकर्ता देश की उतनी राशि पर अधिकार प्राप्त हो जाता है और इस पर भी उसे उसी प्रकार की गारण्टी प्राप्त होगी जिस प्रकार कि मुद्रा-कोष में जमा कोटे की राशि पर मिलती है। इस राशि का प्रयोग जमाकर्ता देश अपने प्रति कुल भुगतान सन्तुलन को ठीक करने हेतु कर सकते हैं।
- (9) **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का निर्गमन-** यह भी सुझाव आया कि IMF को एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का निर्गमन करना और एक समाशोधनग ह के रूप में कार्य करना चाहिए।
- (10) **अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन का कार्य-** अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन का कार्य करे। इससे किसी देश का भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल होने पर उसे स्वतः ही मुद्रा-कोष से ऋण मिल जाएगा और पथक से प्रार्थना-पत्र देने की आवश्यकता नहीं रहेगी। इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में अपने आप व द्विं हो जाएगी।
- (11) **मुद्रा-कोष अभ्यंश-** मुद्रा-कोष की अभ्यंश राशि (पूँजी) में निरन्तर व द्विं होती रही है। आठवें परिवर्तन के उपरान्त अभ्यंश राशि 10 मिलियन (अरब) SDR हो गई।

अध्याय-28

नई अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली (New International Monetary Systems)

ब्रेटेन बुड्स समझौते के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की योजना में स्वर्ण को अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य-स्तर और विदेशी विनिमय दरों का आधार बनाया गया था। अतः सदस्य-देशों द्वारा अपने अभ्यंश का निश्चित भाग स्वर्ण में दिए जाने की व्यवस्था की गई; उनकी मुद्राओं का समता-मूल्य स्वर्ण में घोषित करने का प्रावधान रखा गया; दुर्लभ मुद्राओं का स्वर्ण में क्रय-विक्रय करने की व्यवस्था की गई तथा मुद्रा कोष के लिए निश्चित दरों पर स्वर्ण की खरीद हेतु सदैव तत्पर रहने का प्रावधान रखा गया। इन व्यवस्थाओं का उद्देश्य विनिमय दरों को स्थिरता प्रदान करना तथा बहुपक्षीय व्यापार एवं भुगतान-प्रणाली को प्रोत्साहित करना था। ब्रेटेन बुड्स प्रणाली में अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के गुण तो अपना लिए गए, किन्तु स्वर्णमान के दोषों का परित्याग कर दिया गया। इसीलिए सदस्य देशों की मुद्राओं के बाह्य-मूल्य में उनके आन्तरिक मूल्यों के अनुसार परिवर्तन करने की व्यवस्था की गई। 1971 के मध्य तक ब्रेटेन बुड्स प्रणाली सफलतापूर्वक कार्य करती रही। अगस्त 1971 में जब अमेरिकन सरकार ने विदेशी कोषागारों और केन्द्रीय बैंकों के लिए डॉलर की स्वर्ण में परिवर्तशीलता समाप्त कर दी, तब प्रमुख यूरोपीय मुद्राएँ विदेशी विनिमय बाजारों में स्वतन्त्रतापूर्वक तैरने (Floating) लगी। स्थिर विनिमय दरों का युग समाप्त हो गया। इन परिस्थितियों में ब्रेटेन बुड्स समझौते पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में आधारभूत परिवर्तन करने की आवश्यकता अनुभव हुई।

जून 1974 की मौद्रिक सन्धि

27 जून, 1972 को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में सुधार करने के उद्देश्य से प्रशासक मण्डल की एक तदर्थ समिति नियुक्त की। इसमें विकसित और विकासशील देशों का प्रतिनिधित्व करनेवाले 20 सदस्य सम्मिलित थे। इस समिति से अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, पूँजी-प्रवाह, निवेश और विकास-सहायता सरीखे विषयों पर सिफारिश करने के लिए भी कहा गया था। बीस-सदस्यीय समिति (Committee of Twenty) ने अपना प्रतिवेदन जून 1974 में प्रस्तुत किया, जो भावी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था का स्वरूप प्रस्तुत करता था और मौद्रिक सुधार का आधार था। अन्तिम समझौते के अभाव में समिति न केवल अन्तर्रिम सुधार कार्यक्रम प्रस्तुत किया, जिसे 23 जून, 1974 को मुद्रा कोष ने अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी और तुरन्त लागू कर दिया। अन्तर्रिम प्रणाली की मुख्य बातें निम्न प्रकार थीं-

- (1) अन्तर्रिम प्रणाली के अन्तर्गत स्वर्ण का विमुद्रीकरण कर दिया गया। परिणामतः मुद्रा कोष की मौद्रिक विधियों में स्वर्ण का स्थान विशेष आहरण अधिकारों (SDRs) ने ले लिया।
- (2) अन्तर्रिम प्रणाली के लागू होने से पूर्व SDR का मूल्य स्वर्ण में निर्धारित होता था, किन्तु अब इसका मूल्य 16 विश्व मुद्राओं के समूह द्वारा निर्धारित किया जाने लगा।
- (3) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने विकासशील सदस्य-देशों को नई 'विस्तारित सुविधा' (Extend

- Facility) प्रदान की। इस सुविधा के अन्तर्गत विकासशील देशों को मुद्रा कोष से अधिक व्यापक उद्देश्यों के लिए दीर्घकालीन ऋण प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त हुआ।
- (4) विकासशील देशों को आश्वासन दिया गया कि उनकी विकास-सहायता को SDRs के आबण्टन से जोड़ने की माँग पर पुनर्विचार किया जाएगा।
 - (5) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा तेल-उपभोक्ता सदस्य-देशों को 'तेल सुविधा' दिए जाने की व्यवस्था की गई।
 - (6) 'स्थिर किन्तु समायोजनीय' विनिमय दर-प्रणाली अपना ली गई।
 - (7) एक 'अन्तर्रिम कमेटी' (Interim Committee) स्थापित की गई, जिसे अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था के प्रबन्ध, समझौता-पत्र में प्रस्तावित संशोधनों तथा यकायक उत्पन्न होने वाली समस्याओं पर परामर्श देने का कार्य सौंपा गया। एक 'विकास कमेटी' (Development Committee) भी स्थापित की गई, जिसे विकासशील देशों को वास्तविक साधनों के हस्तान्तरण से सम्बन्धित विषय पर मुद्रा कोष एवं विश्व बैंक को परामर्श देने का कार्य सौंपा गया।

नई अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली

जनवरी 1976 में नई मौद्रिक प्रणाली (संशोधित रूप में) स्थाई रूप से लागू कर दी गई (पुरानी ब्रेटेन वुड्स प्रणाली दिसम्बर 1971 में अमेरिकन सरकार द्वारा डॉलर का अवमूल्यन किए जाने के साथ ही भंग हो गई थी)। नई मौद्रिक व्यवस्था मुद्रा कोष की अन्तर्रिम कमेटी द्वारा किंगस्टन (जैमैका) सम्मेलन में किए गए निर्णयों पर आधारित है। इनकी मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं-

- (1) **विनिमय-दर व्यवस्था-** नई व्यवस्था के अन्तर्गत अधिक लोचपूर्ण विनिमय दरें स्वीकार की गई हैं। विनिमय दरों में 5 प्रतिशत तक उच्चावचनों की अनुमति दी गई है। अब विनिमय दरों में 5 प्रतिशत तक उच्चावचनों की अनुमति दी गई है। अब विनिमय दरों के मूल्यान्तर (Margins of Exchange) अधिक सीमा तक हो सकते हैं, यद्यपि मुद्रा कोष को इन मूल्यान्तरों को बदलने का अधिकार प्राप्त है। सदस्य-देशों को यह अधिकार प्राप्त है कि वे एक मूल्य-समता (Par Value) को बिना दूसरी समता ग्रहण किए ही त्याग सकते हैं। परन्तु ऐसा तभी सम्भव है, जबकि मुद्रा कोष उन्हें ऐसा करने दे।
- (2) **विशेष आहरण अधिकारों के लक्षणों में परिवर्तन तथा प्रयोग का विस्तार-** विशेष आहरण अधिकारों (कागजी स्वर्ण) को अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली की प्रमुख रिजर्व परिसम्पत्ति घोषित किया गया है। सदस्य-देशों द्वारा मुद्रा कोष को या मुद्रा द्वारा सदस्य-देशों को भुगतान करने का माध्यम अब स्वर्ण के स्थान पर विशेष आहरण अधिकार (SDRs) बन गए हैं। मुद्रा कोष के सामान्य खाते के माध्यम से होनेवाले व्यवहारों में भी SDRs का प्रयोग किया जाने लगा है। मुद्रा कोष के सामान्य संचित खाते में समिलित मुद्राओं का मूल्य भी SDRs में ऑका जाता है। मुद्रा कोष SDR की इकाई का मूल्यांकन पाँच प्रमुख मुद्राओं (डॉलर, पौण्ड, मार्क, फ्रैंक और येन) के आधार पर करता है।
- (3) **स्वर्ण के महत्व में कमी-** नई व्यवस्था के अनुसार 'स्वर्ण SDR की इकाई के मूल्य का आधार नहीं रह गया है। विभिन्न देशों की मुद्राओं के बीच मूल्य-समताएं तय करने का भी यह सामान्य आधार (Common Denominator) नहीं है। स्वर्ण का अधिक त-मूल्य समाप्त कर दिया गया है। अतः सदस्य-देश बाजार-मूल्य पर परस्पर स्वर्ण खरीदने-बेचने के लिए स्वतन्त्र हैं। सदस्य-देशों द्वारा मुद्रा कोष को स्वर्ण के रूप में जो अनिवार्य अंशदान देना पड़ता था, वह दायित्व सर्वथा समाप्त कर दिया गया है। अब मुद्रा कोष न तो स्वर्ण का कोई अधिक त मूल्य निर्धारित करता है और न स्वर्ण के लिए कोई प्रबन्ध-व्यवस्था लागू करता है।

- (4) **मुद्रा कोष के वित्तीय व्यवहारों का सरलीकरण एवं विस्तार-** नई व्यवस्था के अन्तर्गत मुद्रा कोष के सामान्य संचित खाते में जमा सदस्य-देशों की मुद्राओं का प्रयोग मुद्रा कोष के निर्णयों के अनुसार किया जाता है अर्थात् पहले की भाँति अब मुद्रा-विशेष का भुगतान उसी मुद्रा में करना आवश्यक नहीं रह गया है। विदेशी विनियम कोष, भुगतान-सन्तुलन तथा सदस्य-देशों की संचित निधियों को देखकर ही अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष यह निर्णय लेता है कि उसे कौन-सी मुद्राएं बेचनी हैं। सदस्य-देश मुद्रा कोष से उन्हीं मुद्राओं को खरीद सकते हैं, जिन्हें बेचने का कोष ने निर्णय लिया है। अन्य सदस्यों की मुद्रा खरीदनेवाले देश उस मुद्रा का अपने भुगतानों के लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रयोग कर सकते हैं। अब मुद्रा कोष SDRs के बदले भागीदारों को अन्य सदस्य-देशों की मुद्राएं दे सकता है तथा अन्य सदस्य-देशों की मुद्राओं के बदले SDRs दे सकता है। मुद्रा कोष को सामान्य खाते में संचित राशि अथवा स्वर्ण की बिक्री द्वारा प्राप्त लाभ को आय-अर्जन के उद्देश्य से निवेश करने का अधिकार दिया गया है।
- (5) **स्थाई परिषद्-** मुद्रा कोष ने अन्तर्रिम कमेटी के रथान पर स्थाई परिषद् स्थापित की है, जिसका मुख्य कार्य अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली की देखरेख एवं समायोजन, अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का विकास, वैधानिक उपबन्ध लागू करना तथा प्रशासक मण्डल द्वारा सौंपे गए उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना है।
- (6) **संगठनात्मक सुधार-** मुद्रा कोष के सामान्य खाते का नाम बदलकर 'सामान्य विभाग' तथा विशेष आहरण खाते का नाम बदलकर 'विशेष आहरण अधिकार विभाग' कर दिया गया है। अब सामान्य विभाग के अन्तर्गत तीन अलग-अलग खाते होंगे- (i) सामान्य साधन खाता, जिसमें मुद्रा कोष के सामान्य साधन जमा रहेंगे। (ii) विशेष भुगतान खाता, जिसमें स्वर्ण की बिक्री से प्राप्त लाभ जमा रहेगा। (iii) निवेश खाता, जिसमें निवेश-योग्य साधन तथा निवेश से प्राप्त आय जमा रहेगी।
- (7) **मुद्रा कोष के अभ्यंशों में व द्वि-** मार्च 1976 में मुद्रा कोष के प्रशासक मण्डल द्वारा पारित प्रस्ताव के अनुसार मुद्रा कोष की पूँजी में अर्थात् सदस्य-देशों के अभ्यंशों में 33.6 प्रतिशत की व द्वि की गई। तदनुसार मुद्रा कोष की कुल पूँजी 29.2 अरब SDRs से बढ़कर 39 अरब SDRs हो गई। तदुपरान्त पुनः 1981 और 1984 में मुद्रा कोष की पूँजी में व द्वि की गई।
- (8) **न्यास निधि-** मुद्रा कोष की स्वर्ण-निधि में से 50 मिलियन औंस स्वर्ण खुले बाजार में प्रचलित कीमत पर बेचकर तथा कतिपय धनी सदस्य-देशों से विशिष्ट अंशदान लेकर 'विशिष्ट न्यास निधि' (Special Trust Fund) स्थापित करने का निर्णय लिया गया। निधि में एकत्रित राशि को विकासशील देशों में वितरित करने का निश्चय किया गया, ताकि वे भुगतान-सन्तुलन की असाम्यता से छुटकारा पा सकें। इस निधि की स्थापना 1976 में की गई।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सुधारों के बाद मुद्रा कोष ने 1979-81 की तीन वर्षीय अवधि में 12,118 मिलियन SDRs का स जन एवं आबण्टन किया। 1981 से SDR का मूल्यांकन 5 देशों (अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रॉन्स, जर्मनी और जापान) की मुद्राओं के आधार पर किया जाने लगा (पहले यह 16 देशों की मुद्राओं के आधार पर किया जा रहा था)। मूल्यांकन में अमेरिकी डॉलर को 42 प्रतिशत, जर्मन मार्क को 19 प्रतिशत, फ्रॉन्सीसी फ्रैंक को 13 प्रतिशत, जापानी येन को 13 प्रतिशत तथा ब्रिटिश पौण्ड को 13 प्रतिशत का भार (महत्त्व) प्रदान किया गया। जनवरी 1986 से SDR की इकाई के मूल्य-निर्धारण में इन मुद्राओं के भार में कुछ परिवर्तन किया गया है, जो इस प्रकार है-अमेरिकी डॉलर 42 प्रतिशत, जर्मनी मार्क 19 प्रतिशत, जापानी येन 15 प्रतिशत, फ्रॉन्सीसी फ्रैंक 12 प्रतिशत तथा ब्रिटिश पौण्ड 12 प्रतिशत।

नई मौद्रिक प्रणाली की समीक्षा

नई मौद्रिक प्रणाली दूरगामी सुधारों एवं संशोधनों का परिणाम है। इसके अन्तर्गत परिवर्तनशील विनियम दरों की नई व्यवस्था लागू की गई है। स्वर्ण की भूमिका समाप्त कर दी गई है तथा SDRs को प्रमुख रिजर्व परिसम्पत्ति मान लिया गया है। परन्तु कई मौद्रिक व्यवस्था में विनियम-स्थिरता कैसे प्राप्त की जाएगी तथा इस सम्बन्ध में विभिन्न देशों की घरेलू मौद्रिक नीति की क्या भूमिका रहेगी, इस बारे में कोई निर्णय नहीं लिया गया है। जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का प्रश्न है, विशेष आहरण अधिकारों के स जन और आबण्टन से यह समस्या हल नहीं हो पाई है। विभिन्न देशों के बीच SDRs का आबण्टन उनकी वित्तीय एवं व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार होना चाहिए तथा SDRs का प्रयोग समस्त वित्तीय एवं व्यापारिक लेन-देनों में होना चाहिए। मौद्रिक प्रणाली में पुरानी ब्रेटन-वुड्स प्रणाली की समरूप नीतियों और समन्वित नियमों का नितान्त अभाव है। नई मौद्रिक प्रणाली से विकासशील देशों की यह मान्यता उजागर हो गई है कि उनकी आर्थिक नीति में विनियम-दर की महत्वपूर्ण भूमिका है। परन्तु जहाँ तक उनके भुगतानशेष का सम्बन्ध है, विनियम अस्थिरता के कारण इसमें अनिश्चितता बनी रहेगी। इस जोखिम से बचने के लिए विकासशील देशों की मुद्राओं का प्रमुख मुद्राओं से गठबन्धन किया है, किन्तु उनके दीर्घकालीन हितों की दस्ति से यह व्यवस्था उचित नहीं है।

अध्याय-29

विश्व व्यापार संगठन

(World Trade Organisation [WTO])

व्यापार और तटकर की विश्व स्तर पर एक स्पष्ट नीति निर्धारित करने के लिए सन् 1947 में गैट व्यापार, तटकर और व्यापार की संधि पर स्वीकृति हुई थी। गैट के विभिन्न अधिवेशनों में व्यापार और तटकर संबंधी चर्चाएं की गई तथा तथा इसकी परिधि बढ़ती अर्थव्यवस्था के साथ विस्तृत होती चली गई। 1986 में गैट की सदस्य संख्या 92 थी जो 1994 में गैट के उरुग्वे चक्र पर यह सदस्य संख्या बढ़कर 114 पर पहुँच गई। मोरक्कों के माराकेश नगर में गैट के उरुग्वे चक्र की समाप्ति पर 15 अप्रैल 1994 को एक दस्तावेज पर सदस्य देशों ने हस्ताक्षर किए। अतः इसी के तहत 7 जनवरी 1995 को गैट के स्थान पर विश्व व्यापार संगठन (World Trade Organisation) की स्थापना हुई। इस संगठन ने इसी दिन से अपना काम करना प्रारम्भ कर दिया। आज विश्व व्यापार संगठन के सदस्यों की संख्या 128 हो गई है और चीन एवं रूस समेत 30 देश इसमें प्रवेश के लिए प्रयासरत हैं।

विश्व व्यापार संगठन का पहला मंत्री-स्तरीय सम्मेलन अभी हाल में 9 दिसम्बर 1995 को सिंगापुर में शुरू हुआ। यह सम्मेलन पांच दिन चलकर 13 दिसम्बर 1995 को समाप्त हुआ। इस सम्मेलन में 127 सदस्य देशों ने भाग लिया।

विश्व व्यापार संगठन

(World Trade Organisation)

WTO गैट का ही उत्तराधिकारी है। गैट एक मंच था जहां सदस्य देश समय-समय पर एकत्रित होते थे और विश्व व्यापार की समस्याओं पर वार्तालाप करते थे और उनको सुलझाते थे। परन्तु WTO एक सुव्यवस्थित और स्थाई विश्व व्यापार की संस्था है। इसकी एक कानूनी स्थिति है और यह विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के समकक्ष ही स्थान रखता है। (1) इसमें उरुग्वे दौर द्वारा संशोधित गैट, (2) गैट के अन्तर्गत स्वीकृत सब समझौते और व्यवस्थाएं, तथा (3) उरुग्वे दौर के सम्पूर्ण परिणाम सम्मिलित हैं।

1 जनवरी, 1995 को WTO के सदस्य 77 सदस्य थे, जिनकी संख्या अगस्त 1999 तक बढ़कर 134 हो गई। भारत संस्थापक देशों में से एक है।

गैट तथा विश्व व्यापार संगठन में अन्तर

(Difference between GATT and WTO)

WTO गैट का विस्तार नहीं है, परन्तु उसका उत्तराधिकारी है। उसने गैट को पूर्णतः प्रतिस्थापित कर दिया है और इसका एक भिन्न स्वरूप है। दोनों में निम्न अंतर हैं:

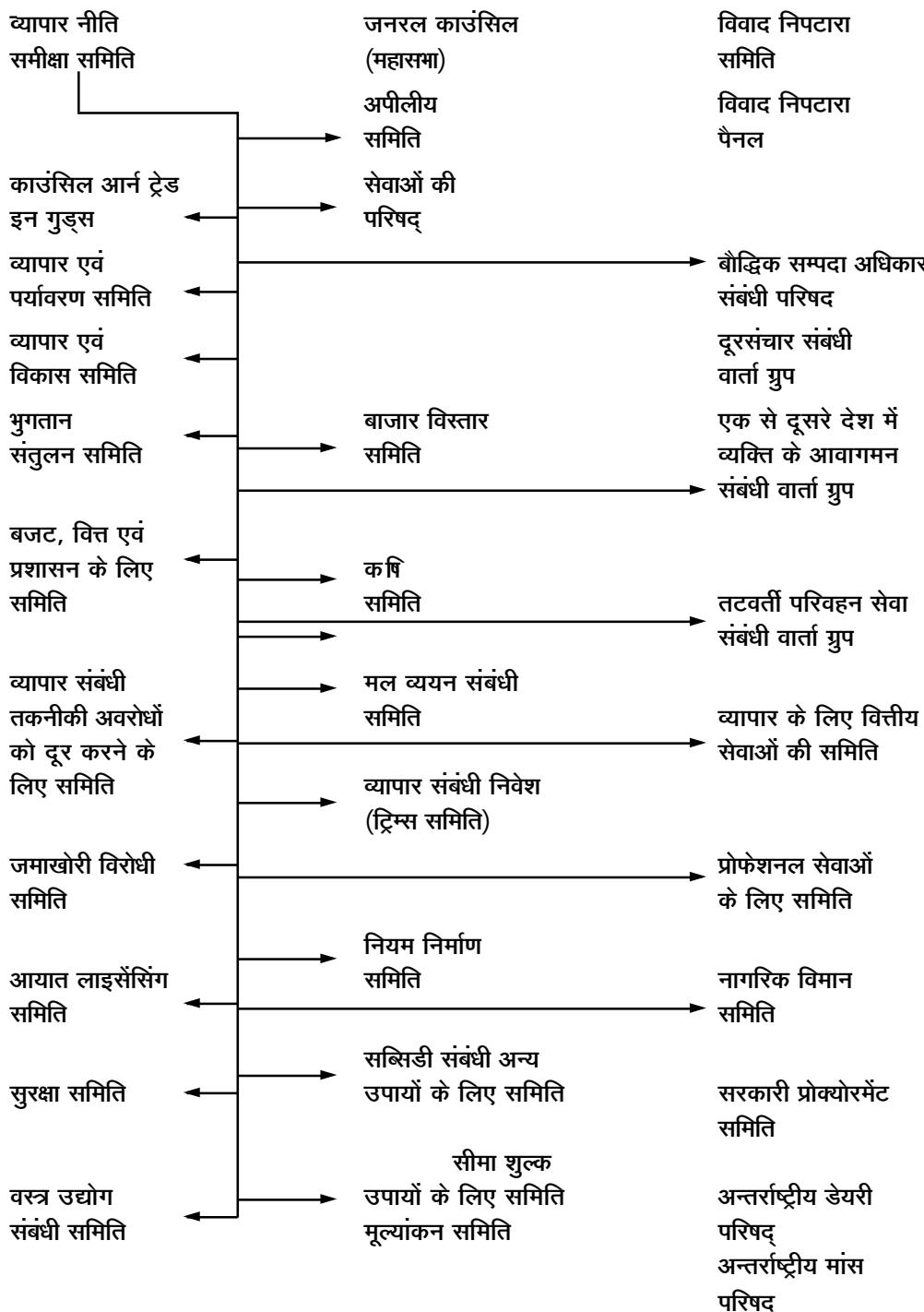
1. GATT एक समझौता था परन्तु WTO एक संगठन है।

2. GATT में किसी देश जो उल्लंघन करता था को सजा का प्रावधान नहीं था परन्तु WTO में विश्व व्यापार संबंधित नियमों की अवमानना करनेवाले देश को सजा दी जा सकती है।
 3. GATT केवल वस्तुओं के व्यापार से जुड़ा था परन्तु WTO में वस्तुओं के अलावा सेवाएँ और बौद्धिक सम्पदा संबंधी सभी मुद्दे शामिल किए गए हैं।

डब्ल्यू.टी.ओ. का ढाँचा

मंत्रिस्तरीय सम्मेलन

(हर दो साल में एक बार)



WTO के स्थान समझौते की प्रस्तावना में निम्न उद्देश्य वर्णित हैं:

1. व्यापार और वित्तीय प्रयासों के क्षेत्र में इसके संबंध इस प्रकार चलाए जाएँगे जिससे रोजगार सुनिश्चित होना और विस्तृत ताकातिक आय और प्रभावी माँग में लगातार व द्विंद्वारा रहन-सहन के स्तर में सुधार हो तथा वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन और व्यापार का प्रसार हो।
2. विश्व के साधनों का इष्टतम उपयोग सततीय (Sustainable) की दस्ति से करना। इसका उद्देश्य (क) पर्यावरण की रक्षा और संरक्षण करना, और (ख) पर्यावरण रक्षा के साधनों का विस्तार आर्थिक विकास के विभिन्न स्तरों की आवश्यकताओं और समस्याओं के अनुरूप हो।
3. निश्चयात्मक प्रत्यन करना जिससे विकासशील देश, विशेषतः निम्नतम विकसित देश अपने आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की व द्विंद्व में अपना उचित भाग पा सकें।
4. पारस्परिक और परस्पर लाभकारी व्यवस्थाएँ जिनके द्वारा टैरिफ और व्यापार की रुकावर्टें तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संबंधों में पक्षपातकारी व्यवहार को हटाकर इन उद्देश्यों की प्राप्ति करना।
5. गैट में सम्मिलित, भूतकालीन व्यापार उदारीकरण के परिणाम और उरुग्वे दौर की सभी बहुपक्षीय व्यापार वार्ताओं के फलस्वरूप अधिक स्थाई और व्यवहार्य बहुपक्षीय संगठित व्यापार प्रणाली को विकसित करना।

WTO के निम्न का कार्य हैं:-

1. यह समझौते और बहुपक्षीय व्यापार समझौतों के कार्यान्वयन, प्रबंधन और संचालन को सरल बनाता है।
2. यह नागरिक विमानन, सरकारी खरीदारी, दुर्घोत्पाद व्यापार और गोमांस संबंधी बहुपक्षीय व्यापार समझौतों के कार्यान्वयन, प्रशासन और परिचालन के लिए उचित ढाँचे का प्रबंध करता है।
3. यह सदस्यों के लिए मंत्रीस्तरीय कान्फ्रैंस द्वारा स्वीकृत समझौतों संबंधी, बहुपक्षीय व्यापार संबंधी वार्ताओं तथा इनके द्वारा किए गए निर्णयों के कार्यान्वयन के लिए एक मंच प्रस्तुत करता है।
4. यह समझौते के झगड़ा-निपटान नियमों तथा प्रक्रियाओं की व्याख्या का प्रबंध संचालन करता है।
5. यह IMF, विश्व बैंक तथा इसकी सहयोगी शाखाओं के मध्य विश्व व्यापार के लिए नीति निर्धारण में अधिकतर संगति उत्पन्न करता है।

विश्व व्यापार समझौता **(WTO Agreement)**

उरुग्वे दौर की बहुपक्षीय वार्ताओं के परिणामों पर आधारित के WTO मूलभूत समझौते में निम्न शामिल हैं:

1. वस्तुओं में व्यापार के बहुपक्षीय समझौते।
2. सेवाओं में व्यापार का सामान्य समझौता (GATS)।
3. बौद्धिक सम्पत्ति अधिकारों के व्यापार संबंधी समझौता (TRIPS)
4. झगड़ों के निपटान से संबंधित नियमों और प्रक्रियाओं का समझौता।

5. बहुपक्षीय व्यापार समझौते।
6. व्यापार नीति पुनरावलोकन तंत्र।

इनका विवेचन नीचे किया गया है।

वस्तुओं में व्यापार के बहुपक्षीय समझौते

(Multilateral Agreements on Trade in Goods)

वस्तुओं में व्यापार का सामान्य समझौता गैट 1994 को परिभाषित करता है। इसमें वस्तुओं में व्यापार संबंधी विभिन्न पहलुओं के बारे में अब समझौते शामिल हैं।

1. **गैट (GATT 1994)-** गैट 1994 में 1 जनवरी, 1995 तक (जब WTO का जन्म हुआ) संशोधित GATT 1947 शामिल है। इसमें उल्लिखित कानूनी प्रपत्रों के प्रावधान, गैट 1994 की माराकेश विज्ञप्ति और निम्न व्याख्याएं भी शामिल हैं:

- (क) **अनुच्छेद II (Article II):** गैट 1994 का 1 (b)- कानूनी अधिकारों और अनुबन्धों में तथा किन्हीं अन्य शुल्कों और प्रभारों के प्रकार और स्तर, जो रियायतों की मर्दों में वर्णित बंधित टैरिफवाली वस्तुओं पर 15 अप्रैल, 1995 से लागू है, में पारदर्शिता लाना।
 - (ख) **गैट का अनुच्छेद XVII-** सरकारी व्यापारिक संस्थाओं की कार्य-प्रणाली में पारदर्शिता सुनिश्चित करने के लिए सदस्यों को यह आवश्यक है कि वे ऐसी संस्थाओं की सूचना वस्तुओं के व्यापार की समिति (Council for Trade in Goods) को दें, जिसका कार्यकारी दल वर्ष में कम से कम एक बार उनके कार्यों का पुनरावलोकन करके काउन्सिल को सूचित करे।
 - (ग) **गैट के भुगतान-शेष के प्रावधानों पर समझौता-** जो सदस्य भुगतान-शेष के लिए रुकावटें डालते हैं वे उन्हें न्यूनतम विघटनकारी ढंग से करें। वे कीमत-आधारित उपायों को ही प्राथमिकता दें जैसे, आयात अधिभार, आयात जमा या अन्य उपाय जो आयातित वस्तुओं की कीमतों को प्रभावित करते हैं। वह नई परिणात्मक रुकावटों को लागू करने से भी दूर रहें, और “शीघ्रातिशीघ्र” सार्वजनिक रूप से सारणियों की घोषणाएँ करें जिनके अनुसार वह भुगतान-शेष संबंधी आयात-विरोधी रुकावटों को दूर करने में प्रयत्नशील होंगे। भुगतान-शेष अवरोधों की समिति (Committee on Balance of Payments Restrictions) परामर्शों के द्वारा सभी आयात-अवरोधी उपायों का भुगतान-शेष के दस्तिकोण पुनरावलोकन करती है।
 - (घ) **गैट 1994 का अनुच्छेद XXIV-** कस्टम-संघों और मुक्त व्यापार क्षेत्रों का समझौता, मापदण्ड और कार्य-विधियाँ निश्चित करता है जिसके द्वारा वह मुक्त व्यापार क्षेत्रों और नए अथवा वर्धित कस्टम संघों का पुनरावलोकन करता है और उसका तीसरे सदस्यों पर पड़नेवाले प्रभावों का भी। यदि अनुबंधित सदस्य बंधित टैरिफ की व द्विंदे के लिए कस्टम संघ बनाना चाहें तो ऐसा समझौता आवश्यक क्षतिपूरक समायोजन को भी स्पष्ट करता है।
 - (च) **अनुच्छेद XXVIII की व्याख्या का समझौता-** अनुच्छेद XXVIII गैट की सारणियों के संशोधन से संबंधित है। जब टैरिफ के बंधनों में परिवर्तन हो या वे हटा दिए जाएं तो क्षतिपूर्ति की वार्ताओं की प्रणाली इसके द्वारा निर्धारित की जाती है।
2. **क वि संबंधी समझौता (Agreement on Agriculture)-** क वि संबंधी समझौता घरेलू सब्सिडी से, निर्यात सब्सिडी (जिसमें सब्सिडी प्राप्त निर्यात की मात्रा सम्मिलित है), न्यूनतम मार्केट-प्रवेश की वचनबद्धता, घरेलू प्रोत्साहन, स्वारक्षण्य, वनस्पति और खाद्य सहायक कार्यों से संबद्ध है।

प्रथम, यह समझौता गैर-टैरिफ उपायों के स्थान पर साधारण कस्टम डयूटी लगाकर, जो धीरे-धीर कम की जाएगी, राष्ट्रीय मार्केट को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा के लिए खोलता है।

दूसरे, यह सरकारी सहायता को धीरे-धीरे कम करके अति-उत्पादन को नियंत्रित करने का प्रयास करता है और परिणामस्वरूप अतिरेकों (surpluses) को भी, जो या तो निर्यात सब्सिडी के द्वारा बेचे अथवा नष्ट किए जाते हैं।

तीसरे, यह निर्यात प्रतिस्पर्धा पर नई नियमावलियों को लागू करने, और सब्सिडी तथा सब्डिसी-प्राप्त निर्यात की मात्रा को कम करने के प्रयत्नों को भी प्रेरित करता है।

(क) घरेलू सब्सिडियाँ (Domestic Subsidies)- घरेलू सब्सिडी के दो अंग हैं: (i) गैर-वस्तु विशेष सब्सिडियाँ जो सभी फसलों को दी जाती हैं, जो उर्वरक, पानी, बिजली, बीज और ऋण के लिए होती हैं, और (ii) विशेष उत्पाद संबंधी सब्सिडियाँ जो विशेष फसलों के लिए होती हैं, जैसे भारत में कुछ क षि-उत्पादों के लिए न्यूनतम सहायक मूल्य।

किसान को दी जानेवाली सब्सिडी, जिसे कुल समग्र सहायता (Total AMS) भी कहते हैं, का पूर्ण मूल्यांकन करने के लिए उपरलिखित दोनों सब्सिडियों का योग करना चाहिए। किसी वर्ष में यह योग, अर्थात् चातूर कुल (AMS (Current Total AMS)), विकासशील देशों में उस वर्ष में कुल क षि उत्पादन के मूल्य के 10% से अधिक नहीं होना चाहिए, जिसे सब्सिडी को कम करने की अनिवार्यता से मुक्त किया जाए। इस सब्सिडी का आगणन उस वस्तु की अन्तर्राष्ट्रीय कीमत पर किया जाएगा।

(ख) निर्यात सब्सिडियाँ (Export Subsidies)- WTO सदस्यों के लिए आवश्यक है कि वे 6 वर्ष के कार्यान्वयन काल में प्रत्यक्ष निर्यात सब्सिडियों के मूल्य को कम करके 1986-90 की आधार अवधि स्तर से नीचे 36% पर ले जाएं और सब्सिडी-प्राप्त निर्यात की मात्रा को उसी अवधि के 21% के। विकासशील देशों के लिए यह कटौतियाँ 10 वर्ष के काल में, विकसित देशों की कटौतियों का 2रु3 होंगी। न्यूनतम विकसित देशों के लिए कमी नहीं की जाएगी।

(ग) न्यूनतम मार्केट-प्रवेश वचनबद्धता (Minimum Market Access Commitment)- न्यूनतम मार्केट-प्रवेश वचनबद्धता उन्हीं देशों पर लागू है जो क षि संबंधी आयात में भिन्न प्रकार की रुकावटों का प्रयोग करते हैं और तदनुसार ही इन रुकावटों को टैरिफ का रूप देने, तथा इन टैरिफों को 6 वर्ष के काल में 36% कम करने को बाध्य हैं। इन देशों के लिए यह भी आवश्यक है कि वे 6 वर्ष के लिए विदेशी क षि उत्पादों की खपत की न्यूनतम 3% मार्केट प्रवेश सुविधा विदेशी क षि उत्पादों को दें जो 6 वर्ष के बाद बढ़कर 5% हो जाएगी। ये शर्तें उन्हीं देशों पर लागू होंगी जो आयात को अनिवार्यतः टैरिफ के द्वारा ही नियंत्रित करते हैं। विकासशील देशों में क षि उत्पादों का टैरिफ 10 वर्ष के काल में 24% कम किया जाएगा। न्यूनतम-विकसित देशों में टैरिफ में कोई कमी नहीं की जाएगी।

(घ) घरेलू सहायता (Domestic Support)- उन घरेलू सहायता के उपायों में, जिनके द्वारा व्यापार पर न्यूनतम प्रभाव पड़ता है, जिन्हें हरित बक्स (Green Box) नीतियाँ कहते हैं, यह कटौती लागू नहीं होती। इन नीतियों में सामान्य सरकारी सेवाएँ सम्मिलित हैं, जैसे अनुसंधान, रोग-नियंत्रण, बुनियादी ढाँचा और खाद्य सुरक्षा के क्षेत्र। इसमें उत्पादकों को आय सहायता, संरचनात्मक समायोजन सहायता, पर्यावरणीय और क्षेत्रीय सहायता प्रोग्रामों के अंतर्गत सहायता के रूप में सीधे भुगतान भी शामिल हैं।

(च) स्वास्थ्य और पशु-स्वास्थ्य के उपाय (Sanitary and Phytosanitary measures)-

स्वारथ्य और पशु-स्वारथ्य के उपायों में खाद्य-सुरक्षा तथा पशु और वनस्पति स्वारथ्य के उपाय सम्मिलित हैं। समझौता स्वीकृत करता है कि विभिन्न देशों की सरकारों को पूर्णाधिकार है कि वे मनुष्य, पशु और वनस्पति के जीवन और स्वारथ्य की रक्षा के लिए उचित उपाय करें। परन्तु यह भी आवश्यक है कि वे मनमाने ढंग से अथवा अनुचित रूप से अन्य सदस्यों के बीच, जहाँ स्थिति समरूप अथवा एक जैसी हो, भेदभाव न करें। समझौता यह भी सुनिश्चित करने का प्रयत्न करता है कि पशु और वनस्पति स्वारथ्य के उपाय व्यापार में अनुचित बाधा न डालें। समझौता मनुष्य और पशु स्वारथ्य की सुरक्षा के उचित स्तरों के निर्धारण और जोखिमों के मूल्यांकन की प्रक्रियाओं और मापदण्डों का वर्णन करता है।

(छ) **खाद्य भंडारण और खाद्य सहायता** (Food Stocking and food Aid)- समझौते में मान्य है कि अंतर्रिम काल में न्यूनतम विकसित और खाद्य-आयाती विकासशील देश खाद्य आयात में ऋणात्मक प्रभावों का अनुभव कर सकते हैं। अतएव, इसने कि विकास के लिए खाद्य सहायता और मूल खाद्यान्नों में पूर्ण अनुदान और सहायता के लक्ष्य रखे हैं। यह IMF और विश्व बैंक द्वारा वाणिज्यिक खाद्य आयात के लिए अल्पकालीन वित्तीय सहायता की संभावना को मानता है।

कि समझौते के प्रावधानों के कार्यान्वयन के पुनरावलोकन के लिए एक कि समिति भी बनाई गई है।

3. कपड़ा और वस्त्रों का समझौता (Agreement on Textiles and Clothing)- इस समझौते का उद्देश्य कपड़ा और वस्त्र क्षेत्र का गैट 1994 में एकीकरण है। यह एकीकरण 4 चरणों में होगा-

प्रथम, चरण में 1 जनवरी, 1995 को प्रत्येक सदस्य इस समझौते की विशेष सूची में सम्मिलित गैट उत्पादों में शामिल किया गया जो 1990 में उसके आयात की कुल मात्रा का कम से कम 16% था।

द्वितीय, चरण में 1 जनवरी, 1998 से वे उत्पाद शामिल हुए जो 1990 के आयात 17% से कम न थे।

तीसरी, चरण में 1 जनवरी, 2002 से वे उत्पाद शामिल होंगे जो 1990 के आयात से 18% से कम न थे।

चतुर्थ, चरण में 1 जनवरी, 2005 को संक्रामणकाल की समाप्ति पर शेष सब उत्पाद इस में शामिल होंगे। शामिल का अर्थ है कि अधोवस्त्र (tops), सूत, कपड़ा और सिले हुए वस्त्र गैट के साधारण नियमों द्वारा संचालित होंगे। सब बहुतंत्रीय समझौते (Multi-Fibre Agreements-MFA) की 31 दिसम्बर, 1994 को स्वीकृत रुकावटें नए समझौते में शामिल कर ली गई हैं और उस समय तक रहेंगी जब तक या तो रुकावटें हटा ली जाएं और गैट में शामिल कर ली गई हैं और उस समय तक रहेंगी। जब तक या तो रुकावटें भी समझौते के लागू होने के एक वर्ष के भीतर गैट 1994 में शामिल कर ली गई या 2005 तक धीरे-धीरे समाप्त कर दी जाएंगी।

जो उत्पाद गैट 1994 में किसी रूप में शामिल नहीं हुए हैं, उनके लिए एक विशेष संक्रणिक सुरक्षा तंत्र (transitional safeguard mechanism) का प्रावधान है। यदि आयातकर्ता देश को ज्ञात हो जाय कि देश में कोई उत्पाद इतनी अधिक मात्रा में आयात हुआ है जिसमें उसके घरेलू उद्योग को गंभीर क्षति पहुँचती, तो उस वस्तु के निर्यातकर्ता पर कार्यवाही की जा सकती है। सुरक्षातन्त्र के अंतर्गत या तो विचार-विमर्श द्वारा या पारस्परिक समझौते द्वारा, कार्यवाही हो सकती है या एक-पक्षीय ही, परन्तु यह कपड़ा मानीटरिंग संस्था (Textile Monitoring Body)

द्वारा पुनरावलोकित होगी। सुरक्षा बंधन तीन वर्ष तक बिना विस्तार के प्रभावों रहेंगे अथवा जब तक कि वस्तु गैट में शामिल नहीं की जाती है। एकीकरण प्रक्रिया के भाग के रूप में अंगस्वरूप, सब सदस्य कपड़ा और वस्त्र के क्षेत्र में गैट नियमों के अनुरूप कार्य करेंगे जिससे मार्केट प्रवेश में सुधार हो तथा न्यायोचित तथा उचित व्यापार नीतियों का पालन हो और आयात-विरोधी विभेद उत्पन्न न हों।

4. **व्यापार में तकनीकी बाधाओं का समझौता** (Agreement on Technical Barriers to Trade)- यह समझौता टोकियो दौर में स्वीकृत व्यापार में तकनीकी बाधाओं के समझौते का विस्तारण और स्पष्टीकरण ही है। यह सुनिश्चित करने की चेष्टा करता है कि तकनीकी विमर्श और मानक (standard), परीक्षण और प्रमाणन (certification) प्रणालियां व्यापार के मार्ग में अनावश्यक रुकावट न बनें। तथापि यह स्वीकार करता है कि देशों को मानवीय, पशु या वनस्पतीय स्वास्थ्य तथा पर्यावरण की रक्षा का अधिकार है। समझौते में मानकीकरण संस्थाओं द्वारा मानकों की संरचना, स्वीकृति और उपयोगी की संहिता (code) सम्मिलित है।
 5. **व्यापार संबंधी निवेश उपायों का समझौता** (TRIMs)- यह 5 वर्ष में सभी व्यापार संबंधी निवेश उपायों को हटाने का निर्देश देता है। यह उपाय मात्रात्मक रुकावटें और राष्ट्रीय व्यवहार तक ही सीमित हैं। वस्तुतः यह जिन उपायों पर लागू होता है वे हैं- चुने हुए क्षेत्रों में निवेश, विदेशी कंपनियों को राष्ट्रीय कंपनियों के बराबर रखने के लिए विदेशी निवेश का स्तर, निर्यात दायित्व (obligations) और घरेलू कच्चे माल का उपयोग। यह विदेशी विनियम के अर्जनों, विदेशी ईकिंचटी हिस्सेदारी और तकनीकी स्थानान्तरण से संबद्ध विदेशी निवेशकों पर कोई पालन शर्त लगाने का निषेध करता है। यह आदेश देता है कि विदेशी निवेश कंपनियों को घरेलू कंपनियों के बराबर ही रखा जाए। यह निवेश के क्षेत्र में रुकावटें लगाने को रोकता है। यह कच्चे माल, कल पुर्जों और मध्यवर्तियों के मुक्त आयात की अपेक्षा रखता है।
- यह समझौता स्वीकार करता है कि कुछ निवेश उपाय व्यापार में रुकावट डालते हैं और उसे विकृत कर देते हैं। इसलिए यह अपेक्षा रखता है कि विकसित देश 2 वर्ष में, विकासशील देश 5 वर्ष में और न्यूनतम विकसित देश 7 वर्ष में सब गैर-अनुरूप TRIMs को अनिवार्य रूप से सूचित करेंगे और उन्हें समाप्त कर देंगे। इसने TRIMs पर एक समिति का गठन किया है जो कि इन व्यवस्थाओं के पालन को मानीटर करेगी और इसकी रिपोर्ट वस्तुओं में व्यापार की काउन्सिल को प्रतिवर्ष देगी।
6. **प्रति-राशिपातन पर समझौता** (Agreement on Anti-Dumping)- गैट के अनुच्छेद VI के अनुसार, यदि राशिपातन आयात, आयातकर्ता देश के घरेलू उद्योग को हानि पहुँचाता है तो अनुबंधित सदस्य को अधिकार है कि वे राशिपातन-विरोधी उपायों को अपनाएँ। संशोधित समझौता टोकियो दौर के समझौते का परिवर्धित रूप है। यह राशिपातन आयात से घरेलू उद्योग की क्षति का मूल्यांकन, राशिपातन विरोधी छानबीन प्रारम्भ करने और उसे कार्यरूप देने, घरेलू अधिकारियों द्वारा की गई राशिपातन के झगड़े निपटान की कार्यवाही करने की प्रक्रिया में अधिक स्पष्टता, अधिक विस्तृत नियम और मापदण्ड निर्धारित करता है। नए नियमों के अन्तर्गत राशिपातन विरोधी छानबीन तुरन्त बन्द कर दी जाएगी यदि “डम्पिंग की सीमा” निर्यात कीमत के 2% से कम है, या किसी विशेष देश से डम्प किए आयात की मात्रा उस उत्पाद के कुल आयात से 3% कम है बशर्ते कि यह ऐसे कुल डम्प किए आयात की 7% की सीमा के अन्तर्गत हो।

वस्तुओं में व्यापार के बहुपक्षीय समझौते के अन्तर्गत कस्टम मूल्यांकन, लदान-पूर्व निरीक्षण, स्रोत के नियम, आयात लाइसेंस प्रक्रिया और सुरक्षाएँ भी आती हैं।

सेवाओं में व्यापार का सामान्य समझौता (GATS)

इस समझौते के अन्तर्गत सब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-योग्य सेवाएँ आती हैं। विदेशी सेवाएँ और सेवाप्रदाता, घरेलू सेवाओं और सेवा-प्रदाताओं के बाबार समझे जाएँगे तथा तथापित सरकारें विशिष्ट परम-मित्र राष्ट्र (MFN) की छूट की सूचना देंगी, जिसका 5 वर्ष के पश्चात् पुनरावलोकन किया जाएगा। इसकी सीमा साधारणतः 10 वर्ष की होगी। यह पारदर्शिता पर बल देता है, जिसमें सेवाओं के व्यापार संबंधी कानून नियमों का प्रकाशन सम्मिलित है। सेवाओं के व्यापार सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान और हस्तांतरण में रुकावट नहीं डाली जाएगी, सिवाय भुगतान शेष की कठिनाइयों के जहाँ ऐसी रुकावटें अस्थाई, सीमित और कुछ शर्तों के अन्तर्गत होंगी। सेवाओं में व्यापार का उदारीकरण उत्तरोत्तर (progressive) होगा। सेवाओं के व्यापार में प्रतिकूल प्रभावों की कटौती अथवा नितान्त समाप्ति तथा सरकारों द्वारा विशिष्ट वचनबद्धताओं के सामान्य स्तर को ऊँचा करना, यह सब प्रति 5 वर्ष के अंतराल में वार्ताओं के द्वारा किया जाएगा।

इस समझौते में खास क्षेत्रों से संबंधित विशेष शर्तें भी दी गई हैं। जहाँ तक देशी (natural) मनुष्यों के आवागमन का संबंध है, इसके अनुसार देशों की सरकारों को अनुमति है कि अपनी सेवाएँ देने के लिए उनकी अस्थाई निवास संबंधी विशेष वचनबद्धताओं के लिए परस्पर बातचीत करें। यह उन मनुष्यों पर लागू नहीं होगा जो स्थाई निवास अथवा नौकरी के इच्छुक हों।

वित्तीय सेवाओं के संबंध में यह देशों की सरकारों को अधिकार देता है कि निवेदकों, जमाकर्ताओं और पालिसी-धारकों के लिए उचित उपाय करें और आर्थिक प्रणाली की अखण्डता और स्थिरता को सुनिश्चित करें। ये WTO के प्रभावी होने के 6 मास पश्चात् लागू हुए।

दूरसंचार के क्षेत्र में यह देशों को निर्देश देता है कि वे दूर-संचार वहन तंत्रों का स्थापन, निर्माण, अधिग्रहण, पट्टे पर देना, संचालन या पूर्ति सुनिश्चित करें और जनता के उपलब्ध कराएँ। तथापि एक विकासशील देश अपने घरेलू दूरसंचार ढाँचे और सेवाओं की और सेवा-सीमाओं की पुष्टता तथा अंतर्राष्ट्रीय दूरसंचार संघ और (International Tele-communication Union) अंतर्राष्ट्रीय मानकीकरण संगठन (International Organisation for Standardisation) के सहयोग से दूरसंचार सेवाओं के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में सहयोग की व द्विंदी के लिए उपाय करें। गैट्स विमानों की मरम्मत और रख-रखाव सेवाओं, वायु यातायात सेवाओं का विपणन और कम्प्यूटर आरक्षण सेवाओं पर भी लागू होता है।

व्यावसायिक सेवाओं के क्षेत्र में देशों की सरकारें संचालन-दलों की नियुक्ति के लिए भी तत्पर हो गई हैं जो ये कार्य करेंगे: (1) सेवाओं में व्यापार और पर्यावरण के बीच संबंधों का परीक्षण, रिपोर्ट और संस्तुतियां (recommendations) जिनमें दीर्घकालीन विकास की समस्या भी शामिल है। (2) व्यावसायिक सेवाओं पर आवश्यक शिक्षा की शाखाओं पर संस्तुतियाँ के साथ परीक्षण और रिपोर्ट करना। ऐसा सुनिश्चित करने के लिए कि व्यावसायिक सेवाओं के क्षेत्र में योग्यताएँ आवश्यकताएँ और प्रक्रियाएँ तथा तकनीकी मानक और लाइसेंसिंग आवश्यकताएँ इनके व्यापार में अनावश्यक बाधाएँ नहीं होती हैं।

गैट्स में मंत्रणाएं, झगड़ा निपटान और एक सेवाओं की काउन्सिल की स्थापना का भी प्रावधान है।

बोन्डिक सम्पत्ति अधिकारों के व्यापार संबंधी पक्ष का समझौता

(Agreement on Trade Related Aspects of Intellectual Property Rights-TRIPS)

TRIPS समझौते के अन्तर्गत 7 प्रकार की बोन्डिक सम्पत्ति आती है: (1) कॉपीराइट तथा तत्सम्बन्धी अधिकार, (2) ट्रेडमार्क, (3) भौगोलिक संकेत, (4) औद्योगिक डिजाइन, (5) पेटेंट, जिसमें सम्मिलित हैं सूक्ष्म जीवाणु और पौधों की विभिन्न जातियाँ, (6) संघटित सर्किट और (7) व्यापारिक रहस्य। इनका संक्षिप्त इस प्रकार है:

- १. कॉपीराइट और तत्सम्बन्धी अधिकार (Copyright and Related Rights)-** सदस्यों को आवश्यक है कि वे साहित्यिक और कलात्मक रचनाओं के संरक्षण के लिए बर्न (Berne) समझौते का पालन करें। साहित्यिक रचनाओं में कम्प्यूटर प्रोग्राम भी सम्मिलित हैं। कम्प्यूटर-प्रोग्रामों के रचयिताओं, फोनोग्राम, ध्वनि रिकार्डिंग और प्रसारण संस्थाओं को अपनी रचनाओं को जनता को वाणिज्यिक किराए पर देने अथवा न देने का अधिकार दिया जाए। ऐसा ही एकमात्र अधिकार फिल्मों पर भी लागू होता है। यह संरक्षण ध्वनि रिकार्डिंग के निर्माताओं और अभिनयकर्ताओं के लिए कम-से-कम 50 वर्ष और प्रसारण संस्थाओं के लिए कम-से-कम 20 वर्ष के समय के लिए होगा।
- २. ट्रेडमार्क (Trademarks)-** कोई चिन्ह या चिन्हों का समूह, जो किसी संस्थान के पदार्थों अथवा सेवाओं में दूसरे संस्थानों के पदार्थों अथवा सेवाओं से भिन्नता दर्शाता, ट्रेडमार्क के अन्तर्गत आता है। ऐसे सूचना चिह्न विशेषतया शब्द, जिनमें वैयक्तिक अक्षर, संख्या, व्याख्यात्मक विवरा और रंगों का संयोजन तथा ऐसे चिन्हों का समूह ट्रेडमार्क रजिस्ट्रेशन की परिधि में आते हैं। किसी रजिस्टर्ड के चिन्हों का दुरुपयोग करने से रोकने का एकमात्र अधिकार है। किसी ट्रेडमार्क के प्राथमिक रजिस्ट्रेशन और प्रत्येक नवीनीकरण की अवधि 7 वर्ष से कम की नहीं होगी। ट्रेडमार्क का रजिस्ट्रेशन अनिश्चितकाल तक बढ़ाया जा सकता है।
- ३. भौगोलिक (Geographical Indications)-** किसी सदस्य के क्षेत्र में उत्पादित वस्तु की पहचान, अथवा उस क्षेत्र, प्रदेश या स्थान, जिसमें, उसके भौगोलिक उत्पादन की गुणवत्ता या प्रसिद्धि है अथवा ख्याति है, उसका भौगोलिक संकेत देता है। सदस्यों को यह आवश्यक है कि वे रुचि रखनेवाले लोगों को ऐसे कानूनी साधन प्राप्त कराएं, जिनके द्वारा ऐसा कोई संकेत न मिले जिससे ग्राहकों को पदार्थों के उत्पत्ति-स्थल के बारे में गलतफहमी हो अथवा जिससे अनुचित प्रतियोगिता संभव हो। शराब और स्पिरिट की भौगोलिक पहचान का विशेष संरक्षण आवश्यक है।
- ४. औद्योगिक डिजाइन (Industrial Designs)-** औद्योगिक डिजाइनों का संरक्षण 10 वर्ष की अवधि के लिए होता है। सुरक्षित डिजाइनों के स्वामियों को, ऐसी वस्तुओं के उत्पादन, बिक्री अथवा आयात को रोकने की समर्थ होगी जो ऐसे डिजाइनों पर आधारित हों जो वाणिज्यिक कार्यों के लिए संरक्षित डिजाइनों की नकल हों। ऐसे संरक्षण कम से कम 10 वर्ष के लिए होंगे।
- ५. पेटेंट (Patents)-** पेटेंट, प्रौद्योगिकी के सब क्षेत्रों में किसी भी आविष्कार पर हो सकता है, चाहे वह वस्तु का हो या प्रक्रियाओं का, बशर्ते कि वह नवीन हो, आविष्कार-परक हो और जिसको औद्योगिक क्षेत्र में लागू किया जा सके। पेटेंट-धारियों को उन्हें देने, उत्तराधिकार द्वारा हस्तांतरण अथवा लाइसेंसिंग समझौता करने का अधिकार होगा। समझौते के अनुसार पेटेंट संरक्षण 20 वर्ष के लिए आवश्यक होगा।

यदि जनहित अथवा नैतिक कारणों से किसी आविष्कार का उपयोग नहीं किया जा सकता तो उसका पेटेंट नहीं किया जाएगा। मनुष्यों या पशुओं, पौधों और सूक्ष्मजीवों को छोड़कर अन्य प्राणियों, विशेषतः अजीव विज्ञानीय और सूक्ष्म जीव-विज्ञानीय प्रक्रियाओं के अलावा पौधों और पशुओं के उत्पादन की रोग-निदानीय, चिकित्सकीय और शल्य-चिकित्सकीय प्रक्रियाओं को पेटेंट प्रणाली से वंचित रखा गया है, तथापि सदस्यगण पेटेंटों के द्वारा (Suigeneris) प्रणाली (पशु-प्रजनिकों के अधिकार) द्वारा अथवा इनकी किसी मिश्रित प्रणाली द्वारा पौधों की जातियों

के संरक्षण के उपाय करेंगे। ये प्रावधान 1 जनवरी, 1995 से 4 वर्ष के उपरांत पुनरावलोकित किए जाने थे।

6. **संघटित सर्किट (Integrated Circuits)-** TRIPs समझौते में संघटित सर्किटों के खाका डिजाइनों का 10 वर्ष की अवधि के लिए संरक्षण का प्रावधान है। परन्तु यह खाका डिजाइन बनाने के समय से 15 वर्ष के पश्चात संरक्षण समाप्त हो जाएगा।
7. **व्यापारिक रहस्य (Trade Secrets)-** वाणिज्यिक मूल्य वाले व्यापारिक रहस्य तथा जानकारियों का विश्वासघातकता तथा अन्य कुकार्यों से संरक्षण किया जाएगा। औषधियों तथा क्षि-रसायनों की व्यापारिक स्वीक ति के लिए भेजे गए परीक्षण-फलों को अनैतिक प्रयोग से संरक्षित किया जाएगा।

अंततः बौद्धिक सम्पत्ति के अधिकारों से संबंधित संविदात्मक लाइसेन्सों के अप्रतियोगी कार्यों के रोकने का भी इस समझौते में प्रावधान है। यह बौद्धिक सम्पत्ति अधिकारों के दुरुपयोग को रोकने के उद्देश्य से विभिन्न देशों की सरकारों के मध्य विचार-विमर्श को भी प्रेरित करता है।

यह समझौता TRIPs के कार्यान्वयन के लिए उचित विधि निर्माण और अन्य उपायों के लिए विकसित देशों के 1 वर्ष का संक्रमणकाल स्वीक त करता है। विकासशील देशों, पूर्व-यूरोपीय देशों और रूस को 5 वर्ष का और न्यूनतम-विकसित देशों को 11 वर्ष का संक्रमणकाल देता है। जिन विकासशील देशों में वस्तु पेटेंट संरक्षण नहीं है उन्हें 10 वर्ष दिए गए हैं।

समझौता का यह भी निर्देश है कि एक “बौद्धिक सम्पत्ति अधिकारों के व्यापार संबंधी पहलुओं की काउन्सिल” (Council for Trade-Related Aspects of Intellectual Property Rights) की स्थापना की जाएगी जो इस समझौते के कार्यान्वयन का तथा देशों की सरकारों द्वारा इसके पालन को मानिटर करेगी।

झगड़ा निपटान प्रणाली (Dispute Settlement System)

WTO के स्थापन समझौते के प्रावधानों के अन्तर्गत सदस्य देशों के अधिकार और कर्तव्य संबंधित अधिकारों के लिए विचार विमर्श और झगड़े के निपटान का प्रावधान झगड़ा निपटान निर्धारण नियमों और प्रणालियों के समझौते में किया गया है। इसके लिए एक झगड़ा निपटान संस्था (Dispute Settlement Body-DSB) स्थापित की गई है। झगड़ा निपटान का पहला चरण संबंधित सदस्यों के मध्य विचार-विमर्श हैं। यदि यह वार्ता सफल न हो तो WTO का डाइरेक्टर जनरल मध्यस्थता और समाधान के लिए अपनी सेवाएँ अप्रित करता है। शिकायती सदस्य DSN से 30 दिन के भीतर के भीतर 3 विशेषज्ञों की नाम सूची के लिए प्रार्थना कर सकता है। यह भी विधान है कि DSB द्वारा मनोनीत एक 7 सदस्यों की अपील समिति उसका पुनरावलोकन करके DSB को 60 से 90 दिन के भीतर अपनी रिपोर्ट समर्पित करेगी। DSB इस रिपोर्ट को 30 दिन के भीतर अनुमोदित करेगी और यह बिना शर्त दोनों पक्षों को मान्य होगी।

बहुपार्श्वक व्यापार समझौते (Plurilateral Trade Agreements-PTA)

बहुपार्श्वक व्यापार समझौतों में शामिल हैं-नागरिक विमानन व्यापार समझौता, सरकारी खरीद का समझौता, अन्तर्राष्ट्रीय दुधोत्पादन समझौता तथा अन्तर्राष्ट्रीय गोमांस समझौता। इनमें पहला समझौता जेनेवा में अप्रैल, 1979 में हुआ जो बाद में संशोधित परिवर्द्धित और ठीक किया गया। अंतिम तीन समझौते माराकेश में 15 अप्रैल, 1994 को हुए थे।

व्यापार-नीति पुनरावलोकन तंत्र

(Trade Policy Review Mechanism-TPRM)

यह बहुपक्षीय व्यापार तंत्र के सुचारू रूप से चलने के लिए बहुपक्षीय और अनेक पक्षीय व्यापार समझौतों के अंतर्गत व्यापार नीतियों और प्रक्रियाओं का पुनरावलोकन करता है। इस उद्देश्य के लिए यह व्यापार नीति पुनरावलोकन संस्था (Trade Policy Review Body-TPRB) के स्थापन का संकेत देता है। पूर्ण पारदर्शिता प्राप्त करने के लिए प्रत्येक सदस्य TPRM को निरंतर अपने द्वारा जारी व्यापार नीतियों और प्रक्रियाओं की रिपोर्ट देता रहेगा। TPRB बहुपक्षीय व्यापार तंत्र पर प्रभावशील अंतराष्ट्रीय व्यापारीय वातावरण में वर्तमान प्रवत्तियों का वार्षिक अति-निरीक्षण करेगा।

डाइरेक्टर जनरल द्वारा समर्पित वार्षिक रिपोर्ट इस अति-पिरीक्षण में सहायक होगी, जो WTO के मुख्य कार्यों की व्याख्या करेगी और बहुपक्षीय व्यापार तंत्र पर प्रभाव डालनेवाले नीति विषयों पर विशेष प्रकाश डालेगी।

उरुग्वे दौर और विश्व व्यापार समझौते का आलोचनात्मक मूल्यांकन

**(Critical Appraisal of Uruguay Round and
WTO and WTO Agreement)**

उरुग्वे दौर अनुबंधित देशों द्वारा 8 लम्बे वर्षों की वार्ताओं का परिणाम था। इन वार्ताओं के फलस्वरूप अंतिम एक्ट के वैधानिक प्रलेखों में 28 समझौतों का समावेश है।

पहले दौरों की अपेक्षा उरुग्वे दौर का क्षेत्र और विस्तार अधिक बड़ा था। इसमें सेवाएँ, कृषि और बौद्धिक अधिकार और निवेशों को प्रथम बार शामिल किया गया। इसमें WTO द्वारा व्यापार नीतियों, पर्यावरण नीतियों और सततीय (Sustainable) विकास में संबंध पर भी बल दिया गा। उरुग्वे दौर की एक चमत्कारिक उपलब्धि थी- गैट के विचार-विमर्श-मंच के स्थान पर WTO का एक स्थाई विश्व-व्यापार संगठन के रूप में स्थापन। उरुग्वे दौर में केवल इस दौर द्वारा संशोधित मूल गैट ही नहीं था, वरन् उपरवर्णित कई नए समझौते भी थे। यह समझौते संभवतः विकासशील देशों तथा अल्प-विकसित देशों को दीर्घकालीन लाभ देंगे, बशर्ते कि उन्हें विकसित देशों से उनके विश्वव्यापीकरण में पूर्ण सहयोग मिले। तथापि, इन समझौतों में कई कमियाँ हैं जो इन विकासशील देशों को हानिकारक हो सकती हैं। हम प्रत्येक समझौते का नीचे एक संक्षिप्त विवेचन करते हैं।

1. कृषि (Agriculture)

कृषि समझौता विकासशील देशों के किसानों के लिए हानिप्रद होगा। यह खाद्य सुरक्षा की उन्नति और आत्मनिर्भरता के लिए दी हुई सब्सिडियों तथा कृषि उत्पादों के निर्यात में व द्विके लिए सब्सिडी में कोई भेद नहीं करता, क्योंकि यह विकासशील देशों के उत्पाद के मूल्य के 10% तक की ही सब्सिडी की स्वीकृत त देता है। अतएव उन देशों की सरकारों के लिए विशेष कृषि वस्तुओं में कीमत-सहायता देना लगभग असम्भव हो जाएगा। यही बात निवेश-सब्सिडियों की भी है जो केवल अल्प आयवाले किसानों तक ही सीमित हैं। इस प्रकार किसानों के कुल आगतों जैसे ईधन, बिजली, खाद, माल की ढुलाई, बीज आदि पर तथा उपभोक्ता के जनवितरण इत्यादि के रूप में सब्सिडियां समाप्त ही करनी पड़ेगी। सब्सिडियों में कटौती और बिल्कुल हटाने के साथ-साथ यदि विवेकी कीमत नीति नहीं अपनाई गई तो विकासशील देशों के किसानों की अपार क्षति होगी।

फिर, मुक्त मार्केट प्रवेश और आयात की समस्त रुकावटों को हटाने से भी क बक वर्ग को हानि पहुँचेगी। कृषि उत्पादों के सरते निर्यात से किसानों का उत्पादन ठप्प पड़ जाएगा। कृषि उत्पादों का अंतराष्ट्रीय मार्केट कीमत निर्धारण प्रतियोगिता द्वारा नहीं किया जाता, वरन् उन्नत देशों के उन निगमों

द्वारा किया जाता है जो उन वस्तुओं को खरीदते और बेचते हैं। इसके फलस्वरूप विदेशी ऋण में व द्विं होगी और भुगतान-शेष की स्थिति और भी बिगड़ जाएगी।

इस समझौते में विकासशील देशों के क षि उत्पादों पर स्वास्थ्य और वनस्पति स्वास्थ्य क्रियाओं के प्रयोग का भी प्रावधान है। ये Codus Alimentarius अंतर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा स्थापित नियमों पर आधारित होंगे जो (संगठन) किसी प्रजातांत्रिक प्रक्रिया के अधीन नहीं होते हैं। ऐसा संगठन विकसित देशों के उत्पादों को सुरक्षित और विकासशील देशों के उत्पादों को 'असुरक्षित' घोषित कर सकता है।

इनके बावजूद इस समझौते से विकासशील देशों में अपनी बढ़ती हुई घरेलू माँग की पूर्ति के पश्चात् भी निर्यात अतिरेक को व द्विं द्वारा अधिक लाभ होने की संभावना है। इसको अनाज, रुई आदि की ऊँची कीमतों के द्वारा तथा उद्यान-क षि, पुष्ट-क षि, डेरी उत्पादन और अन्य कार्यों के विविधीकरण द्वारा, जो क षि-उत्पादों की टैरिफ-सीमा व द्विं 100% तक होने से सम्भव होगा, को भी लाभ होने की सम्भावना है। फिर, विकसित देशों में क षि के ऊपर उन सब्सिडियों के कारण विकासशील देशों का निर्यात अधिक लाभकारी हो सकता है।

2. कपड़ा और वस्त्र (Textiles and Clothing)

संक्रमणकाल में इस समझौते से अधिकतर विकासशील देशों को लाभ होगा। परन्तु इन लाभों में विलम्ब होने की सम्भावना है क्योंकि MFA की विलीनीकरण प्रक्रिया में दो कारणों से देर हो सकती है -

प्रथम, जब कोई विकसित देश कुछ प्रकार का कपड़ा और वस्त्र MFA से अलग करता है, यह अभेदात्मक MFN के आधार पर सभी निर्यातक देशों पर लागू हो जाएगा।

द्वितीय, 10 वर्ष में संक्रमणकाल के अंतिम दिन सब उत्पादों का केवल 40% ही गैट में सम्प्रिलित होगा। यह समाप्तिकाल बहुत लम्बा है और WTO पर संक्रमणकाल को बढ़ाने का दबाव छाला जा सकता है। फिर, 'उत्पाद-आवरण' (product coverage) के लिए विलीनीकरण (phasing out) इतना विस्त त है कि वह सब "कपड़ा और वस्त्र" के पदार्थ जो कोटा-प्रणाली के अन्तर्गत नहीं हैं, इसमें आ जाते हैं। इस प्रकार कोटा पदार्थों का 10 वर्ष के विलीनीकरण के काल के अन्त तक नाम-मात्र का विलीनीकरण होगा।

यह समझौता छोटे वितरकों और रुई-उत्पादक निर्यातकारी विकासशील देशों को लाभकारी होगा।

3. TRIMs

TRIMs का समझौता शक्तिहीन है। समझौते के अनुच्छेद IV के अनुसार उन्नतिशील देश इन प्रावधानों से अरथाई रूप से हट सकते हैं। इस विचलन (deviation) की मात्रा और प्रणाली अनुबंधित देशों की इसकी व्याख्या पर निर्भर है। इस पलायन धारा (escape clause) के अन्तर्गत विदेशी कंपनियों के नियंत्रण और उनके व्यापार-संतुलन उपायों के नियमन के अधिकार किसी प्रकार से कम नहीं किए गए हैं, यदि प्रतिकूल भुगतान-शेष जैसे ठोस कारण हों।

इन सुरक्षाओं के अतिरिक्त TRIMs समझौता विदेशी निवेश का नियंत्रण भी हटाएगा। यद्यपि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का नाम नहीं लिया गया है, तथापि आशंका है कि MNCs विकासशील देशों में उच्च प्राथमिकता वाले क्षेत्रों पर नियंत्रण करने की चेष्टा करेंगे। आगे वर्णित TRIMs वह हैं जो विदेशी स्वामित्व वाले उद्यमों पर पक्षपाती ढंग से लगाए जाते हैं, जबकि वहीं शर्तें घरेलू उद्यमों पर लागू नहीं हैं। समझौता पक्षपातपूर्ण आयात रुकावटों का भी वर्णन करता है।

कुल मिलाकर TRIMs समझौते से राष्ट्रीय सरकारों की निर्णयात्मक शक्ति कम हो गई है। उदाहरणस्वरूप, वे घरेलू विनिर्माण में देशी (local) अंशों का विवरण नहीं बता सकतीं और न ही

अपनी निर्यातित वस्तुओं में आगतों की प्रतिशतता सीमित कर सकती हैं, या किसी विशेष वस्तु के निर्यात।

4. गैट नियमावली (GATT Rules)

मात्रात्मक रुकावटों (QRs) के विलीनीकरण और अधिमान संबंधी गैट नियम 1994 अस्पष्ट है। अपनी भुगतान-शेष संबंधी कठिनाइयों को दूर करने के लिए QRs का प्रयोग विकासशील देशों के लिए अप्रभावकारी बना दिया गया है क्योंकि इसे केवल न्यूनतम विकसित देशों तक सीमित कर दिया गया है। QRs को समाप्त कर दिया जाएगा और इसके स्थान पर कीमत आधारित उपाय लागू किए जाएंगे। केवल अविकसित देश ही QRs को लागू कर सकेंगे, परन्तु इसका यह रूप अस्थाई ही रहेगा। जो देश QRs लगाएंगे, वह शीघ्रातिशीघ्र सार्वजनिक रूप से इन्हें हटाने की समय-तालिका घोषित करेंगे। परन्तु विकासशील देशों को भिन्न वस्तुओं पर भिन्न ड्यूटी-दरें लगाने का अधिकार होगा जिससे वे अनावश्यक वस्तुओं के बहुत अधिक आयात को निरुत्साहित कर सकें। इससे उन्नतिशील देशों के लिए सम्भव होगा कि वे आवश्यक वस्तुओं और पूँजीगत माल के आयात को प्रोत्साहित और अनावश्यक वस्तुओं के आयात को निरुत्साहित कर सकें।

टैरिफ अधिमान विश्व प्रणाली (Global System of Tariff Preferences-GSTP) के अन्तर्गत एक विकसित देश दूसरे देशों को टैरिफ अधिमान दे सकता है। इसी प्रकार सामान्यीक त अधिमान प्रणाली (Generalised System of Preferences-GSP) के अन्तर्गत एक विकसित देश किसी विकासशील देश को टैरिफ अधिमान दे सकता है। यह टैरिफ कटौतियाँ उन टैरिफ अधिमानों के अतिरिक्त होंगी जो WTO के अन्तर्गत MFN देशों को दी गई हैं। फलस्वरूप, विकासशील देशों में साधारणतः कुछ क्षेत्रों में अधिमान सीमाएँ पूर्णरूपेण समाप्त हो जाएंगी। OECD का अनुमान है कि 2002 तक अफ्रीका को अपने अधिमानों में कटौती के कारण औसतन 30% की हानि होगी। अफ्रीका, कैरीबियन और प्रशांत सागर देशों के कटिबंधीय उत्पादों के निर्यात में 51% तक की कमी होगी।

उरुगवे दौर में विकासशील देशों ने स्वयं को वचनबद्ध कर लिया है कि वे अपने औद्योगिक टैरिफ को 72% तक “बंधित” कर लेंगे तथा कि वे उत्पादों को 100% तक। सब्सिडी समझौते द्वारा विकासशील देश वचनबद्ध हैं कि वे उन सब्सिडियों को समाप्त कर देंगे जो निर्यात कीमतों पर प्रभावी हैं। परिणामस्वरूप, वे निर्यात-द्वारा व द्वितीय की नीति का परित्याग कर देंगे।

प्रति-राशिपातन के गैट नियम राष्ट्रीय सरकारों के विवेक को इतना स्वच्छन्द बनाते हैं कि बहुत ही कम कार्य उनको वास्तव में इन नियमों के उल्लंघन का दोषी ठहरा सकेंगे। इस प्रकार कुछ तो गैट नियमों के, ओर कुछ आर्थिक परिस्थितियों के कारण प्रति-राशिपातन ड्यूटियों का प्रयोग संभवतः अमेरिका और यूरोपीय संघ देशों के व्यापार को सीमित करने में ही प्रयुक्त होगा।

फिर, विकासशील देशों के लिए व्यापार में गैट तकनीकी रुकावटें, जैसे पर्यावरण, स्वास्थ्य, सफाई आदि गैट-टैरिफ रुकावटों के रूप में कार्य करते हैं।

5. गैट्स (GATS)

गैट्स विकासशील देशों के हितों के विरुद्ध जाता है। यह उन्हीं सेवाओं के उदारीकरण पर जोर देता है जिनमें विकसित देशों को निश्चित लाभ है, जैसे आर्थिक, जलपोत संबंधी, परिवहन और संचार सेवाएँ, स्वास्थ्य, शिक्षा, व्यवसाय और मीडिया सेवाएँ। सेवाओं के व्यापार में उदारीकरण द्वारा विकसित देशों का मुख्य ध्येय विकासशील देशों के उत्पादन और सेवाओं के प्रयोग पर नियन्त्रण की चेष्टा करना ही है।

विकासशील देशों के सेवा-क्षेत्र को विकसित देशों की फर्मों के विशाल संसाधनों की प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ेगा। कुछ विकासशील देशों के पास कुशल और अकुशल कर्मियों का तुलनात्मक अधिक लाभ है, परन्तु उनके स्वतन्त्र आवागमन के विरुद्ध विकसित देशों ने कठोर आप्रवासिक कानून

बना रखे हैं। सेवा क्षेत्र के इस पहलू पर कोई सुझाव नहीं दिया गया क्योंकि चयनात्मक बुद्धिजीवी पलायन से विकसित देशों को ही लाभ होता है।

6. ट्रिप्स (TRIPs)

ट्रिप्स समझौता विशेषतः पक्षपातपूर्ण है। यह निम्न कारणों से विकसित देशों के हित में होगा और विकासशील देशों को अहितकर। यह औषधियों, क बि पौधे और पशु आदि संबंधी पेटेंट प्रणाली के अंतर्गत प्रभावी क्षेत्र का विस्तार करेगा। क्योंकि विकसित देशों और उनकी बहुदेशीय कंपनियों के पास अनुसंधान और विकास के असीम साधन और सुविधाएँ हैं, इसलिए उन्हें निवेश करने और प्रक्रियाओं तथा वस्तुओं को पेटेंट करवाने की अधिक सुविधा होगी। ऐसी सब स्थितियों में विकासशील देशों को रॉयल्टी देनी पड़ेगी। ऐसे सब पदार्थों, विशेषतया औषधियों तथा मशीनों की कीमतें बढ़ जाएंगी और उपभोक्ता पर अधिक भार पड़ेगा। विकासशील देशों में पेटेंट किए हुए कच्चे माल और पदार्थों का और अधिक आयात होगा, और निर्यात को आधात पहुँचेगा। परिणामस्वरूप, भुगतान-शेष और अधिक बिगड़ेगा।

विकसित देश भी ट्रिप्स से प्रभावित होंगे। एक अनुमान के अनुसार, यदि ट्रिप्स समझौते का पूर्णतया पालन किया गया तो औषधियों की कीमतों में आकाशभेदी व द्विः होगी और विश्व की 90% आबादी पर इसका कुप्रभाव पड़ेगा।

भारत की भाँति बहुत-से विकासशील देश औषधि, क बि-उत्पाद रसायन आदि क्षेत्रों में अनुसंधान और विकास कार्यों में संलग्न हैं। यह सब म तप्राय हो जाएगा क्योंकि 10 वर्ष के संक्रमणकाल के पश्चात् पेटेंट कानूनों में परिवर्तन होगा।

ट्रिप्स समझौते की स्वीकृति से विकासशील देशों के पेटेंट कानूनों में दूरगामी परिवर्तन आवश्यक हो जाएंगे।

ट्रिप्स समझौते के अनुसार विकासशील देशों के पेटेंट कानूनों में परिवर्तन से बुद्धिजीवी पलायन में भारी व द्विः होगी जो इन देशों के लिए बहुत हानिकारक होगा।

पेटेंट अधिकारों की अवधि का 20 वर्ष के लिए बढ़ाना विकासशील देशों के लिए और भी हानिकारक होगा। केवल विकसित देशों में ही पेटेंट अधिकारों की अवधि 20 वर्ष है। बेशक, विकासशील देशों को अपने मौजूदा कानूनों को बदलने के लिए 10 वर्ष का समय दिया जाएगा, लेकिन ट्रिप्स समझौता इस रियासत को भी क्लासिकी पाइप लाइन सुरक्षा धारा द्वारा छीन लेता है। इस धारा के अनुसार सम्बद्ध अधिकारी औषधियों तथा क बि पदार्थों के पेटेंट प्रार्थना-पत्र, 1 जनवरी, 1995 को समझौते के प्रभावी होने के पश्चात भी स्वीकार करेंगे, चाहे राष्ट्रीय कानूनों में वस्तु पेटेंटों की स्वीकृति का प्रावधान हो या नहीं। उदाहरणार्थ, औषधियों के संबंध में पेटेंट प्रार्थना-पत्र देने से उसके मार्केट प्रवेश तक साधारणतः 10 वर्ष का समय लगता है। अतः ऐसी वस्तुओं पर पेटेंट सुरक्षा की आवश्यकता केवल 2005 के आगे से ही होगी। यद्यपि पेटेंट की अवधि केवल 20 वर्ष की ही होगी, परन्तु कोई भी नई वस्तुओं पर निवेश नहीं करेगा।

फिर समझौते का प्रावधान है कि प्रार्थी को किसी दूसरे देश में एकमात्र मार्केटिंग अधिकार अधिकाधिक 5 वर्ष के लिए होगा। पेटेंट स्वीकृति के बिना भी ऐसे नव-प्रवर्तन (innovation) संबंधी सूचना गोपनीय रखी जाएगी। यह प्रावधान विकासशील देशों के हितों के विरुद्ध है, क्योंकि यह पेटेंटधारी को अधिकार देता है कि वह इस पेटेंट वस्तु अथवा प्रक्रिया का निर्यात मार्केट में उपयोग पर रोक लगाए। इस प्रकार पेटेंट की हुई प्रौद्योगिकी एक MNC द्वारा किसी विकासशील देश के घरेलू मार्केट के शोषण के लिए प्रयुक्त की जा सकती है।

पेटेंट के कार्यान्वयन के लिए पेटेंटधारी को स्वतन्त्रता होगी कि वह वस्तु को निर्यात करे, न कि उसकी उत्पादन-इकाई को दूसरे देशों में लगाए। विकसित देशों और उनके MNC पर कोई बन्धन नहीं होगा।

कि वे विकासशील देशों को अपनी प्रौद्योगिकियों को उनकी कार्य-संचालन की आवश्यकतापूर्ति के लिए स्थानान्तरित करें। बल्कि उन देशों का उपयोग उनकी वस्तुओं के मार्केट के रूप में किया जाएगा।

“प्रमाण के दायित्व का व्युत्क्रम” (reversal of the burden of proof) वाली धारा तो न्याय के कानूनों के सर्वथा विरुद्ध है। इसके अनुसार नई वस्तुओं और प्रक्रियाओं के उत्पादकों का उत्तरदायित्व होगा कि वे अपने पेटेंट अधिकारों के अनातिक्रमण (non-infringement) को सिद्ध करें। अतएव यह पेटेंटधारी को अपनी प्रक्रिया और वस्तु पेटेंट के अतिक्रमण को सिद्ध करने से मुक्ति देता है। यह स्वेच्छाचारितापूर्ण है।

ट्रिप्स नियम स्व-विरोधाभासी भी हैं। वे किसी विशिष्ट प्रणाली का प्रावधान नहीं करते जिसके द्वारा सततीय (Sustainable) विकास और पर्यावरण रक्षण के ध्येयों को प्राप्त किया जा सके। बौद्धिक सम्पत्ति अधिकारों और पर्यावरण में संबंध के प्रश्न इसलिए उठाता है क्योंकि कुछ सुरक्षित प्रौद्योगिकियों का पर्यावरण पर भले या बुरे रूप में, सीधा प्रभाव पड़ता है। यथार्थ में पर्यावरण को प्रभावित करनेवाली प्रौद्योगिकियों का पेटेंट प्रणाली से अलग रखना या उनके प्रयोग पर, वाणिज्यिक शोषण पर, प्रतिबन्ध प्रत्यक्षतः आवश्यक प्रतीत होगा। ट्रिप्स समझौता स्पष्ट नहीं करता कि सदसय पेटेंट सुरक्षा खींक त करते समय पर्यावरणीय-हानिकर तकनीकों के वाणिज्यिक प्रतिबन्ध लगा सकते हैं या क्या यह अनतिक्रमण (non-violation) रूपी शिकायतों को जन्म देगा।

डॉ। दीपक नयर के अनुसार, “यदि नव-प्रवर्तन को छोड़ भी दें, तो भी विकासशील देशों के लिए ट्रिप्स समझौते के प्रौद्योगिकियों के समावेशन (absorption), प्रसारण (diffusion) और अनुकूलन (adaptation) के आशय दूरगमी हैं। अतिआवश्यक तकनीकें अब सुलभ लागतों पर उपलब्ध नहीं हो सकेगी। घरेलू तकनीक क उद्भव शायद पहले से ही प्राप्त हो जाए। तकनीकों का स्थानांतरण धीमा पड़ जाए। MNC द्वारा प्रतिबंधित व्यावसायिक पद्धतियों के प्रभावों में व द्विं हो। ट्रिप्स समझौते के आशय और निष्कर्षों से अनुमान लगता है कि बौद्धिक सम्पत्ति अधिकारों के संरक्षण की उमड़ रही अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली विकासशील देशों के लिए अन्यायसंगत और प्रतिकूलन होगी”।

7. झगड़ा-निपटान (Dispute Settlement)

WTO की झगड़ा निपटान प्रणाली के द्वारा सदस्य देशों की आन्तरिक नीतियों से संबंधित समस्याओं पर निर्णय लिया जाता है। परन्तु इससे देशों की प्रभुसत्ता पर धमकी का भय उत्पन्न होता है। उदाहरणस्वरूप, झगड़े की दशा में यदि WTO मंत्रालय से एक नामावली मनोनीत करने की प्रार्थना की जाती है तो WTO मंत्रालय को नामावली मनोनीत करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। सम्बद्ध सदस्य इस मनोनयन को अस्वीकार नहीं कर सकता। अतएव इसके निर्णय पर झगड़े से संबंधित सदस्य कोई आपत्ति नहीं उठा सकता। इसका अर्थ है उसके प्रभुत्वाधिकारों में हस्तक्षेप।

फिर शक्तिशाली विकसित देश झगड़ा-निपटान-प्रक्रिया के ढोंग से उल्टा प्रतिशोधात्मक उपाय अपना सकते हैं जो विकासशील देशों के लिए अहितकर हो सकते हैं।

निष्कर्ष

(Conclusion)

इन आलोचनाओं के बावजूद WTO और GATT नियमों की रचना से विकासशील देशों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संबंधों से अधिक पारदर्शिता, भविष्य-सूचकता और सुरक्षा की भावना का निर्माण हुआ है।

अध्याय-30

भारत की अन्तर्राष्ट्रीय ऋण समस्या (Problem of India's International DEBT)

बाह्य लोक ऋण (External Public Debt)

एक आदर्श विकसित देश को विकास की प्रारम्भिक अवस्था में विदेशी सहायता की अधिक आवश्यकता होती है। इस प्रकार की सहायता विदेशों से पूँजीगत साधनों तथा औद्योगिक कच्चा माल खरीदने के लिए उपयोग में लायी जा सकती है। भारत को भी अपने नियोजित आर्थिक विकास के लिए विदेशी पूँजी की आवश्यकता हुई है। इस प्रकार भुगतान सन्तुलन एवं विनियोग अन्तराल की पूर्ति के लिए भारत ने बड़ी मात्रा में विदेशों से ऋण प्राप्त किया।

सन् 1950-51 में भारत पर कुल बाह्य ऋण भार केवल 32.03 करोड़ रुपए था जो बढ़कर सन् 1990-91 में 31,524.97 करोड़ रुपए हो गया। इस प्रकार 1950-51 के मुकाबले 1990-91 में बाह्य लोक ऋण से 100 गुने के लगभग की व द्विः हो गए। 2000-2001 के बजट अनुमान के अनुसार कुल बाह्य लोक ऋण 65,945.23 करोड़ रुपये आंका गया। यह बढ़कर 2002-2003 (R.E.) में 57,649.58 करोड़ रुपए तथा 2003-2004 (B.E.) में 60,931.12 करोड़ रुपए आंका गया है।

बाह्य लोक ऋण

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	कुल बाह्य ऋण (संचय व ति में)
1950-51	32.03
1980-81	10,782.39
1990-91	31,524.97
1995-96	51,248.74
1998-99	57,254.33
1999-2000	58,437.19
2000-2001	65,945.23
2000-2002	71,545.79
2002-2003 (R.E.)	57,649.58
2003-2004 (B.E.)	60,931.12

वाह्य लोक ऋण में विशुद्ध व द्वि (Net increase in External Public Debt)— भारत सरकार का सन् 1980-81 में कुल विदेशी उधार 1,728.00 करोड़ रुपए था। जिसमें सरकार ने 447.00 करोड़ रुपए का ऋण वापिस कर दिया। इस प्रकार इस वर्ष विशुद्ध विदेशी ऋण 1,281.00 करोड़ रुपए था। सन् 1990-91 में वाह्य ऋण 5,539.00 करोड़ रुपए था। सन् 1990-91 में वाह्य लोक ऋण 5,339.00 करोड़ रुपए था, जिसमें 2,158.00 करोड़ रुपए का वापिस भुगतान कर दिया। इस प्रकार इस वर्ष विशुद्ध वाह्य लोक ऋण में 3,582 करोड़ रुपए की व द्वि हुई। कुल वाह्य लोक ऋण जो सन् 2000-2001 के बजट अनुमानों में 17,328 करोड़ रुपये आंका गया, उनमें से 9,823.00 करोड़ रुपए वापिस भुगतान कर दिया गया था। इस प्रकार वर्ष में 1,180.00 करोड़ रुपए की विशुद्ध वाह्य लोक ऋण में व द्वि हुई।

वाह्य लोक ऋण की प्रत्येक वर्ष में विशुद्ध व द्वि

(करोड़ रुपए में)

वर्ष (1)	कुल वाह्य लोक ऋण (2)	पुनर्भुगतान (3)	वाह्य लोक ऋण में विशुद्ध व द्वि (4)
1980-81	1,728.00	447.00	1,281.00
1985-86	2,145.00	630.00	1,515.00
1990-91	5,339.00	2,158.00	3,181.00
1998-99	10,015.00	8,095.00	1,920.00
1999-2000	9,893.00	8,713.00	1,180.00
2000-2001	17,328.00	9,823.00	7,505.00
2001-2002	14,790.00	9,189.00	5,601.00
2002-2003	11,713.00	25,209.00	- 13,496.00
2003-2004	13,203.00	9,621.00	3,582.00

बाह्य लोक ऋण की संरचना (Composition of External Debt)

भारत में वाह्य लोक ऋण कई रूपों में प्राप्त किया जाता है। ये ऋण शर्त सहित ऋण, रुपये में अदायगी वाले ऋण एवं विदेशी मुद्रा के रूप में अदायगी वाले ऋण हो सकते हैं। सामान्यतः के षि आधिक्य वस्तुएँ रुपए के भुगतान के रूप में प्राप्त हुई। स्थगित साख विदेशियों द्वारा दी गई। तकनीकी सहायता भी विभिन्न रूपों एवं विभिन्न देशों द्वारा प्राप्त हुई। भुगतान सन्तुलन को ठीक करने के लिए अल्पकालीन ऋण अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से प्राप्त हुए।

भारत सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं जैसे-अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, अन्तर्राष्ट्रीय विकास एवं पुनर्निर्माण बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय के विकास कोष, एशियन विकास बैंक आदि से भी बाह्य ऋण प्राप्त किया है। इनके अतिरिक्त सरकार ने अमेरिका, रूस, इंग्लैण्ड, कनाडा, डेनमार्क, फ्रांस एवं जापान आदि देशों से ऋण अनुदान, वस्तु अनुदान एवं विशेष ऋण के रूप में प्राप्त किया है।

जहाँ तक विभिन्न देशों से ऋण प्राप्त करने की बात है भारत को अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को छोड़कर अमेरिका से सबसे अधिक ऋण प्राप्त हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से जो ऋण प्राप्त किया जाता है उसमें अन्य विदेशी देशों के मुकाबले राजनैतिक तत्व का कुछ कम दखल होता है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय

पुनर्निर्माण विकास बैंक से प्राप्त होनेवाले ऋण की व्याज दर बहुत ऊँची है तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ को विकसित देशों से कम सहायता मिलने के कारण वह कम व्याज पर ऋण थोड़ी मात्रा में ही दे पाता है। एशियन विकास बैंक एक नया संगठन है जिसे कोष एकत्रित करने में समय लगेगा।

भारतीय अर्थव्यवस्था पर लोक ऋण भारत (Burden of Public Debt on Indian Economy)

भारतीय अर्थव्यवस्था पर लोक ऋण का भार बढ़ता जा रहा है, इस सम्बन्ध में विशेषकर, संसद, विधानसभाओं एवं अन्य मंचों पर वाद-विवाद का विषय रहा है कि भार में लोक ऋण प्राप्त करने की अधिकतम सीमा आ चुकी है, अब आगे ऋण का भार न बढ़ाया जाए। यह इस तथ्य पर आधारित है कि लोक ऋण अधिक मात्रा में लिया जा चुका है और इसका भार दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। भारतीय संविधान की धारा 292 में यह निश्चित है कि संसद को सरकार के लिए लोक ऋण प्राप्त करने की एक अधिकतम सीमा बाँध देनी चाहिए। किन्तु दुर्भाग्यवश संसद ने अभी तक इस प्रकार का कोई कानून नहीं बनाया है जो सरकार को लोक ऋण प्राप्त करने में एक अधिकतम सीमा में बाँध दे। इस प्रकार सवाल अनुमान समिति (Estimate Committee) ने अपनी 20वीं रिपोर्ट में उठाया था। इस सम्बन्ध में वित्त मन्त्रालय ने अधिकतम सीमा न बाँधने के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किए हैं-

- (1) सरकार लोक ऋण की मात्रा का वर्णन अपनी पंचवर्षीय योजना तथा बजट में करती है। संसद जब पंचवर्षीय योजनाओं तथा बजट पर बहस करती है, उस समय लोक ऋण प्राप्त करने पर नियन्त्रण लगा सकती है;
- (2) लोक ऋण के सम्बन्ध में कोई भी अधिकतम सीमा निश्चित करना व्यावहारिक नहीं होगा;
- (3) आन्तरिक ऋण की सीमा तो रिजर्व बैंक निश्चित कर सकता है किन्तु विदेशी ऋण के सम्बन्ध में यह सम्भाव नहीं है।

विदेशी ऋण भार (Burden of External Debt)

भारत सरकार का विदेशी ऋण भी तेजी से बढ़ा है और इसके परिणामस्वरूप उसका भुगतान का भार भी बढ़ता जा रहा है। विदेशी ऋण का भुगतान करना अपने आप में एक जटिल समस्या है क्योंकि इसके अदा करने में न केवल देश की वस्तुओं एवं सेवाओं का दूसरे देश में रथनान्तरण होता है बल्कि देश के नागरिकों की क्रय शक्ति में भी गिरावट आ जाती है जिसका उपयोग देश में उपभोग अथवा विनियोग बढ़ाने में हो सकता है। इसके अतिरिक्त इसका प्रभाव बजट क्रियाओं एवं भुगतान सन्तुलन पर भी पड़ता है। रुपए का विदेशी मुद्राओं में प्रतिस्थापन देश के भुगतान सन्तुलन पर बुरा प्रभाव डालता है क्योंकि नियात आधिक्य तो केवल विदेशी ऋण के भुगतान में ही शोषित हो जाता है। सरकार को जब विदेशी ऋण का भुगतान करना होता है तो उसको अपने विनियोग तथा विकास कार्यक्रमों में कटौती करनी पड़ती है।

भारत सरकार द्वारा विदेशी ऋण का व्याज भुगतान प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त में 13.5 करोड़ रुपए था जो त तीय पंचवर्षीय योजना के अन्त में बढ़कर 237.00 करोड़ रुपए हो गया। इसी दौरान कुल ऋण सेवायों का शुल्क (अर्थात् पूँजी तथा व्याज) 23.6 करोड़ रुपये से बढ़कर 542.6 करोड़ रुपए हो गया। सन् 1989-90 में कुल व्याज भुगतान बढ़कर 3,566.00 करोड़ रुपए तथा कुल ऋण सेवायें शुल्क 8,864.00 करोड़ रुपये हो गया। विभिन्न योजनाओं एवं वर्षों में बाह्य ऋण सेवाएँ संलग्न तालिका में दर्शायी गयी हैं।

बाह्य ऋण सेवाएँ

अवधि	परिशोधन	व्याज भुगतान	कुल ऋण सेवाएँ
1. प्रथम योजना	10.5	13.5	23.5
2. द्वितीय योजना	55.2	64.2	119.4
3. तीय योजना	305.6	237.0	542.7
4. 1977-78	524.7	271.3	796.0
5. 1980-81	517.8	286.1	803.9
6. 1987-88	3,658.00	2,254.00	5,912.00
7. 1988-89	4,298.00	2,709.00	7,007.00
8. 1989-90	4,898.00	3,566.00	8,864.00

* आर्थिक सर्वे

तालिका से स्पष्ट है कि बाह्य ऋण के व्याज भुगतान की राशि बड़ी मात्रा में बढ़ती जा रही है जिसका हमारे भुगतान सन्तुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। भारत सरकार कठिन शर्तों पर और अधिक बाह्य ऋण नहीं ले सकती। बाह्य ऋण सेवाओं के बदले शुल्क चुकाने के लिए नियर्यातों को प्रोत्साहन एवं आयात प्रतिस्थापना करना होगा। भारत आयातों के प्रतिस्थापन के लिए कठिन प्रयास कर रहा है।

Emerging International Monetary System with Special Reference to Post-MaAstrishit Development and developing countries

Emerging of Internatonal Monetary System after Break down of Bretton Wood System

इस प्रकार, ब्रेटन वुडज प्रणाली के भंग होने का मुख्य कारण तरलता, समायोजन और विश्वास का अभाव थे। तरलता (अंतर्राष्ट्रीय रिजर्व) में व द्विः अमेरिका के भुगतान शेष घाटे से उत्पन्न होने वाले डॉलरों के रूप में थी। परन्तु क्योंकि अमेरिका विदेशों में संचित अत्यधिक डॉलरों और अपने भुगतान शेष घाटे को समायोजित करने में सक्षम नहीं था, इसलिए डॉलर में विश्वास में विश्वास का संकट उत्पन्न हो गया और ब्रेटन वुडज प्रणाली भंग हो गई।

15 अगस्त, 1971 तथा 18 दिसम्बर, 1971 के स्मिथसोनियन समझौते (Smithsonian Agreement) के बीच 48 देशों ने स्थिर विनिमय दरों की प्रणाली छोड़ दी। इन 48 देशों में अमेरिका, जापान तथा बहुत सारे यूरोपीय देश शामिल थे। 18-19 दिसम्बर, 1971 को दस औद्योगिक देशों की बैठक वाशिंगटन में स्मिथसोनियन संस्थान में हुई। इन दस देशों का समूह इस बात पर सहमत हुआ कि एक नई स्थिर विनिमय दर प्रणाली अपनाई जाए जिसकी पट्टी (Band) अधिक व्यापक हो। प्रमुख करेंसियों को फिर से जोड़ने के लिए पहला कदम यह उठाया गया कि अमेरिका ने अपने डालर का 8 प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया, जापान ने अपने येन का मूल्य 17 प्रशित बढ़ा दिया, और जर्मनी ने मार्क का पुनर्मूल्यन कर उसे 14 प्रशित बढ़ा दिया। स्मिथसोनियन समझौते के अन्तर्गत विनिमय दरों के उत्तार-चढ़ावों की सीमा केन्द्रीय दरों की नई दरों की समानताओं से 2.25 प्रतिशत के घेरे में रखी गई। इसने आधिकारिक रूप से स्वर्ण के विरुद्ध डॉलर का अवमूल्यन 35 डॉलर से 38 डॉलर प्रति आउन्स किया। 1973 में यह पट्टी बढ़ाकर 4.5 प्रतिशत कर दी गई (अर्थात् विनिमय दरें केन्द्रीय दरों से 4.5 प्रतिशत अधिक या कम हो सकती थीं)। स्मिथसोनियन समझौता फरवरी 1973 में 10% तक अमेरिकी डॉलर के अवमूल्यन के बाद भंग हो गया।

यूरोप में एक नई बात हुई कि यूरोपीय संघ (EC) देशों ने अपनी मुद्राओं के आपसी उतार-चढ़ावों की सीमा अपेक्षाकृत घटा दी। इसे **सुरंग में सांप** (Snake in the Tunnel) की सज्जा दी गई है। इस अवस्था के अन्तर्गत EC देशों की मुद्राएँ परस्पर बाँध दी गई और वे एक दूसरे की सापेक्षता में तो संकीर्ण सीमाओं के भीतर घट-बढ़ सकती थीं, परन्तु अन्य मुद्राओं की सापेक्षता में पट्टी सुझावों द्वारा निर्धारित सीमाओं के भीतर घट-बढ़ सकती थी।

मार्च 1973 के प्रारंभ में भारत, कनाडा, जापान, स्विट्जरलैंड, इंग्लैंड और कई छोटे-छोटे देशों में तिरती (Floating) विनिमय दरें चलती थीं। परन्तु EC देशों की 'संयुक्त तिरण' (Joint Float) मार्च 1973 के बाद भी जारी रही। अब इसे **झील में सांप** (Snake in the Lake) नाम दिया गया, क्योंकि कोई ऐसी पट्टी नहीं थी जिसके भीतर अन्य करेंसियों की सापेक्षता में EC करेंसियां घट-बढ़ सकती थीं। मार्च 1979 में **यूरोपीय मुद्रा प्रणाली** (European Monetary System-EMS) स्थापित की गई। इसने **यूरोपीय करेंसी इकाई** (European Currency Unit) बनाई जो प्रमुख यूरोपीय मुद्राओं की बनी लेखा की इकाई की 'टोकरी' (Basket) मुद्रा है। EMS के अनुसार सदस्य देशों की आन्तरिक विनिमय दर के परिवर्तन पर यह प्रतिबन्ध रहता है कि वे 'केन्द्रीय दरों' से उनके 2.25 प्रतिशत से अधिक न घटें-बढ़ें। इसमें केवल इटली के लीए को 6 प्रतिशत तक घटने-बढ़ने की छूट दी गई थी।

इस बीच जनवरी 1976 में **जैमैका समझौता** (Jamaica Agreement) हुआ। इस समझौते के परिणामस्वरूप IMF के तत्वावधान में तिरती (Floating) विनिमय दरों की प्रणाली को मान्यता प्रदान की गई। IMF के अधिकांश सदस्य देशों को अनेक कारणों से विवश होकर अपनी करेंसिया तिरती बनानी पड़ी। अल्पकालीन पूँजी गतियाँ बहुत बढ़ गई और समायोज्य कीलनों की प्रणाली के दौरान केन्द्रीय बैंक करेंसियों के सहे को रोकने में असमर्थ रहे। 1973 में जो तेल संकट उत्पन्न हुआ और 1974 में जो तेल की कीमतें बढ़ीं उनके परिणामस्वरूप 1974-75 में विश्व के औद्योगिक देशों में भारी सुस्ती (Recession) आई। इसका परिणाम यह हुआ कि डालर में तेजी से गिरावट आई और 1978 के अन्त में यह इतनी अधिक बढ़ गई कि संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार को व्यापक हस्तक्षेप की नीति अपनाने का निर्णय करना पड़ा ताकि डालर की कीमत को आगे उस हद तक गिरने से रोका जा सके जहाँ वह वित्तीय आतंक न उत्पन्न कर दे। अन्त में, 1978 तक लोचदार विनिमय दरों की प्रणाली टिक गई।

1978 के **IMF चार्टर के दूसरे संशोधन** के अनुसार सदस्य देशों के लिए जरूरी नहीं है कि वे स्वर्ण अथवा डालर मूल्य के बराबर मूल्य बनाए रखें और स्थापित करें। IMF का सदस्य देशों की विनिमय दर समायोजन नीतियों पर कोई नियंत्रण नहीं है परन्तु IMF अपने सदस्य देशों की विनिमय दर नीतियों पर अन्तर्राष्ट्रीय देख-रेख रखता है।

द्वितीय संशोधन ने विश्व मौद्रिक प्रणाली में स्वर्ण के महत्त्व को निम्न प्रकार से घटाया है:

(i) IMF द्वारा निर्धारित स्वर्ण की कीमत को समाप्त करना; (ii) विनिमय व्यवस्थाओं में डॉलर के साथ इसके संबंध को तोड़ना; (iii) स्वर्ण प्राप्त करने या हस्तांतरण करने के लिए IMF की बाध्यताओं को समाप्त करना; और (iv) IMF के स्वर्ण धारणों के एक भाग की बिक्री।

द्वितीय संशोधन ने SDR को विश्व मौद्रिक प्रणाली के मुख्य रिजर्व परिसंपत्तियों के रूप में महत्त्व दिया है, जिसका मूल्य स्वर्ण में नहीं, बल्कि मुद्राओं में व्यक्त किया जाता है। अब यह लेखा की एक इकाई, **एक करेंसी कीलन** (Currency Peg) और लेन-देन का एक माध्यम है। तिरती विनिमय दरों की वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली मुक्त लोचदार दरों की प्रणाली नहीं अपितु 'प्रबंधित तैरती' (Managed Floating) प्रणाली है। यह सरकारी हस्तक्षेप के बिना कभी नहीं चली। क्योंकि सरकारें समय-समय पर इसमें हस्तक्षेप करती रही हैं, इसलिए इसे 'प्रबंधित' अथवा 'गंदी' (Dirty) तिरती प्रणाली नाम दिया गया। 1977 में जब हस्तक्षेप बहुत बढ़ गया था, तो इसे 'फैली' (Filthy) तिरती

प्रणाली नाम दिया गया। जब सरकारें बिल्कुल हस्तक्षेप न करें तो यह 'स्वच्छ' (Clean) प्रणाली कहलाती है। परन्तु स्वच्छ तिरती की सम्भावना बहुत कम है। इस प्रकार प्रबंधित तिरती विनिमय दरों की प्रणाली वहाँ विकसित हो रही है जहाँ केन्द्रीय बैंक यह प्रयत्न कर रहे हैं कि विनिमय दरों के उत्तार-चढ़ाव को किन्हीं 'सामान्य' दरों के आस-पास बांधकर रखा जाए, भले ही कोष के दूसरे संशोधन में सामान्य दरों का कोई उल्लेख नहीं है।

वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली ने कई महत्वपूर्ण तरीके प्रस्तुत किए हैं, जिनमें SDR का नया आवंटन, IMF में देश के कोटे में व द्वि, IMF उधार के सामान्य समझौतों (GAB) का नवीनीकरण, IMF स्वर्ण कीमत का उन्मूलन, और यूरोपीय मौद्रिक प्रणाली (EMS) और यूरो मुद्रा का निर्माण।

अमेरिका विश्व मौद्रिक प्रणाली को प्रभावित करनेवाला एक प्रमुख देश है। जब डॉलर का मूल्य अत्यधिक ऊँचाइयों या गिरावटों पर पहुँचता है तो इसने समय-समय पर हस्तक्षेपों के साथ अन्य मुद्राओं की तुलना में डालर को तिरणे (Float) की अनुमति दी है। जब डॉलर का मूल्य अत्यधिक ऊँचा (बढ़ रहा) था तो G-5 (अमेरिका, इंग्लैण्ड, जर्मनी, जापान और फ्रांस) देश सितम्बर 1985 में **प्लाजा समझौता** (Plaza Accord) द्वारा डॉलर का मूल्य नीचे लाने के लिए हस्तक्षेप करने पर सहमत हो गए। परिणामस्वरूप, डॉलर का मूल्य पर्याप्त रूप से घआ, येन की तुलना में 50% से अधिक। 1987 के पूर्वार्द्ध तक डॉलर का अधोमूल्यन (Undervaluation) हो गया था और **लुवरे समझौता** (Louvre Accord) से G-7 देश (G-5 के अतिरिक्त कनाडा और इटली) अपनी विनिमय दरों को उस समय के अपने चालू स्तरों के आस-पास रखने में सहयोग देने के लिए सहमत हो गए। लुवरे समझौता विनिमय दरों को शेष बचे वर्ष के लिए स्थिर रखने में सफल था। तब से एक सर्वसम्मति लगने लगी है कि विनिमय दरों को व्यापक रूप से स्थिर रखने में सफल था। तब से एक सर्वसम्मति लगने लगी है कि विनिमय दरों को व्यापक रूप से स्थिर किया जाना चाहिए। परन्तु विभिन्न देशों के बीच प्रत्यक्ष सहयोग बहुत कम है।

वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली विनिमय दरों में बड़े असंतुलन और अत्याधिक उत्तार-चढ़ाव की समस्या से जूझ रही है। प्रायः विकसित और विकासशील देश डॉलर की तुलना में अपनी मुद्राओं के अत्यधिक मूल्यव द्वि (Appreciation) या मूल्यहास (Depreciation) का सामना कर रहे हैं, जबकि डॉलर विश्व मौद्रिक प्रणाली में सदैव प्रबल रहा है। यूरोपीय संघ (EU) द्वारा नव-निर्मित यूरो में भी इसके प्रांतभ से ही डॉलर के मुकाबले पर्याप्त रूप से मूल्यहास हो रहा है जबकि इसे एक मजबूत करेंसी माना जाता है। इससे विश्व व्यापार विपरीत रूप से प्रभावित हुआ है।

Post Maastricht Development in International Monetary System

10 दिसम्बर, 1991 की यूरोपियन यूनियन के सभी मुख्य नेताओं ने हॉलैण्ड के Maastrichtst शहर में एक बैठक में भाग लिया। इस बैठक में एक प्रस्ताव पर सहमति हुई कि 1957 की Treaty of Rome, जिसने यूरोपियन यूनियन को कस्टम यूनियन का दर्जा दिया था, में भारी सुधार करने की जरूरत है। यह प्रस्ताव यूरोपियन यूनियन को यूरोपियन मौद्रिक यूनियन (European Monetary Union) में बदलने के लिए एक मील का पथर सिद्ध हुआ। यह प्रस्ताव इस बैठक में आम सहमति से पास हुआ और उसे Maastrichtst Treaty का नाम दिया गया।

इससे पहले 1989 में Jacques Delors (यूरोपियन कमीशन का अध्यक्ष) की अध्यक्षता में स्थापित कमेटी का यह सुझाव था कि यूरोपियन यूनियन की आर्थिक मौद्रिक यूनियन में परिवर्तित यूनियन की आर्थिक व मौद्रिक यूनियन में परिवर्तित करने के लिए तीन दौर से गुजरना पड़ेगा जो निम्न है।

1. सभी यूरोपियन यूनियन देशों को Exchange Rate Mechanism (ERM) से जुड़ना होगा।

2. Exchange Rate Margin को कम करना पड़ेगा और समस्तिगत नीतियों से सम्बन्धित निर्णय यूरोपियन यूनियन की एक उच्च केन्द्रीय शक्ति हाथ में सौंपने होगे।
3. सभी यूरोपियन यूनियन के देशों को अपने मौद्रिक नीति से सम्बन्धित निर्णयों को (European System of Central Bank) के अनुसार लेने होंगे जैसे अमेरिका के Federal Reserve System में हैं और सभी यूरोपियन यूनियन के देशों को अपने राष्ट्रीय मुद्रा को एक सांझी मुद्रा में हस्तान्त्रित करना होगा।

Delon Plan का ही एक हिस्सा Maastricht Treaty थी। इस सन्धि के बाद अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में काफी परिवर्तन होने की आशा की जा रही थी। ऐसा माना जा रहा था कि अब अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली केवल डॉलर पर निर्भर नहीं रहेगी। हालांकि कुछ अर्थशास्त्रियों का यह भी मानना था कि यह सन्धि कुछ समय बाद विफल हो जाएगी। परन्तु वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में इस सन्धि से काफी परिवर्तन आए। हालांकि जितनी यूरोपीयन यूनियन इससे इतनी उम्मीद करती थी वह पूरी नहीं हुई। यूरो मुद्रा का उद्भव हुआ जिससे अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में परिवर्तन होना सम्भावित था। Post Maastricht Development in International Monetary System में हम यूरो मुद्रा के कारण आनेवाले परिवर्तन की व्याख्या करेंगे।

अध्याय-31

वर्तमान में भारत के व्यापार में दिशा और संरचना में परिवर्तन

(Recent Change in the Direction and Composition of Trade)

1991 से भारत सरकार ने विदेशी व्यापार क्षेत्र में 'खुलेपन' की नीति अपनाई है और व्यापक व्यापार उदारीकरण कदम उठाए हैं। महत्वपूर्ण उदारीकरण कदम हैं- जुलाई 1991 में रुपए का अवमूल्यन (और बाद में मुख्य विकसित देशों की मुद्राओं की तुलना में उसका मूल्यहास); रुपए की पहले व्यापार खाते पर और तत्पश्चात् संपूर्ण चालू खाते पर परिवर्तनीयता; आयात शर्तों का उदारीकरण; सीमाशुल्क दरों में भारी कटौती; कई वस्तुओं को खुले आयात करने की अनुमति; इत्यादि। वस्तुतः 1991 में शुरू किए गए विदेशी व्यापार सुधारों व उदारीकरण के कारण विदेश व्यापार क्षेत्र में व्यापक परिवर्तन हुए हैं और इनके परिणामस्वरूप अन्तर्मुखी नीति (inward oriented policy) के स्थान पर अब बाह्य उन्मुख नीति (outward oriented policy) को अपनाया जा रहा है। इस अध्याय में हम 1990 के दशक में भारत के विदेश व्यापार के प्रसार और उसमें होने वाले संरचनात्मक परिवर्तनों की चर्चा करेंगे।

विदेशी व्यापार का प्रसार (Expansion of Foreign Trade)

उदारीकरण के बाद से भारतीय व्यापार में तेज व द्विः हुई है। 1991-92 में कुल व्यापार की मात्रा 37.3 बिलियन डालर थी (17.9 बिलियन डालर के निर्यात और 19.4 बिलियन डालर के आयात) जो 2000-01 में बढ़कर 95.1 बिलियन डालर हो गई (44.6 बिलियन डालर के निर्यात और 50.5 बिलियन के आयात) परन्तु 1992-93 के बाद से (1993-94 को तथा 2000-01 को छोड़कर) डालर के रूप में आयातों की व द्विः दर निर्यातों की तुलना में अधिक रही है। इसके परिणामस्वरूप, व्यापार शेष में घाटा जो 1991-92 में यह घाटा लगभग 6 बिलियन डालर था।

सारणी में 1990 के दशक भारत के विदेश क्षेत्र के निष्पादन की तुलना पिछले दो दशकों से की गई है:

सारणी 1

भारतीय विदेशी व्यापार क्षेत्र का निष्पादन

वर्ष	संवद्धि दर		सकल घरेलू उत्पाद का प्रतिशत		निर्यात आयात	निर्यात अनुपात में हिस्सा	विश्व निर्यात में हिस्सा		
	(अमेरिकी डालर में)	(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)	(8)
1970-71 से									
1979-80	15.8		20.0	4.5	5.3	9.8	86.9	0.56	
1980-81 से									
1989-90		8.1		7.2	4.6	7.2	11.8	64.0	0.48
1990-91 से									
1999-2000		8.6		9.6	7.8	9.3	17.1	84.9	0.58

इस सारणी से निम्नलिखित महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त होते हैं:

- व्यापार क्षेत्र के व्यापक उदारीकरण तथा 'खुलेपन' की नीति के कारण 1990 के दशक में भारत के व्यापार-सकल घरेलू उत्पादन अनुपात में सुधार आया। जैसा कि कालम (4) तथा (5) से स्पष्ट है, निर्यात-सकल घरेलू उत्पाद अनुपात तथा आयात-सकल घरेलू उत्पाद अनुत्पाद दोनों ही 1990 के दशक में पिछले दो दशकों की तुलना में अधिक थे। जहाँ तक कुल व्यापार-सकल घरेलू उत्पाद अनुपात का संबंध है वह 1970 के दशक में 9.8 प्रतिशत तथा 1980 के दशक में 11.8 प्रतिशत था। 1990 के दशक में इसमें तेज व द्विगुई और वह 17.1 प्रतिशत तक पहुँच गया।
- 1990 के दशक में भारत के व्यापार घाटे के सकल घरेलू उत्पाद के साथ अनुपात में गिरावट आई है। यह बात सारणी 5 से आसानी से ज्ञात की जा सकती है। 1980 के दशक में निर्यात-सकल घरेलू उत्पादन अनुपात और आयात-सकल घरेलू अनुपात में अन्तर 2.6 प्रतिशत था जो 1990 के दशक में कम होकर 1.5 प्रतिशत रह गया।
- 1980 के दशक की तुलना में 1990 के दशक में औसत वार्षिक निर्यात संवद्धि दर और औसत वार्षिक आयात संवद्धि पर दोनों ही अधिक थीं।

नब्बे के दशक में निर्यात संरचना (Composition of Export in 1990s)

1990 के दशक में विनिर्माण वस्तुओं का निर्यात आय में हिस्सा बड़ा है, 1990-91 में यह हिस्सा 72.9 प्रतिशत था जो 2000-01 में बढ़कर 79 प्रतिशत हो गया।

1990 के दशक में सर्वाधिक निर्यात आय हस्तशिल्प वस्तुओं से प्राप्त हुई। निर्यात आय में हस्तशिल्प वस्तुओं का हिस्सा 1990 के दशक में लगभग पांचवां रहा है (2000-01 में यह निर्यात आय का 19.1 प्रतिशत था)। हस्तशिल्प का प्रथम स्थान जवाहरात व आभूषणों के कारण था।

1990 के दशक में दूसरा स्थान अधिकतर इंजीनियरिंग वस्तुओं का तथा तीसरा स्थान सिले-सिलाए कपड़ों का था। 1990-91 में निर्यात आय में इंजीनियरिंग वस्तुओं का हिस्सा 11.9 प्रतिशत था जो 2000-01 में बढ़कर 15.6 प्रतिशत हो गया।

Report on Currency and Finance, 1998-99, के अनुसार यदि समग्र की अपेक्षा वस्तु-अनुसार अध्ययन करें तो नियम संरचना में होनेवाले परिवर्तन और उभरकर सामने आते हैं। 1980 और 1990

के दशकों के बीच निम्न 6 वस्तुओं के निर्यात प्रदर्शन के अभूतपूर्व सुधार हुआ है-कॉफी, परिष्क त खाद्य पदार्थ, जूस और विविध परिष्क त वस्तुएँ; चावल मसाले; कला-वस्तुएँ व अयर्स्क (ores) व खनिजों तथा रबड़, शीशा, पेंट, इनमेल व उत्पादों का निर्यात प्रदर्शन खराब रहा। क षि व संबद्ध पदार्थों की निर्यात संरचना में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। उदाहरण के लिए जहाँ 1990-91 में तीन मदें कॉफी; चावल तथा परिष्क त खाद्य पदार्थों, जूसों व विविध परिष्क त मदों का क षि से निर्यात आय में हिस्सा 15.4 प्रतिशत था व 1998-99 में यह दुगुने से भी अधिक होकर 34.2 प्रतिशत हो गया। इस उत्साहपूर्वक प्रदर्शन को देखते हुए Report on Currency and Finance, 1998-99, ने इन तीन निर्यात वस्तुओं को 'भारत के तेजी से उभरते हुए' निर्यातों की संज्ञा दी है। परन्तु इनका नामकरण ठीक नहीं लगता। उदाहरण के लिए, 2000-01 ने इन तीन मदों का क षि से निर्यात आय में हिस्सा केवल 20 प्रतिशत गया (इसका मुख्य कारण यह था कि चावल का निर्यात जो 1998-99 में 1.493 मिलियन डालर था 2000-01 में यह कम हो कर के 640.5 मिलियन डालर रह गया)।

भारत के विनिर्मित वस्तु निर्यातों की संरचना में परिवर्तन हो रहा है तथा ये निर्यात परम्परागत वस्तुओं से नई निर्मित वस्तु की ओर बढ़ रहे हैं। भविष्य में आर्थिक संबंध तथा निर्यात संबंध के दिक्कोण से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रव ति यह रही है। 1990 के दशक के उत्तरार्द्ध में इलैक्ट्रानिक वस्तुओं तथा कंप्यूटर-उत्पादों के निर्यात में उत्साहपूर्वक व द्वितीय हुई है। 1995 में इलैक्ट्रानिक वस्तुओं और कंप्यूटर वस्तुओं के निर्यात 1,873 मिलियन डालर थे जो 2000-01 मिलियन डालर हो गए। 2000-01 में निर्यात आय में इनका हिस्सा 7.2 प्रतिशत था।

नब्बे के दशक में आयात संरचना

(Composition of Imports in 1990s)

1990 के दशक में आयातों की संरचना तथा उसमें संरचनात्मक परिवर्तनों के बारे में महत्वपूर्ण तथ्य निम्नलिखित हैं:

आयात व्यय के रूप में सबसे महत्वपूर्ण आयात पेट्रोलियम, तेल व लुब्रिकेंट का आयात है। 1990-91 से 2000-01 की 11 वर्ष की अवधि में पेट्रोलियम, तेल व लुब्रिकेंट पर आयात व्यय 6,028 मिलियन डालर से बढ़कर 15,650 मिलियन डालर हो गया (जो ढाई गुण व द्वितीय है)।

1990-91 में पूँजीगत वस्तुओं का आयात 5,833 मिलियन डालर था जो कुल आयात व्यय का 24.2 प्रतिशत (लगभग एक-चौथाई) था। 1992-93 में यह कम होकर 4,532 मिलियन डालर (कुल आयात व्यय का 20.7 प्रतिशत) रहेगा। 1995-96 में गैर-विद्युतीय मशीनरी के आयातों में तथा इलैक्ट्रानिक वस्तुओं के आयातों में तेज व द्वितीय के कारण; पूँजीगत वस्तुओं का आयात बढ़कर 10,330 मिलियन डालर हो गया जो कुल आयात व्यय का 28.2 प्रतिशत था। इसके बाद कुल आयात व्यय में पूँजीगत वस्तुओं के हिस्से में गिरावट आई।

भारत में जवाहरात व आभूषण उद्योग विदेशी मुद्रा कमानेवाला एक प्रमुख उद्योग है। इस उद्योग के लिए बड़ी मात्रा में रत्नों तथा बहुमूल्य नगों का आयात करना पड़ता है। 1990-91 में रत्नों व बहुमूल्य नगों का आयात 2,083 मिलियन डालर था जो 2000-01 में बढ़कर 4,838 मिलियन डालर हो गया (आयात व्यय के प्रतिशत के रूप में यह आयात 1990-91 में 8.7 प्रतिशत तथा 2000-01 में 9.6 प्रतिशत थी)।

खाद्यान्नों के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता प्राप्त कर लेने के कारण अब अनाज, चीनी, दूध, क्रीम इत्यादि का आयात लगभग शून्य हो गया है। परन्तु कई वर्षों में खाद्य तेलों की कमी के कारण, उनकी बड़ी मात्रा में आयात करना पड़ा है।

हाल के वर्षों में सरकारी नीति के परिणामस्वरूप सोने और चाँदी के आयात में व द्वितीय हुई है। 1991 में स्वर्ण नियंत्रण आदेश (Gold Control Order) को निरस्त करने के बाद, सोने के आयातों के

उदारीकरण की दिशा में कई कदम उठाए गए हैं। उदाहरण के लिए जनवरी 1997 में लौट रहे अनिवासी भारतीयों को 10 किलोग्राम तक सोना लाने की अनुमति दी गई। विशेष आयात लाइसेंस के जरिए भी सोने का आयात किया जा सकता है। इसके अलावा अक्टूबर 1997 से कुछ अधिक त एजेंसियों को खुले सामान्य लाइसेंस के अधीन सोना आयात करने की अनुमति दी गई है ताकि जौहरियों और घरेलू उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके।

नब्बे के दशक में आयातों की दिशा (Direction of Imports in 1990s)

जैसा कि आर्थिक सहयोग विकास संगठन (OECD) के देशों का भारत के आयातों में हिस्सा जो 1990-91 में 54.0 प्रतिशत था, 2000-01 में कम होकर 39.9 प्रतिशत रह गया। इसका प्रमुख कारण भारत के आयातों में यूरोपीय संघ के हिस्से में तेज गिरावट है। 1990-91 में यह हिस्सा 29.4 प्रतिशत था जो 2000-01 में कम होकर 19.8 प्रतिशत रह गया। पूर्वी यूरोप का भारत के आयातों में हिस्सा 1990-91 में 7.8 प्रतिशत था जो 2000-01 में गिरकर मात्र 1.3 प्रतिशत रह गया क्योंकि साम्यवादी देशों की सरकारों का इस दशक में पतन हुआ तथा सोवियत संघ का विघटन हुआ। तेल निर्यातक देशों के संगठन (OPEC) का भारत के आयात व्यय में हिस्सा 1990-91 में 16.3 प्रतिशत में बढ़कर 1999-2000 में 22.5 प्रतिशत हो गया परन्तु एक ही वर्ष 1999-2000 से 2000-01 के बीच इसमें तेज गिरावट आई और 2000-01 में यह हिस्सा मात्र 5.1 प्रतिशत रह गया। दूसरी ओर, जैसा कि सारणी 4 से स्पष्ट है, “अन्य देशों” का हिस्सा 1999-2000 में 12.3 प्रतिशत से बढ़कर 2000-01 में 36.2 प्रतिशत तक पहुंच गया। इसका अर्थ यह है कि 2000-01 में भारत ने तेल के आयातों के लिए तेल निर्यातक देशों के संगठन पर अपनी भारी निर्भरता कम करने में सफलता पाई तथा अन्य देशों से तेल का आयात किया। विकासशील देशों का भारत के आयात व्यय में हिस्सा 1990-91 में 18.4 प्रतिशत था 2000-01 में 17.5 प्रतिशत था (अर्थात् छठे हिस्से से थोड़ा अधिक)। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण एशियाई देश थे।

जहाँ तक विभिन्न देशों के आयात व्यय में हिस्से का संबंध है, 1990-91 में अमेरिका का भारत के आयात व्यय में हिस्सा 12.1 प्रतिशत था और उसका सर्वोच्च स्थान था। दूसरा स्थान जर्मनी का (हिस्सा 8.0 प्रतिशत), तीसरा जापान का (हिस्सा 7.5 प्रतिशत), चौथा इंग्लैण्ड तथा सऊदी अरब का (प्रत्येक का हिस्सा 6.7 प्रतिशत) तथा पाँचवां बेल्जियम का (हिस्सा 6.3 प्रतिशत) था। 2000-01 में स्थिति बिल्कुल भिन्न थी। इस वर्ष इंग्लैण्ड का आयात व्यय में सर्वाधिक हिस्सा (6.3 प्रतिशत) था। दूसरा स्थान अमेरिका का (हिस्सा 6.0 प्रतिशत), तीसरी बेल्जियम का (हिस्सा 5.7 प्रतिशत) तथा चौथा जापान का (हिस्सा 3.6 प्रतिशत) था। जर्मनी का हिस्सा 3.5 प्रतिशत था जबकि सऊदी अरब का हिस्सा मात्र 1.2 प्रतिशत था।

नब्बे के दशक में निर्यातों की दिशा (Direction of Exports in 1990s)

1990 के दशक में भारत के निर्यातों में आर्थिक सहयोग विकास संगठन (OECD) के देशों का हिस्सा अधे से अधिक रहा है। 1990-91 में निर्यातों में इस संगठन के देशों का हिस्सा 53.5 प्रतिशत था जो 1999-2000 में बढ़कर 57.3 प्रतिशत हो गया (3.8 प्रतिशत की व द्वि) परन्तु 2000-01 में कम होकर 52.7 प्रतिशत रह गया। 1990-91 में OECD देशों को किए जाने वाले निर्यातों में यूरोपीय संघ के देशों का हिस्सा आधे से भी अधिक था परन्तु 2000-01 में यह कम होकर 43.0 प्रतिशत रह गया। अलग से देखा जाय तो यूरोपीय संघ के देशों का भारत की निर्यात आय में हिस्सा 1990-91

में 27.5 प्रतिशत था जो 2000-01 में कम होकर 22.7 प्रतिशत रह गया। 4.8 प्रतिशत बिन्दु की गिरावट)। तेल निर्यातक देशों के संगठन (OPEC) का भारत की निर्यात आय में हिस्सा 1990-91 में 5.6 प्रतिशत था जो 2000-01 में बढ़ाकर 10.9 प्रतिशत हो गया। साम्यवादी देशों की सरकारों के पतन के कारण पूर्वी यूरोप के देशों का भारत की निर्यात आय में हिस्सा जो 19990-91 में 17.9 प्रतिशत था, 2000-01 में कम होकर मात्र 2.4 प्रतिशत रह गया। भारत के दृष्टिकोण से सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह रहा है कि अफ्रीका, एशिया तथा लैटिन अमेरिका के विकासशील देशों का उसकी निर्यात आय में हिस्सा 1990-91 से 2000-01 के बीच 11 वर्ष की अवधि में काफी तेजी से बढ़ा है- 1990-91 में यह हिस्सा 16.8 प्रतिशत था जो 2000-01 में बढ़कर 26.7 प्रतिशत हो गया। इस समूह के देशों में सबसे महत्वपूर्ण वर्ग एशिया के देशों का है। वस्तुतः एशिया के देशों का भारत की निर्यात आय में हिस्सा 2000-01 में 21.4 प्रतिशत था (जो पांचवें से भी अधिक है)।

जहाँ तक भारत की निर्यात आय में विभिन्न देशों के हिस्से का संबंध है, 1990-91 में भूतपूर्व सोवियत संघ का हिस्सा सर्वाधिक था (16.1) प्रतिशत। दूसरा स्थान अमेरिका का (हिस्सा 14.7 प्रतिशत) तथा तीसरा स्थान जापान का (हिस्सा 9.3 प्रतिशत) था। इसके बाद सोवियत संघ के विघटन से स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। जैसा कि सारणी 4 से स्पष्ट है, भारत की निर्यात आय में रूस का हिस्सा 2000-01 में मात्र 2.0 प्रतिशत था। इस वर्ष सर्वोच्च स्थान अमेरिका का था जिसका भारत की निर्यात आय में हिस्सा 20.9 प्रतिशत है।

मुख्य आयात की प्रव ति (Trend of Principal Imports)

आयात के सम्बन्ध में कुछ चुनी हुई वस्तुओं के आयात की प्रव ति तालिका 6 में दी गई है।

1. **खाद्यान्न (Foodgrains)**— भारत के विभाजन और इसकी बढ़ती हुई आवादी के कारण खाद्यान्नों के आयात की आवश्यकता अनुभव हुई। आयोजन के पहले दशक (1950-51 से 1960-61) के दौरान खाद्यान्नों का औसत वार्षिक आयात 141 करोड़ रुपए था। तीसरी योजना के दौरान यह और बढ़कर 241 करोड़ रुपए प्रति-वर्ष हो गया। 1965-66 और 1966-67 में सूखा पड़ने के कारण स्थिति और बिगड़ गई। परिणामतः 1966-77 से 1968-69 के दौरान कुल रूप में 1,201 करोड़ रुपए का खाद्यान्न विदेशों से मंगवाया गया। चौथी योजना में खाद्य-आयात के गिरने की प्रव ति व्यक्त हुई। खाद्य आयात जो 1969-70 में 184 करोड़ रुपए थे, गिरकर 1972-73 में केवल 48 करोड़ रुपए रह गए। परन्तु ये चार अच्छी फसलों के वर्ष थे। यह प्रव ति 1773-74 में फिर उलट गई और 1974-75 और 1979-80 के दौरान खाद्यान्न का औसत वार्षिक आयात 548 करोड़ रुपए हो गया। खाद्यान्नों की भरपूर फसल होने और भारी मात्रा में बफर-स्टॉक उपलब्ध होने के कारण खाद्यान्न आयात में कमी व्यक्त हुई। 1980-81 से 1984-85 की 5 वर्षों की अवधि में खाद्यान्न का औसत वार्षिक आयात केवल 374 करोड़ रुपए था। 1985-86 और 1989-90 के दौरान खाद्यान्न आयात औसतन 516 रुपए प्रति वर्ष था किन्तु 1992-93 में यह फिर बढ़कर 1,240 करोड़ रुपए हो गया। 1999-2000 के दौरान भी 1,316 करोड़ रुपए के खाद्यान्न का आयात किया गया।
2. **मशीनरी (Machinery)**— जिस देश में औद्योगीकरण का प्रोग्राम आरम्भ किया गया हो वहाँ मशीनरी के आयात की व द्व्य अनिवार्य हो जाती है। 1950-51 और 1960-61 के दौरान मशीनरी का औसत वार्षिक आयात 190 करोड़ रुपए हो गया। चौथी योजना में इस आयात की औसत 484 करोड़ रुपए हो गई। 1974-75 और 1979-80 के दौरान 4,078 करोड़ रुपए

- की मशीनरी का आयात किया गया। सातवीं योजना (1985-86 से 1989-90) कि दौरान आधुनिकीकरण के प्रोग्रामों के लिए मशीनरी का औसत वार्षिक आयात 6,415 करोड़ रुपए तक पहुंच गया। यह अन्धाधुन्ध उदारीकरण को दर्शाता है।
- 3. खनिज तेल (Mineral Oils)**— खनिज तेलों की आयातों में भी व द्विं हो रही है। भारत में खनिज तेलों की कमी है। यह कमी पेट्रोलियम में विशेषकर अनुभव की जा रही है। खनिज तेलों का वार्षिक आयात 1969-70 और 1973-74 के दौरान औसत रूप में बढ़कर 226 करोड़ रुपए का हो गया था। पेट्रोलियम निर्यात देशों के संघ (Organisation of Petroleum Exporting Countries) द्वारा रक्ष तेल की कीमतों में तीव्र व द्विं की घोषणा करने के कारण 1973-74 के दौरान पेट्रोलियम के आयात का मूल्य बढ़कर 569 करोड़ रुपये हो गया। इसके उपरान्त 1974-75 और 1979-80 के दौरान इसका औसत वार्षिक आयात 2,063 करोड़ रुपए था। 1980-81 और 1984-85 में पेट्रोलियम, तेल और स्नेहकों का आयात रिकार्ड स्तर पर पहुंच गया, अर्थात औसत वार्षिक आयात 5,264 करोड़ रुपए था। तेल की अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों में कमी और देशीय उत्पादन में व द्विं के कारण 1985-86 से 1989-90 के दौरान खनिज तेलों का औसत वार्षिक आयात कम होकर 4,498 करोड़ रुपए हुआ। खाड़ी युद्ध ने खनिज तेलों की कीमत में भारी व द्विं की, परिणामतः खनिज तेल आयात बिल बढ़कर 1999-00 से 54,649 करोड़ रुपए के उच्च स्तर पर पहुंच गया।
 - 4. धातुएँ**— भारत में लौह तथा इस्पात का आयात किया जाता है। कुछ हद तक अलौह धातुओं (Non-ferrous metals) का भी आयात होता है। 1969-70 और 1973-74 के दौरान धातुओं का औसत वार्षिक आयात 309 करोड़ रुपए था।
 - 5. उर्वरक**— भारतीय क षि में नई तकनीक को अपनाने के फलस्वरूप उर्वरकों के आयात को बढ़ाया गया। जबकि तीसरी योजना के दौरान उर्वरकों का औसत वार्षिक आयात केवल 28 करोड़ रुपए था, यह 1966-67 और 1968-69 के दौरान बढ़कर 121 करोड़ रुपए हो गया परन्तु देश में रासायनिक उर्वरकों के उत्पादन में व द्विं के कारण इनका औसत वार्षिक आयात 1969-70 और 1973-74 के दौरान कम होकर 96 करोड़ रुपए हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं की कीमतों में व द्विं आयात 647 करोड़ रुपए हो गया। 1980-81 और 1984-85 के दौरान, लौह तथा अलौह धातुओं का औसत वार्षिक आयात बढ़कर 1,448 करोड़ रुपए हो गया। हमारे इस्पात बाजारों के क्षमता उपयोग में उन्नति द्वारा लौह तथा इस्पात के आयात को कम किया जा सकता है। यह वस्तुतः बहुत ही निराशाजनक बात है कि 1985-86 से 1989-90 के दौरान औसत 2,450 करोड़ रुपए के धातुओं का वार्षिक आयात किया गया। जबकि 1990-91 से 1999-00 के दौरान इनका औसत आयात 7,003 करोड़ रुपए था। 1999-00 में 12,038 करोड़ रुपए के मूल्य की धातुओं का आयात किया गया।
 - 6. हीरे तथा कीमती पत्थर**— (1974-75 और 1979-80) की अवधि के दौरान हीरों तथा कीमती पत्थरों के आयात की वार्षिक औसत 244 करोड़ रुपए थी जो 1985-86 से 1989-90 की अवधि के दौरान बढ़कर 2,405 करोड़ रुपए हो गई। इस आयात का एक भाग तो भारत में सम द्व वर्गों की माँग तुष्ट करने के लिए किया जाता है और एक भाग इसके हस्तशिल्प निर्यात उद्योग के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि 1985-86 और 1989-90 के दौरान हीरों एवं कीमती पत्थरों का औसत वार्षिक निर्यात 2,648 करोड़ रुपए था। 1999-00 के दौरान 23,556 करोड़ रुपए के आयात के विरुद्ध इनका निर्यात 32,509

रुपया था।

7. **रसायन तथा औषधियाँ (Chemicals and Medicines)**— भारत में रसायनों तथा औषधियों के आयात में व द्वितीय है। इन वस्तुओं का औसत वार्षिक पहली तथा दूसरी योजना में 44 करोड़ रुपए प्रतिवर्ष का जो 1969-70 और 1973-74 के दौरान बढ़कर 113 करोड़ रुपए हो गया यह 1974-75 और 1979-80 के दौरान बढ़कर 254 करोड़ रुपए हो गया। 1985-86 और 1989-90 के दौरान इनका औसत वार्षिक आयात बढ़कर 1,868 करोड़ रुपए हो गया। 1999-00 में यह और बढ़कर 13,938 करोड़ रुपए हो गया।
8. **खाद्यान्न (Foodgrains)**— विभाजन के बाद खाद्यान्नों की देश में बहुत कमी हो गई थी। इस कमी को आयात द्वारा पूरा किया जाता है। खाद्यान्न अमेरिका, आस्ट्रेलिया, कनाडा, बर्मा तथा अर्जेन्टाइना से मंगवाए जाते हैं। सन् 1975 में 1,058 करोड़ रुपए के खाद्यान्न आयात किए गये परन्तु हरित क्रान्ति के कारण 1978, 1979 तथा 1980 में खाद्यान्न के आयात बहुत कम हो गए। 2000-2001 में केवल 90 करोड़ रुपए के खाद्यान्न विदेशों से आयात किए गए।
9. **काजू (Cashewnuts)**— भारत में विदेशों से कच्चा माल आयात किया गया है। इससे तैयार करके पुनः निर्यात कर दिया जाता है। वर्ष 1970-71 में 29 करोड़ रुपए के काजू आयात किये गए। 2000-2001 में काजू के आयात बढ़कर 962 करोड़ रुपये हो गए।
10. **खाद्य तेल (Edible Oil)**— भारत में पिछले कुछ वर्षों में खाने के तेलों तथा तिलहन के आयात काफी बढ़ गए हैं। सन् 1975-76 में केवल 14 करोड़ रुपये के तेलों का आयात किया गया था। परन्तु 2000-2001 में इनके आयात बढ़कर 6,093 करोड़ रुपए के हो गए। तेलों का आयात अधिकतर यू.एस.ए. कनाडा आदि से किया जाता है।

मुख्य निर्यात (Main Exports)

स्वतंत्रता के पश्चात् देश के निर्यात को बढ़ाने के विशेष प्रयत्न किए गए हैं। नौरी योजना के प्रथम वर्ष 1997-98 में निर्यातों में केवल 6.3 प्रतिशत की व द्वितीय। भारत के निर्यातों का चार भागों में वर्गीकरण किया जाता है। इनका कुल मूल्य तथा कुल निर्यात में प्रतिशत भाग निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाता है।

तालिका 2

India's Principal Exports and their Percentage Share

Commodity	1970-71		2000-2001	
	(Rs.Crores)	Percentage in Total	Rs.	Percentage
	Exports	(Crores)	Share in	Total Exports
(1) Agricultural and Allied Products	487	31.7	28,535	12.5
(2) Minerals	164	10.7	4,139	2.6
(3) Manufactured Goods and other (Unclassified)	872	56.8	1,60,771	80.0
(4) Mineral Fuels and other	13	0.8	10,126	4.9
Total Exports	1,536	100	2,03,571	100

उपरोक्त तालिका से ज्ञात होता है कि 1970-71 में भारत का क षि पदार्थों में निर्यात में 31.7 प्रतिशत मात्र था परन्तु अब यह कम होकर 2000-2001 में 12.5 प्रतिशत रह गया। वर्ष 1970-71 में खनिज

पदार्थों का कुल निर्यात में भाग 10.7 प्रतिशत था परन्तु अब यह कम होकर 2.6 प्रतिशत रह गया। वर्ष 1970-71 में कुल निर्यात में तैयार माल का भाग 56.8 प्रतिशत था अब यह बढ़कर 80.5 प्रतिशत हो गया। खनिज तेलों एवं अन्य का कुल निर्यात में भाग 4.9 प्रतिशत हो गया। भारत के कुछ प्रमुख निर्यात इस प्रकार हैं:

- 1. पटसन का सामान (Jute Products)**— भारत के निर्यातों में पटसन के सामान का स्थान सबसे पहला था। परन्तु 1999-2000 में यह 30वाँ हो गया। यह भारत के लिए डालर कमाने का प्रमुख साधन था। पटसन की बनी वस्तुएं अधिकतर अमेरिका, अर्जेन्टीना, आस्ट्रेलिया, रूस, ब्रिटेन तथा कनाडा को जाती हैं। 2000-2001 में 933 करोड़ रुपए के सामान का निर्यात किया गया। पटसन के निर्यात कम होने का मुख्य कारण एक तो बंगलादेश, थाईलैण्ड आदि देशों से प्रतियोगिता तथा दूसरा पटसन के सामान के स्थान पर अन्य वस्तुओं का प्रयोग किया जाना है।
- 2. मसाले (Spices)**— भारत से कई प्रकार के मसाले जैसे काली मिर्च आदि का निर्यात किया जाता है। यह निर्यात इंग्लैण्ड, जर्मनी, इटली, फ्रांस, ईरान, सऊदी अरब, अमेरिका आदि देशों को किया जाता है। 2000-2001 में 1,619 करोड़ रुपए के मसाले विदेशों को भेजे गए।
- 3. चमड़ा तथा चमड़े का सामान (Leather and Leather Products)**— भारत में चमड़ा, जूते तथा चमड़े का दूसरा सामान विदेशों को भेजा जाता है। इसके मुख्य ग्राहक इंग्लैण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी व रूस आदि देश हैं। 2000-2001 में 8,914 करोड़ रुपये के मूल्य का चमड़े का सामान विदेशों को भेजा गया। जबकि 1970-71 में केवल 80 करोड़ रुपये का चमड़े का सामान विदेशों को भेजा गया।
- 4. खल (Oil Cakes)**— भारत से खल भी काफी मात्रा में निर्यात की जाती है। इसके मुख्य ग्राहक जापान, नीदरलैंड तथा ब्रिटेन आदि देश हैं। 2000-2001 में 2,045 करोड़ रुपये की खल का निर्यात किया गया। जबकि 1970-71 में 55 करोड़ रुपये की खल का निर्यात किया गया। खल के निर्यात में होने वाली व द्विंद्व वास्तव में मूल्य के बढ़ जाने के कारण हैं।
- 5. तम्बाकू (Tobacco)**— भारत से तम्बाकू भी काफी निर्यात होता है। भारत से तम्बाकू मुख्य रूप से इंग्लैण्ड, जापान, रूस तथा नेपाल को निर्यात किया जाता है। 1970-71 में भारत से 491 लाख किलोग्राम तम्बाकू जिसकी कीमत 33 करोड़ रुपये की थी निर्यात किया गया। 2000-2001 में तम्बाकू के निर्यात का मूल्य 871 करोड़ रुपये हो गया।
- 6. जवाहरात (Gems and Jewellery)**— भारत से किये जाने वाले निर्यातों में सबसे अधिक व द्विंद्व जवाहरात के निर्यात में हुई है। भारत इनका कच्चा माल विदेशों से मैंगवाता है तथा इन्हें तैयार करके विदेशों को ही निर्यात कर देता है। इसका कारण यह है कि भारत में श्रम बहुत सस्ता है। वर्ष 1970-71 में केवल 45 करोड़ रुपये के जवाहरात निर्यात किए गए। भारत से हांगकांग, यू० एस० ए०, बैल्जियम आदि देशों को कई प्रकार के जवाहरात निर्यात किए जाते हैं। वर्ष 2000-2001 में 33,734 करोड़ रुपये के जवाहरात निर्यात किए गए।
- 7. काजू (Cashew, Kernels)**— काजू के निर्यात से भारत को काफी लाभ प्राप्त होता है। भारत से काजू, रूस, अमेरिका तथा जापान आदि देशों को भेजे जाते हैं। 2000-2001 में 1,833 करोड़ रुपये के काजू निर्यात किये गये।

मुख्य वस्तुओं का निर्यात

8. **चाय एवं कॉफी-** चाय भारत के निर्यात की महत्वपूर्ण मद है। 1951-52 से 1960-61 के काल में हमारा चाय का औसत वार्षिक निर्यात 119 करोड़ था जो दूसरी योजना के दौरान ओर अधिक होकर 132 करोड़ रूपए हो गया। तीसरी योजना के दौरान चाय के निर्यात में थोड़ी गिरावट आई परन्तु चौथी योजना के दौरान चाय का औसत वार्षिक निर्यात 1,132 करोड़ रूपये था परन्तु यह 1999-00 में बढ़ कर 1,784 करोड़ रूपए हो गया। हमारी चाय के प्रमुख ग्राहक हैं- यू0के0, यू0एस0ए0, कनाडा, आस्ट्रेलिया, रूस, मिश्र और जर्मनी। 1990-00 में कॉफी का निर्यात 1,435 करोड़ रूपए हो गया।
9. **रुई का सूत और निर्मित वस्तुएँ (Cotton Yarn and Manufactures)-** प्रथम एवं द्वितीय योजना काल में सूत तथा कपड़े का औसत वार्षिक निर्यात 81 करोड़ रूपए था किन्तु तीसरी योजना के दौरान यह गिरकर 55 करोड़ प्रतिवर्ष हो गया। भारतीय सूती वस्त्र उद्योग में उत्पादन की लागत अपेक्षाकृत अधिक होने के कारण, भारत के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में सूत कपड़ा बेचना कठिन हो जाता है। वास्तव में अधिक लागत के दो मुख्य कारण हैं अधिक श्रम लागत (Labour cost) और पुरानी मशीनरी का प्रयोग। अवमूल्यन के पश्चात् कपड़े के निर्यात में व द्वितीय तथा 1970-71 और 1999-00 के दौरान सूत तथा कपड़े का निर्यात 75 करोड़ रूपए से बढ़कर 18,151 करोड़ रूपए हो गया।
10. **सिले-सिलाए कपड़े (Readymade garments)-** हाल ही के वर्षों में सिले-सिलाए कपड़ों के निर्यात में उन्नति हुई है। 1970-71 में इनका निर्यात केवल 9 करोड़ रूपए था परन्तु 1980-81 में यह बढ़कर 378 करोड़ रूपये हो गया इसमें लगातार तेज उन्नति हुई है और 1999-00 के दौरान सिले-सिलाए कपड़े का निर्यात बढ़कर 20,648 करोड़ रूपए के रिकार्ड स्तर पर पहुँच गया।
11. **चमड़ा तथा निर्मित वस्तुएँ-** भारतीय निर्यात की एक पारम्परिक मद कच्ची खालें तथा चमड़ा है। परन्तु हाल ही के वर्षों में इस मद में कमाए हुए चमड़े का अनुपात बढ़ गया है। यह स्वरूप प्रवति है। 1980-81 के दौरान भारत को इस मद से लगभग 377 करोड़ रूपए प्रति वर्ष प्राप्त हुए। 1999-00 के दौरान इस मद का निर्यात और बढ़कर 6,891 करोड़ रूपए हो गया।
12. **लौह अयस्क (Iron ore)-** भारत कच्चे लोहे का निर्यात करता है। 1960-61 के दौरान इसका निर्यात मूल्य लगभग 27 करोड़ रूपये था किन्तु इसमें लगातार व द्वितीय चली आई है और 1980-81 के दौरान निर्यात 303 करोड़ रूपए था। 1999-00 में कच्चे लोहे का निर्यात 1,175 करोड़ रूपये था यह अस्वरूप प्रवति है। भारत को अपने निर्यात में इस्पात के भाग को बढ़ाना चाहिए और कच्चे लोहे का प्रयोग अपने स्टील प्लान्टों में करना चाहिए।
13. **काजू (Cashew, Kernels)-** हाल के वर्षों में काजू का हमारे निर्यात में महत्व बढ़ा है। 1970-71 के दौरान काजू का निर्यात 52 करोड़ रूपए था। 1999-00 में भारत द्वारा 2,461 करोड़ रूपए का काजू निर्यात किया गया।
14. **हस्तशिल्प (Handicrafts)-** समय के साथ भारतीय हस्तशिल्पों का निर्यात में महत्व बढ़ता जा रहा है जबकि 1970-71 में यह 70 करोड़ रूपए के निम्न स्तर पर था, 1999-00 में यह

बढ़कर 37,568 करोड़ रुपए हो गया इनमें हीरों तथा जवाहरात का निर्यात 32,509 करोड़ रुपए का और कालीनों एवं कला की वस्तुओं का 5,058 करोड़ रुपए हो गया।

15. **इंजीनियरिंग वस्तुएँ (Engineering Goods)-** इस वर्ग में लौह एवं इस्पात, इलैक्ट्रॉनिक वस्तुएँ और साफ्टवेयर (Software) शामिल किए जाते हैं। 1980-81 तक भी इस वर्ग का निर्यात केवल 827 करोड़ रुपए मात्र ही था परन्तु 1990-91 में इनका निर्यात बढ़कर 3,872 करोड़ रुपए हो गया। 1999-00 में इनका निर्यात तीव्र गति से बढ़कर 22,325 करोड़ रुपए हो गया जो कि हमारे कुल निर्यात का 13.9 प्रतिशत है। यह एक प्रशंसनीय उपलब्धि है।

भारतीय विदेशी व्यापार की विशेषताएँ (Implication of Indian International Trade)

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत के विदेशी व्यापार की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:-

1. **कुल राष्ट्रीय आय का घटता हुआ प्रतिशत (Increasing Share of Gross National Income):** भारत के विदेशी व्यापार का कुल राष्ट्रीय आय में काफी महत्व है। 1950-51 में भारत का विदेशी व्यापार (आयात+निर्यात) शुद्ध राष्ट्रीय आय का 12 प्रतिशत था, 2000-2001 में यह बढ़कर शुद्ध राष्ट्रीय आय का 26 प्रतिशत हो गया है।
2. **संसार के विदेशी व्यापार में घटता हुआ भाग (Less Percentage of World Trade):** संसार के विदेशी व्यापार में भारत के विदेशी व्यापार का भाग घटता जा रहा है। 1950-51 में संसार के कुल आयात व्यापार में भारत का भाग 1.8 प्रतिशत था तथा निर्यात व्यापार में 2 प्रतिशत था। सन् 2000-2001 में आयात व्यापार में भारत का भाग कम होकर 0.79 प्रतिशत था तथा निर्यात व्यापार में 0.8 प्रतिशत हो गया है।
3. **समुद्री व्यापार (Oceanic Trade):** भारत का अधिकांश व्यापार समुद्री मार्ग से होता है। भारत के पड़ोसी देशों जैसे नेपाल, अफगानिस्तान, बर्मा, श्रीलंका, आदि से व्यापारिक सम्बन्ध काफी कम है। इसलिये भारत का 68 प्रतिशत विदेशी व्यापार समुद्री व्यापार है।
4. **थोड़े बन्दरगाहों पर निर्भर (Dependence on a Few Ports):** भारत का विदेशी विशेष रूप से मुम्बई, कोलकाता और चेन्नई के बन्दरगाहों द्वारा होता है। इसके फलस्वरूप इन बन्दरगाहों पर काफी दबाव रहता है। अब भारत सरकार ने कांडला, कोचीन, विशाखापट्टनम आदि बन्दरगाहों का विकास किया है।
5. **व्यापार के परिणाम तथा मूल्य में वृद्धि (Increase in Volume and Value of Trade):** स्वतन्त्रता के बाद भारत के विदेशी व्यापार का परिणाम तथा मूल्य बढ़ गए हैं। भारत अब पहले से कई गुण अधिक मात्रा तथा मूल्य की वस्तुओं का आयात तथा निर्यात करता है। सन् 1939 में आयात 152 करोड़ रुपए के तथा निर्यात 169 रुपए के हुए। भारत के विदेशी व्यापार का कुल मूल्य 321 करोड़ रुपये का था। स्वतन्त्रता के समय 1948-49 में कुल विदेशी व्यापार 792 करोड़ रुपये का था। 2000-2001 में यह बढ़ कर 4,34,444 करोड़ रुपये का हो गया। इस वर्ष 2,03,571 करोड़ रुपये के मूल्य का निर्यात तथा 2,30,873 करोड़ रुपये का आयात किया गया।

6. **निर्यात व्यापार के स्वरूप में परिवर्तन (Change in the Composition of Exports):** स्वतन्त्रता के बाद भारत के निर्यात व्यापार के स्वरूप में भी परिवर्तन आया है। स्वतन्त्रता से पूर्व भारत के वस्तुओं तथा कच्चा माल जैसे पटसन, कपास, चाय, तिलहन, चमड़ा, अनाज, काजू तथा खनिज पदार्थों का निर्यात करता था। बहुत सारा तैयार माल भी निर्यात किया जाता था। अब भारत तैयार माल जैसे मशीनें, सिलें-सिलाएं कपड़े, हीरे जवाहरात, चाय, जूट का तैयार सामान, काजू, इलैक्ट्रोनिक्स के समान आदि का भी निर्यात काफी मात्रा में करने लगा है।
7. **आयात व्यापार के स्वरूप में परिवर्तन (Change in the Composition of Imports):** स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत के आयात व्यापार के स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ है। स्वतन्त्रता से पहले भारत अधिकतर उपभोग की वस्तुओं जैसे दवाइयां, कपड़ा, मोटर गाड़ियां, बिजली का समान, लोहा, इस्पात आदि का आयात करता था। परन्तु अब पैट्रोल, मशीनें, रसायन, खाद, तिलहन, कच्चे माल, इस्पात, तेल आदि का आयात अधिक मात्रा में किया जाता है।
8. **विदेशी व्यापार की दिशा (Direction of Foreign Trade):** किसी देश के विदेशी व्यापार की दिशा से हमारा अभिप्राय उन देशों से होता है जिनके साथ व्यापार किया जाता है। विदेश व्यापार की दिशा में निम्नलिखित मुख्य परिवर्तन हुए: (i) आजादी से पूर्व 1938 में भारत का सबसे अधिक विदेशी व्यापार इंग्लैंड से होता था। भारत के निर्यात व्यापार का 34 प्रतिशत तथा आयात व्यापार का 31 प्रतिशत भाग इंग्लैंड से होता था। परन्तु स्वतन्त्रता के बाद इसमें काफी कमी आ गई। 1998-99 में भारत के निर्यात व्यापार में इंग्लैंड का भाग 5.7 प्रतिशत तथा आयात में 6.1 प्रतिशत था। यूरोपियन यूनियन (European Union) का भारत के निर्यात तथा आयात में 23.6 प्रतिशत था। भारत के विदेशी व्यापार में पैट्रोल निर्यात करने वाले देशों (OPEC) जैसे ईरान, इराक, सऊदी अरब आदि का महत्व भी पहले से बढ़ गया है। सन् 1998-99 में इन देशों का भारत के आयात व्यापार में भाग 18.7 प्रतिशत था तथा निर्यात व्यापार में 10.5 प्रतिशत था। यूएसए० का आयात में भारत 8.9 प्रतिशत तथा निर्यात में 19.5 प्रतिशत है। भारत का विदेशी व्यापार रूस, हंगरी, पोलैण्ड तथा दूसरे कई देशों से बढ़ गया है। सन् 1998-99 में रूप का भारत के आयात व्यापार में भाग 1.3 प्रतिशत था तथा निर्यात व्यापार में 2.1 प्रतिशत था। भारत के विदेशी व्यापार में जापान का महत्व काफी बढ़ गया है। 1998-99 में निर्यात व्यापार में जापान का भाग 4.9 प्रतिशत था। जापान से किये जाने वाले आयात 5.7 प्रतिशत हो गया।
9. **व्यापार शेष (Balance of Trade):** स्वतन्त्रता से पूर्व भारत का व्यापार शेष अनुकूल रहा। परन्तु स्वतन्त्रता के बाद यह प्रतिकूल (Unfavourable) हो गया अर्थात् आयात बढ़ गये एवं निर्यात कम हो गये। सन् 1994-45 में व्यापार शेष का घाटा 27,307 करोड़ रुपये का था। योजनाओं की अवधि में केवल 1972-73 तथा 1976-77 के दो वर्षों में ही भारत का व्यापार शेष अनुकूल रहा है।
10. **निर्भर व्यापार (Dependent Trade):** भारत का विदेशी व्यापार अधिकतर विदेशी कम्पनियों, बीमा कम्पनियों तथा बैंकों पर निर्भर रहता है। स्वतन्त्रता के बाद सरकार ने इस और विशेष ध्यान देना शुरू किया है। पंचवर्षीय योजनाओं में व्यापारिक समुद्री जहाजों का भारत में ही

निर्माण शुरू किया गया है। भारतीय बैंकों तथा बीमा कम्पनियों ने भी इस ओर विशेष ध्यान देना आरम्भ कर दिया है।

11. **विदेशी व्यापार पर सरकार का नियन्त्रण (State Control on Foreign Trade):** भारत सरकार विदेशी व्यापार पर पूर्ण नियन्त्रण रखती है। सरकार की विदेशी व्यापार की नीति का प्रमुख उद्देश्य निर्यात को बढ़ावा देना है। अनावश्यक वस्तुओं का आयात बिल्कुल बन्द करना है। निर्यात को बढ़ाने के लिए कई संस्थाएँ स्थापित की गई हैं जैसे:- (i) व्यापार बोर्ड (Board of Trade) (ii) निर्यात विकास समितियाँ (Export Promotion Councils) (iii) निर्यात निरीक्षण सलाहकार समितियाँ (Export Inspection Advisory Councils) (iv) निर्यात साख तथा गारन्टी निगम (Export Credit and Guarantee Corporation) (v) प्रदर्शनी निर्देशक (Director of Exhibition) आदि।

अध्याय-32

वर्तमान आयात व निर्यात नीतियां तथा भविष्य का प्रोग्राम (Recent Import and Export Policies and Agenda for Future)

बाह्य क्षेत्र की समस्याओं को ध्यान में रखते हुए 31 मार्च 1993 को पहले से निर्धारित की गई 1992-97 की आयात-निर्यात नीति में महत्वपूर्ण संशोधन किए गए। इन संशोधनों में उन वस्तुओं व सेवाओं के निर्यात पर बल दिया गया जिनमें भारत को तुलनात्मक लाभ प्राप्त था।

कृषि व इससे सम्बन्धित क्षेत्रों की निर्यात करनेवाली इकाइयों के आयातों को आयातकर मुक्त दिए गए बशर्ते ये क्षेत्र अपने उत्पादन का 50 प्रतिशत निर्यात करते हों। पूँजीगत वस्तुओं की निर्यात प्रोत्साहन योजना (Export Promotion Capital Goods Scheme or EPCG) को कृषि व सहायक क्रियाओं पर भी लागू कर दिया गया। पूँजीगत वस्तुओं (Capital Goods) की परिभाषा विस्तृत करके इनमें कृषि, खनन तथा सेवाओं को भी सम्मिलित कर लिया गया ताकि ये इकाइयाँ उपकरणों को कम आयात कर या आयातकर मुक्त दरों पर आयात कर सकें। इतना ही नहीं निर्यातों की निषिद्ध सूची में से 46 मदों को हटा दिया गया।

भारत के आयात प्रशुल्क बहुत ऊँचे होने के कारण उनको कम करने की नीति अपनाई गई। अतः 1993-94 के बजट में अधिकतम आयात प्रशुल्क घटाकर 85 % कर दिया गया। इसी प्रकार व्यक्तिगत सामान (Personal luggage) पर आयात शुल्क 255% से घटा कर 150 प्रतिशत कर दिया गया। बाद में इसको घटा कर 100% तथा इससे भी कम कर दिया गया।

इलेक्ट्रॉनिक हार्डवेयर प्रौद्योगिकी पार्क (EHTP) योजना भी प्रारम्भ की गई जिसमें इलेक्ट्रॉनिक क्षेत्र में शत-प्रतिशत विदेशी निवेश की अनुमति होगी तथा इस क्षेत्र को इ०ओ०य०० (EOU) ई०पी०जेड० (EPZ) के समकक्ष लाभ प्राप्त होंगे।

अतः स्पष्ट है कि 1993-94 के संशोधनों द्वारा निर्यात-आयात नीति को निर्यात बढ़ानेवाली नीति बनाई गई। इसके बाद 30 मार्च 1994 को तत्कालीन वाणिज्य मंत्री श्री प्रणव मुखर्जी ने आयात-निर्यात नीति को और अधिक उदार बनाने की घोषणा की जो तत्काल प्रभाव से लागू हो गई थी। नीति में किए गए इस प्रकार के संशोधनों द्वारा निषिद्ध सूची (negative list) को घटा कर और छोटा कर दिया गया।

इसके अतिरिक्त संशोधन नीति में निर्यात घरानों का स्टेटस निर्धारित करने में सेवा क्षेत्र के निर्यातों

को भी शामिल करने का निर्णय लिया गया। शुल्क छूट योजना को और अधिक उदार बनाकर इसमें 3383 निर्यात-मदों को आगत-निर्गत (Input-output) मानक निश्चित किए गए जो मार्च 1993 तक केवल 2200 मदों के लिए ही थे।

इसके साथ ही पूँजीगत माल के निर्यातों को प्रोत्साहित करने के लिए लाइसेंस प्रदान करने के कार्य का विकन्द्रीकरण कर दिया गया।

इससे स्पष्ट है कि उपर्युक्त संशोधनों का उद्देश्य आयात-निर्यात नीति को और अधिक उदार बनाना था तथा निर्यातों को बढ़ावा देना था।

द्वितीय पंचवर्षीय आयात-निर्यात नीति (1997-2002) **(Second Five Yearly Export-Import Policy: 1997-2002)**

भारत सरकार ने 31 मार्च 1997 को 1997-2002 की अवधि के लिए नई आयात-निर्यात नीति (EXIM Policy) की घोषणा की। इस नीति के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार हैं:

1. बढ़ते हुए विश्व व्यापार का लाभ उठाकर भारत की अर्थव्यवस्था को और अधिक सशक्त बनाने के प्रयास तेज करना।
2. दीर्घकालीन आर्थिक विकास की दर को बढ़ाने के लिए आवश्यक कच्चे माल, अर्द्ध-निर्मित माल, कल-पुर्जों एवं पूँजीगत माल उपलब्ध कराना।
3. भारतीय कृषि, उद्योग एवं सेवा क्षेत्र की प्रतिस्पर्द्धात्मक शक्ति में व द्विं करने तथा रोजगार के नये अवसर बढ़ाने के लिए प्रयास करना।
4. भारतीय उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर उच्च गुणवत्ता की वस्तुओं को उपलब्ध कराना।

निर्यात आयात नीति: 2002-2007 **(Export-Import Policy: 2002-2007)**

दसवीं पंचवर्षीय योजना के अन्त तक (मार्च 2007) तक देश के कुल निर्यात को 80 अरब डॉलर के सलाना लक्ष्य तक पहुंचाने तथा विश्व व्यापार में भारत की हिस्सेदारी को 0.67 प्रतिशत के मौजूदा स्तर से बढ़ाकर 1.0 प्रतिशत करने के नए प्रावधानों एवं प्रोत्साहनों के साथ 2002-07 के लिए नई आयात-निर्यात नीति (Exim Policy) की घोषणा केन्द्रीय वाणिज्य एवं उद्योग मंत्री मुरासोली मारन ने 31 मार्च, 2002 को की। निर्यातों पर से परिमाणात्मक प्रतिबन्धों की समाप्ति, कृषिगत निर्यातों को विशेष प्रोत्साहन, विशेष आर्थिक क्षेत्रों (SEZs) में सुविधाओं का विस्तार, नए आकर्षणों के साथ ड्यूटी एंटाइटेलमेंट पास बुक (DEPB) व एक्सपोर्ट प्रमोशन कैफिटल गुड्स कीपत (EPCG) को जारी रखना, हार्डवेयर क्षेत्र के निर्यात सम्बद्धन के लिए नया पैकेज, कॉटेज सेक्टर एवं हस्तशिल्प पर विशेष फोकस, तथा विस्त त मार्केट एक्सेस इनीशिएटिव (MAI) योजना तथा बाजार विस्तार हेतु अफ्रीका पर फोकस आदि इस नई एकिजम पॉलिसी की प्रमुख विशेषताएं हैं, देश के निर्यातों को 46 अरब डॉलर के मौजूदा स्तर से 2006-07 तक 80 अरब डॉलर के स्तर तक पहुंचाने के लिए निर्यातों में 11.9 प्रतिशत वार्षिक व द्विं का लक्ष्य इसमें अन्तर्निहित है।

नई एकिजम नीति में कुछेक संवेदनशील वस्तुओं (प्याज, नाइजर सीड, जूट, लौआ अयस्क व कुछेक रसायन) को छोड़कर कृषिगत उत्पादों सहित वस्तुओं के निर्यात पर से मात्रात्मक

प्रतिबन्ध हटा लिए गए हैं। कृषिगत निर्यातों को विशेष प्रोत्साहन देते हुए रुपया ऋण पुनर्भुगतान (Rupee Debt Repayment) योजना के तहत् रूस को किए जाने वाले गेहूं व गेहूं उत्पाद, मोटे अनाज, काजू, मूँगफली के तेल व मक्खन आदि के निर्यात को पंजीकरण की आवश्यता न्यूनतम निर्यात मूल्य व राज्य व्यापार एजेंसियों के माध्यम से ही निर्यात की अनुमति को बन्धनों से मुक्त कर दिया गया है, एक अन्य कदम के तहत् ताजा एवं प्रसंस्कृत सब्जियों व फनलों, फूलों, डेयरी उत्पादों तथा गेहूं व चावल के उत्पादों को निर्यात के लिए परिवहन सब्सिडी प्रदान करने की घोषणा नई एकिजम नीति में की गई है, गेहूं व चावल के निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए विश्व व्यापार संगठन (WTO) के मानकों के अन्तर्गत ही एक नई निर्यात योजना का कार्यरूप तैयार किया जा रहा है, इस सबके साथ अब तक स्वीकृत 20 कृषि निर्यात क्षेत्रों (Agriculture Export Zones) की स्थापना से कृषि क्षेत्र के निर्यात में भारी व द्विकी अपेक्षा एकिजम नीति में की गई है।

विशेष आर्थिक क्षेत्रों (SEZs) की योजना को 'Best of our Dream Projects' बताते हुए इनमें स्थापित इकाइयों को और अधिक सुविधाएं प्रदान करने की घोषणा भी इस नई नीति में की गई है। इन क्षेत्रों को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्पर्द्धी बनाने के लिए इनमें स्थापित बैंक-शाखाओं का 'आवरसीज बैंकिंग यूनिट' (OBU) की तरह माना जाएगा तथा इस रूप में नकद आरक्षण अनुपात (CRR), सांविधिक तरलता अनुपात (SLR) व प्राथमिकता क्षेत्र के ऋण दायित्व (Landing Liability to Priority Sector) आदि के बन्धनों से यह शाखाएं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की नीची ब्याज दरों पर ही ऋण क्षेत्र में स्थापित इकाइयों को उपलब्ध करा सकेंगी जिससे इन क्षेत्रों में स्वदेशी के साथ-साथ विदेशी निवेश को भी बढ़ावा मिलेगा। इन क्षेत्रों में स्थापित इकाइयों को सीमा शुल्क व उत्पाद शुल्क की छूटों के साथ-साथ आयकर में छूट भी अब प्रदान की जाएगी। ढांचागत व नीतिगत सुविधाओं के मामले में भारत के विशेष आर्थिक क्षेत्र चीन के ऐसे क्षेत्रों के तुल्य (केवल श्रम सम्बन्धी प्रावधानों को छोड़कर) ही बना देने की बात नई एकिजम नीति में कही गई है।

निर्यातों को बढ़ावा देने के लिए पहले से लागू निर्यात सम्बद्धन पूँजीगत सामान (EPCG) योजना को और अधिक आकर्षक व लोचदार बनाते हुए इसके तहत् निर्यात दायित्व (Export Obligations) को पूरा करने की अवधि को ऐसे मामलों में 12 वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया है। जिनमें ई०पी०सी०जी० आयात 100 करोड़ रुपए अथवा अधिक के हों। इसके साथ ही निर्यातों को बढ़ावा देने वाली अन्य योजनाओं-ड्यूटी संटाइटिलमेंट पास बुक (DEPB) योजना अग्रिम लाइसेंस व निर्यात सम्बद्धत कर्ज गारंटी योजना को भी अधिक आकर्षक बनाया गया है।

देश के निर्यातों में लघु उद्योग क्षेत्र की 50 प्रतिशत भागीदारी के परिप्रेक्ष्य में कॉटेज सेक्टर व हैंडिक्राफ्ट्स पर विशेष फोकस (Special Focus on Cottage Sector and Handicrafts) के तहत् खादी एवं ग्रामोद्योग (KVIC) के अन्तर्गत हस्तशिल्प निर्यात को बढ़ावा देने के लिए 5 करोड़ रुपए का कोष निर्धारित किया गया है। इसके अतिरिक्त हस्तशिल्प निर्यात की इकाइयां 'मार्केट एक्सेस इनीशिएटिव' (MAI) योजना के तहत् उपलब्ध कोष का लाभ भी उठा सकेंगी।

होजिएसी के निर्यात के लिए तिरुपुर, ऊनी वस्त्रों के निर्यात के लिए लुधियाना व कम्बलों के निर्यात के लिए पानीपत की भूमिका को देखते हुए ऐसे इंडस्ट्रियल क्लरस्टर्स के निर्यातकों के लिए आकर्षक

सुविधाओं की घोषणा नई एकिजम नीति में की गई है। इसके अतिरिक्त खुर्जा से पॉटरी निर्यात बढ़ाने के लिए एक अध्ययन कराने की घोषणा इस नीति के तहत् की गई है।

सॉफ्टवेयर क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भारत की अच्छी पहचान बनने के बाद अब इलेक्ट्रॉनिक हार्डवेयर के क्षेत्र में भी मौजूदगी दर्ज कराने के लिए एक विशेष पैकेज इस क्षेत्र के लिए घोषित किया गया है। इसके तहत् 'इलेक्ट्रॉनिक हार्डवेयर के क्षेत्र में भी मौजूदगी दर्ज कराने के लिए एक विशेष पैकेज इस क्षेत्र के लिए घोषित किया गया है। इसके तहत् 'इलेक्ट्रॉनिक हार्डवेयर टेक्नोलॉजी पार्क' (EHTP) योजना में ऐसे संशोधन किए जा रहे हैं, ताकि इस क्षेत्र की इकाइयों को विश्व व्यापार संगठन (WTO) के प्रावधानों के तहत् ही शून्य प्रशुल्क व अन्य लाभ उपलब्ध हो सकें। इसी प्रकार रत्नों एवं आभूषणों के निर्यात को बढ़ाने के लिए पैकेज की घोषणा भी इसमें की गई है।

देश के कुल निर्यातों में व द्विंदी के लिए नई एकिजम नीति में अफ्रीका को निर्यात बढ़ाने की बात कही गई है, 'फोकस अफ्रीका' की इस रणनीति के तहत् पहले चरण में सात देशों-नाइजीरिया, दक्षिण अफ्रीका, मॉरीशस, कीनिया, इथोपिया, तंजानिया व घाना को शामिल किया गया है, इन देशों में निर्यात के लिए जिन जिंसों की पहचान की गई उनमें कपास व धागा, कपड़ा व सिलाए वस्त्र, दवाएं, मशीनी उपकरण तथा दूरसंचार व सूचना प्रौद्योगिकी उपकरण शामिल हैं।

एकिजम नीति की प्रमुख विशेषताएं

1. कुछेक संवेदनशील उत्पादों को छोड़कर शेष सभी उत्पादों के निर्यातों पर ही मात्रात्मक प्रतिबन्धों की समाप्ति।
2. प्रसंस्कृत फलों व सब्जियों, पोल्ट्री व डेयरी उत्पादों तथा गेहूं व चावल उत्पादों को ट्रांसपोर्ट सब्सिडी।
3. कृषिगत निर्यातों को विशेष प्रोत्साहन।
4. 'विशेष आर्थिक क्षेत्रों' में रियायतों में व द्विंदी, ऐसे क्षेत्रों में समुद्रपारीय बैंकिंग (Overseas Banking) के तुल्य सुविधाएं।
5. एक्सपोर्ट प्रमोशन कैपिटल गुड्स (EPCG) व ड्यूटी एंटाइलेटमेंट पास ब्रुक योजनाएं आकर्षक बनाई गई।
6. कॉटेज सेक्टर व हैंडिक्राफ्ट्स पर विशेष फोकस।
7. 'औद्योगिक कलस्टर्ज' से निर्यात सम्बद्धन हेतु अतिरिक्त सुविधाएं।
8. इलेक्ट्रॉनिक हार्डवेयर तथा रत्नों एवं आभूषणों के निर्यात सम्बद्धन हेतु विशेष पैकेज।
9. निर्यात बाजार के विस्तार हेतु अफ्रीका पर फोकस।
10. 2002-07 की अवधि में देश के वार्षिक निर्यात स्तर को 46 अरब डॉलर से बढ़ाकर 80 अरब डॉलर करने का लक्ष्य। इसके लिए नियातों में 11.9 प्रतिशत प्रतिवर्ष की औसत व द्व का लक्ष्य।
11. विश्व व्यापार में भारत की हिस्सेदारी 0.67 प्रतिशत के मौजूदा स्तर से बढ़ाकर 1.0 प्रतिशत (2007 तक) करने का लक्ष्य।

वर्ष 2003-04 के लिए संशोधित आयात-निर्यात नीति

वित्तीय वर्ष 2003-04 के लिए आयात-निर्यात नीति (EXIM Policy) की घोषणा वाणिज्य एवं उद्योग मंत्री ने 1 अप्रैल, 2003 को की है। 2002-07 की अवधि के लिए पूर्व घोषित आयात-निर्यात नीति के दायरे में ही घोषित इस नीति में सन् 2007 तक अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भारत की हिस्सेदारी को बढ़ाकर 1 प्रतिशत के स्तर तक पहुंचाने के लिए गैर परम्परागत क्षेत्रों पर अधिक ध्यान दिया गया है। इस दस्ति से सॉफ्टवेयर, मनोरंजन, स्वास्थ्य व पर्यटन जैसे सनराइज सेवा क्षेत्रों के निर्यात सम्बद्धन पर फोकस इसमें किया गया है। 2002-07 की निर्यात नीति में निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए विकास के इंजनों (Engines of Growth) की पहचान कर उन्हें शक्ति प्रदान करने के प्रयास नई नीति में किए गए हैं। विकास के इंजनों के रूप में जिन क्षेत्रों की पहचान नीति में की गई है। उनमें सेवा क्षेत्र के निर्यात, विशेष आर्थिक क्षेत्र (Special Economic Zones-SEZs) तथा कृषि व सम्बन्धित उत्पादों के निर्यात शामिल है। इन क्षेत्रों के निर्यातकों की ड्यूटी की आयात की विशेष सुविधाएं प्रदान की गई है। सेवा क्षेत्र के निर्यातकों को विगत तीन वर्षों के औसत विदेशी मुद्रा अर्जन के 10 प्रतिशत तक कंज्यूमेबल्स व कार्यालय उपरकणों के ड्यूटी फ्री आयात की अनुमति प्रदान की गई है। कृषि क्षेत्र के निर्यात का बढ़ावा देने के लिए निगम क्षेत्र के निर्यात को बढ़ावा देने के लिए निगम क्षेत्र इस निर्यात को प्रवर्तित (Sponsor) कर सकेगा।

विश्व व्यापार संगठन (WTO) के प्रति प्रतिबद्धताओं को पूरा करने की दस्ति से 2003-04 की एकिजम नीति में 69 अन्य उत्पादों के आयात पर ये परिमाणात्मक प्रतिबन्ध (Quantitative Restrictions-QRs) हटा लिए गए हैं, जबकि निर्यात के लिए 5 उत्पादों पर से ये प्रतिबन्ध हटाए गए हैं। जिन उत्पादों के आयात पर से परिमाणात्मक प्रतिबन्ध हटाए गए हैं, उनमें पशु (Animal Products), सब्जियां (Vegetables), मसाले, एंटीबायोटिक्स व फिल्म शामिल हैं, जिन उत्पादों के निर्यात पर से मात्रात्मक प्रतिबन्ध हटाए गए हैं, उनमें धान (बासमती के अतिरिक्त), कॉटन, लिंटर्स, रेयर, अर्थ, सिल्क कोकून्स तथा परिवार नियोजन उपस्कर (कंडोम्स के अतिरिक्त) शामिल हैं।

निर्यातों के लिए बाजारों के विकास के उद्देश्य से इस वर्ष 'फोकस सीआईएस' कार्यक्रम नई एकिजम नीति में लांच किया गया है, जबकि पिछले वर्ष घोषित फोकस अफ्रीका कार्यक्रम के तहत राष्ट्रों की संख्या को 7 से बढ़ाकर 24 कर दिया गया है।

EPCG-योजना में संशोधन-निर्यातों को बढ़ावा देने के लिए पहले से कार्यशील 'निर्यात सम्बद्धन पूंजीगत सामान' (Export Promotion Capital Goods—EPCG) योजना को और अधिक आकर्षक बनाने की घोषणा नई एकिजम नीति 2003-04 में की गई है। पूर्व प्रावधानों के अनुसार, निर्यातकों को 5 प्रतिशत का रियायती आयात शुल्क चुकार कर पूंजीगत सामान आयात करने की सुविधा थी, किन्तु आयात मूल्य का पांच गुना निर्यात 8 वर्षों में करने की बाध्यता थी। नई नीति में संशोधन करते हुए निर्यात दायित्व को आयात के मूल्य की बजाय आयात शुल्क के रूप में बचाई गई राशि से सम्बद्ध किया गया है।

EPCG के तहत आयातक आयात शुल्क में छूट के रूप में जितना लाभ प्राप्त करेंगे उसका आठ गुना निर्यात उन्हें अब आठ वर्षों में करना होगा, उदाहरण के लिए 100 रुपए के पूंजीगत सामान का आयात करने पर पहले 500 रुपए का निर्यात आठ वर्ष में करने की आयातकों की बाध्यता थी। नए प्रावधानों के तहत 100 रुपए के इस आयात पर यदि 25 प्रतिशत आयात शुल्क अन्यथा देय है तथा EPCG के तहत केवल 5 प्रतिशत शुल्क ही आयात यदि चुकाते हैं, तो इस प्रकार से 20 रुपए का लाभ जो

उन्हें प्राप्त हुआ होगा, उसका आठ गुना अर्थात् 160 रुपए का निर्यात ही आठ वर्षों में करने की उनकी बाध्यता रहेगी।

इसके साथ-साथ एक अन्य राहत जो EPCG योजना में प्रदान की गई है वह यह है कि 100 करोड़ रुपए से अधिक का पूँजीगत आयात EPCG के तहत करने पर वांछनीय निर्यात दायित्व 8 वर्षों की बजाय 12 वर्षों में पूरा करने की छूट प्रदान की गई है।

इस प्रकार उपर्युक्त संशोधनों से ईपीसीजी योजना को अधिक आकर्षक बनाने का प्रयास नई एकिजम नीति में किया गया है।

विशेष आर्थिक क्षेत्रों को प्रोत्साहन निर्यातों को बढ़ावा देने के लिए पहले से लागू विशेष आर्थिक क्षेत्र (SEZ) योजना को भी अधिक प्रभावी बनाने के प्रयास नई नीति में किए गए हैं। इन क्षेत्रों में स्थापित इकाइयों द्वारा देश के किसी अन्य भागों (जिसे डोमेस्टिक टैरिफ ऐरिया-DTA कहा गया है) को की गई उत्पादों की बिक्री को 'आयात' माना जाता है। ऐसे 'आयातों' को 4 प्रतिशत के विशेष सीमा शुल्क (Special Additional Custom Duty—SACD) से मुक्त कर दिया गया है, उल्लेखनीय है कि देश में आयातित सामान पर मूल सीमा शुल्क (Basic Custom Duty) अतिरिक्त सीमा शुल्क (Additional Duty of Custom—ADC) व विशेष अतिरिक्त सीमा शुल्क (SACD) का भुगतान करना होता है, विशेष आर्थिक क्षेत्रों से किए गए आयात को विशेष अतिरिक्त सीमा शुल्क से मुक्त करने के इन क्षेत्रों में इकाइयों की स्थापना को बढ़ावा मिलेगा तथा इन्हें अधिक प्रभावशाली बनाया जा सकेगा।

ज्ञातव्य है कि चीन की तर्ज पर स्थापित विशेष आर्थिक क्षेत्रों में स्थापित इकाइयों को विदेशों से आयात के लिए कोई सीमा शुल्क नहीं चुकाना होता तथा देश के अनेक अन्य कायदे कानून भी उन पर लागू नहीं होते।

एकिजम नीति 2003-04 की प्रमुख विशेषताएं एक द स्टि में

- सेवा क्षेत्र के लिए शुल्क रहित आयात की सुविधा,
- स्वास्थ्य, मनोरंजन, पर्यटन आदि क्षेत्रों में निर्यात सम्बद्धन हेतु कदम,
- कम्पनियों को कृषिगत निर्यातों के प्रवर्तन की अनुमति,
- ईपीसीजी योजना बनाई गई अधिक आकर्षक,
- विशेष आर्थिक क्षेत्रों को बढ़ावा देने के लिए रियायतों में व द्वि,
- 10 नए निर्यात क्लस्टरों का विकास,
- 69 उत्पादों के आयात व 5 उत्पादों के निर्यात पर परिमाणात्मक प्रतिबन्धों की समाप्ति।

नई निर्यात-आयात नीति 2002-2007 मुख्य आकर्षण (New Export-Import Policy 2002-2007 Highlights)

- विश्व व्यापार में एक प्रतिशत का लक्ष्य निर्धारित।
- नई निर्यात-आयात नीति में निर्यात पर मुख्य जोर।
- निर्यात पर से सभी मात्रात्मक प्रतिबंध हटाने की घोषणा।

- हार्डवेयर क्षेत्र के लिए रियायती पैकेज की घोषणा।
- निर्यातोन्मुखी औद्योगिकी क्षेत्रों के लिए की घोषणा।
- डीईपीवी, अग्रिम लाइसेंस, ईपीसीजी और अन्य योजनाओं को बेहतर बनाकर जारी रखने की घोषणा।
- विशेष आर्थिक क्षेत्रों के लिए बड़ी रियायतों की घोषणा।
- शुल्क अर्हता पासबुक, अग्रिम लाइसेंस तथा अन्य योजनाएं और बेहतरी के साथ जारी।
- कृषि उत्पादों के निर्यात पर परिवहन सहायता।
- कुटीर उद्योग और हस्तशिल्प पर विशेष ध्यान।
- विशेष आर्थिक क्षेत्रों के लिए नए प्रोत्साहन, आयकर छूट और बैंकों को विदेशी कारोबार शाखाएं खोलने की अनुमति।
- कारोबार लागत कम करने के लिए प्रक्रिया को सरल बनाया जाना।
- आयात एवं निर्यात के लिए जीन्सों का नया वर्गीकरण।
- अफ्रीका और राष्ट्रकुल देशों में भारतीय जीन्सों का बाजार बढ़ाने के लिए नए कार्यक्रम।
- राज्यों को निर्यात विकास और बाजार पहुंच बढ़ाने के लिए दी जाने वाली सहायता में उल्लेखनीय व द्विः।
- कुटीर उद्योग क्षेत्र के निर्यात को बढ़ावा देने के लिए बाजार पहुंच प्रोत्साहन के तहत पांच करोड़ रुपये निर्धारित।
- हस्तशिल्प क्षेत्र के निर्यात पर शुल्क समाप्त।
- गैर तराशे हीरे के आयात पर सीमा शुल्क समाप्त।
- सादे आभूषणों के निर्यात पर मूल्यवर्धित मानक 7 से बढ़ाकर 10 प्रतिशत।
- दवाओं के पंजीकरण पर पंजीकरण शुल्क की 50 प्रतिशत रकम वापसी की सुविधा।
- विदेशों में स्थित भारतीय मिशनों में व्यावसायिक केन्द्रों की स्थापना।
- नए कारोबारियों को बिना जांच के बैंक गारंटी के आधार पर लाईंस प्रदान किए जाएंगे।

नई नीति में निहित बारें (Implications of New Policy)

1. आयात उदारीकरण (Import Liberalisation) करना
2. निर्यात व द्विः पूंजीगत माल (Export Promotion Capital Goods Scheme. EPCG) को बढ़ावा देना

3. शुल्क छूट योजना (Duty Drawback Scheme) लागू करना
4. निर्यातोन्मुखी इकाइयाँ/निर्यात प्रकमण क्षेत्रों की इकाइयाँ इलेक्ट्रॉनिक हार्डवेयर प्रौद्योगिकी पार्क की इकाइयां, सॉफ्टवेयर प्रौद्योगिकी पार्क की इकाइयां (STPs) आदि को बढ़ावा देना था।
5. कृषि क्षेत्र के निर्यातों को बढ़ावा देना (To Promote Agriculture Exports)।
6. हीरा, रत्न एवं आभूषणों को बढ़ावा देना (To Promote exports of diamond, gems and jewellery exports)
7. प्रक्रियाओं का सरलीकरण (Simplification of the procedures) करना